

हिन्दी-निरुक्त

(१, २, ७ अध्याय)

एक समीक्षात्मक अध्ययन

(विस्तृत भूमिका, मूल निरुक्त, स्पष्ट अनुवाद, सरल व्याख्या तथा आलोचनात्मक टिप्पणियों से समन्वित)



समीक्षक—

डा० कपिलदेव शास्त्री

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

(प्रथम अध्याय के प्रथम पाँच पाद)

डा० श्रीकान्त पाण्डेय

संस्कृत-विभाग

दिगम्बर जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

(प्रथम अध्याय का षष्ठ पाद तथा द्वितीय और सप्तम अध्याय)



साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य प्रकाशक

सुभाष बाज़ार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ–२
दूरभाष - २२७५४

मुद्रक:
दुर्गा आफसैट प्रिन्टर्स
मेरठ

संशोधित संस्करण–१९९२
मूल्य - पच्चीस रूपये [२५.००]

दो शब्द

वेद तथा निरुक्त के अध्यापन के अपने सात-आठ वर्षों में; मैं निरन्तर यह नुभव करता रहा हूँ कि हिन्दी के माध्यम से निरुक्त का अध्ययन करने वाले द्यार्थियों के लिये निरुक्त की व्याख्या के रूप में आज कोई भी बहुत उपादेय थ उपलब्ध नहीं है। दुर्ग तथा स्कन्द या उनके अनुकरण पर लिखी गयी स्कृत की टीकायें आज के विद्यार्थियों के लिये कुछ अंशों में दुरूह बन चुकी हैं ो कुछ दृष्टियों से अनुपादेय भी हैं। हिन्दी में जो अनुवाद, व्याख्यायें या ट्पणियाँ उपलब्ध हैं उनमें अनेक दुर्ग तथा स्कन्द की व्याख्याओं के ही क्षिप्त रूप हैं, कुछ किन्हीं विशेष दृष्टिकोण से प्रभावित एवं पक्षपातपूर्ण हैं ा कुछ स्पष्ट हिन्दी अनुवाद मात्र होकर रह गयी हैं। निरुक्त की पंक्तियों के भिप्राय को विद्यार्थी स्पष्ट रूप से समझ सकें तथा उसके विषय में पर्याप्त हापोह कर सकें इसी दृष्टि से यह समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है। ग्रन्थ के रम्भ में विस्तृत भूमिका में निरुक्त तथा उसके प्रणेता यास्क से सम्बद्ध नेक महत्वपूर्ण प्रश्नों तथा विषयों पर विचार किया गया है तथा प्रचुर मग्री प्रस्तुत की गयी है। व्याख्या के बीच-बीच में टिप्पणियों के द्वारा कुछ सङ्गिक समस्याओं तथा आलोच्य विषयों की ओर भी विद्यार्थियों का ध्यान कृष्ट किया गया है जिनसे विद्वद्वर्ग भी लाभान्वित हो सकता है। इस पद्धति सम्पूर्ण निरुक्त की आलोचना तथा समीक्षा की महती आवश्यकता है। मेरी भिलाषा है कि इस कार्य को बड़ी विद्वत्ता और परिश्रम के साथ पूरा किया ाय। पर कठिनाई प्रकाशकों की है। एकमात्र व्यापारिक दृष्टिकोण से वश हिन्दी, संस्कृत का प्रकाशक वर्ग केवल उन्हीं अंशों को प्रकाशित करना हता है जो परीक्षाओं में निर्धारित हैं। इस कारण अभी इतना ही अंश काशित हो रहा है।

इस समीक्षा को लिखने में मेरे मित्र डॉ० श्रीनिवास जी शास्त्री से पर्याप्त रणा मिली है तथा श्री रतिराम जी शास्त्री ने इसके प्रकाशन में विशेष रुचि ी है। प्रकाशन की शीघ्रता तथा अपनी व्यस्तता के कारण पुस्तक के कुछ ठों के प्रूफ मैं नहीं देख सका हूँ इसलिये अनेक स्थानों पर प्रूफ की कुछ यंकर अशुद्धियाँ हो गयी हैं।

फिर भी मुझे पूरा विश्वास है कि निरुक्त के विद्यार्थी तथा अध्यापक दोनों स समीक्षा से अधिक लाभान्वित होंगे।

१-८-६६ —कपिलदेव

प्रस्तुत संस्करण के सम्बन्ध में

'निरुक्त' के प्रथम, द्वितीय और सप्तम अध्यायों का यह प्रस्तुत संस्करण नई विशेषताओं के साथ पाठकों के सम्मुख आ रहा है। विशेषताएँ निम्न

(१) भूमिका और प्रथम अध्याय के प्रथम तीन पादों के व्याख्या भा मुद्रणादि जन्य अशुद्धियों को दूर कर दिया गया है।

(२) प्रथम अध्याय के शेष भाग तथा द्वितीय और सप्तम अध्याय व्याख्या का पुनर्लेखन हुआ है। इसमें निम्न बातों पर अधिक ध्यान गया है--

(क) 'निरुक्त' के मूल भाग का शुद्ध हिन्दी अनुवाद, जिसमें वाक्यपू लिये कहीं-कहीं कुछ शब्द (प्राय: कोष्ठक में) अपनी ओर से भी दिए ग कहीं-कहीं अनुवाद कोरा शाब्दिक न होकर भावाधारित है।

(ख) 'निघण्टु' के मूल भाग को आवश्यकतानुसार टिप्पणी या व्याख्य नीचे दिखा दिया गया है।

(ग) द्वितीय और सप्तम अध्यायों का विभाजन केवल खण्डों में किय है, जैसा कि डॉ० लक्ष्मणस्वरूप के संस्करण में प्राप्त होता है।

(घ) 'व्याख्या' में कठिन वाक्यों के सरलार्थ के साथ-साथ अन्य विशे को भी सम्मिलित किया गया है। कहीं-कहीं केवल निर्वचन भी व्याख्या रूप में है।

(ङ) 'निरुक्त' में संकेतित प्राय: सभी निर्वचनों को पूर्णतया स्पष्ट दिया गया है, ताकि छात्रों को तद्विषयक कोई कठिनाई न हो।

(च) 'निर्वचन' में अनुबन्ध रहित धातुओं और प्रत्ययों को ही गया है। कहीं-कहीं भ्रान्ति-निरासार्थ उनके सानुबन्ध रूपों को भी को दिखा दिया गया है।

(छ) मूल के प्रत्येक भाग के पहले अवतरणिका दे दी गई है।

इस प्रकार इस संस्करण को पूर्णतया छात्रों की आवश्यकता के अनुरूप त करने का प्रयास किया गया है। आशा है, इससे छात्रों की अधिकांश नाइयों का समाधान हो सकेगा।

इस संस्करण की प्रस्तुति में जिन ख्यातनामा 'निरुक्त' के आधुनिक याकारों की व्याख्याओं और चिन्तन से लाभ उठाया गया है, उन पण्डित शिवनारायण जी शास्त्री ('निरुक्त' १, २, ७), पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार (निरुक्तभाष्य), स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक (निरुक्तसम्मर्शः) डॉ० लक्ष्मणस्वरूप (निघण्टु तथा निरुक्त) (हिन्दी अनुवाद) के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। पण्डित शिवनारायण जी के विचारों लक अनुवाद और व्याख्या दोनों में प्रायः मिल सकती है—इसके लिए मैं भूयोभूयः कृतज्ञ हूँ।

—श्रीकान्त पाण्डेय

विषय-सूची

प्रथमोऽध्यायः

प्रथम पाद १-३२

द्वितीय पाद ३३-५६

तृतीय पाद ५८-६९

भूमिका

वेद और वेदाङ्ग

भारतीय परम्परा मंत्र और ब्राह्मण (ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद्) दोनों वेदाङ्ग मानती रही है। द्र०—

१—'मंत्रब्राह्मणयोर् वेदनामधेयम्' (कात्यायन-सर्वानुक्रमणी)
२—'मंत्रब्राह्मणात्मको वेदराशिः' (आपस्तम्ब परिशिष्ट १/३३)
३—'मंत्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते' (बौधायनगृह्यसूत्र)

ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन चार संहिताओं में भिन्न-भिन्न ऋषियों के प्रवचन-भेद से कुछ भिन्नता आ जाने के कारण कुछ समय पश्चात्, इनकी अनेक शाखायें बन गयीं। पतञ्जलि ने ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१; सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ६ शाखाओं का उल्लेख किया है। द्र०—एकशतम् अध्वर्युशाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधा अथर्वणः (नवाह्निक, गुरुप्रसाद संस्करण, पृ० ६२)। बाद में इन संहिताओं तथा शाखाओं से सम्बद्ध अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना हुई। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विविध अर्थवादों के द्वारा यज्ञ सम्बन्धी विधियाँ, कहीं-कहीं मंत्रों के संक्षिप्त संकेतात्मक अर्थ तथा शब्दों के निर्वचन इत्यादि बताये गये। 'ब्रह्मन्' शब्द का अर्थ है, मंत्रात्मक वेद। उससे सम्बद्ध होने के कारण इन ग्रन्थों को ब्राह्मण कहा गया। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ-यागों आदि अथवा कर्मकाण्ड की प्रधानता है। आरण्यक ग्रन्थों में ऋषियों की प्रवृत्ति उपासना की ओर अधिक हुई। सम्भवतः अरण्य में रचित होने या पढ़े जाने के कारण इन्हें आरण्यक कहा गया। द्र०—'अरण्य एव पाठ्यत्वाद आरण्यकम् इतीर्यते'। (सायण—ऐतरेयारण्यक का प्राक्कथन) उपनिषदों में कर्मकाण्ड तथा उपासना दोनों की अपेक्षा ऋषि परमतत्त्व के चिन्तन में अधिक प्रवृत्त दिखाई दिये। इसीलिये उपनिषदों को 'ज्ञानकाण्ड' कहा गया है जबकि आरण्यकों को 'उपासनाकाण्ड' तथा ब्राह्मणों को 'कर्मकाण्ड'।

वेदों के अध्ययन को सरल तथा सुगम बनाने के लिये छः वेदाङ्गों का

प्रणयन हुआ। बहुत-सी उन विद्याओं अथवा विषयों का, जिनके सूक्ष्म संकेत इन ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में विद्यमान थे, व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन करके वेदाङ्ग के रूप में छः प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई। यास्क का यह कहना है की जब केवल उपदेश या प्रवचन से काम चलना कठिन हो गया तो विद्यार्थियों की विशेष सुविधा की दृष्टि से वेदाङ्गों का समाम्नान किया गया। द्र०—उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर् वेदं च वेदाङ्गानि च' (निरुक्त, १/२०) यहाँ सायण का निम्न कथन भी द्रष्टव्य है—'अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थम् अवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि' (ऋग्वेदभाष्यभूमिका, चौखम्बा संस्करण, १९५८, पृ० ४६)।

छः वेदाङ्गों का नाम है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिष्। शिक्षा-ग्रन्थों में उदात्त, स्वरित आदि स्वरों तथा वर्णों के उच्चारण के नियम बताये गये है। इन शिक्षा-ग्रन्थों की एक लम्बी परम्परा रही है। आजकल भी पाणिनी, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा रचित अनेक शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कल्प-ग्रन्थों में कर्मकाण्ड सम्बन्धी विविध विधि-विधानों की व्यवस्था वर्णित है। ये ग्रन्थ प्रायः सूत्रबद्ध हैं तथा तीन प्रकार के हैं—श्रौत, गृह्य तथा धर्म। श्रौत सूत्र में श्रुति विहित दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों आदि तथा यागों का वर्णन मिलता है। गृह्यसूत्रों में गृह्य अग्नि में किये जाने वाले यज्ञों तथा कुछ विवाह आदि, संस्कारों का वर्णन किया गया है तथा धर्म सूत्रों में चारों वर्णों और आश्रमों के विविध कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। व्याकरण के ग्रन्थों में, शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना करके शब्दों को व्याकृत—संसिद्ध अथवा निष्पन्न—किया गया है। वैदिक-व्याकरण-प्रातिशाख्य आदि—में वैदिक शब्दों तथा संस्कृत-व्याकरण में लौकिक संस्कृत के शब्दों के विषय में विचार किया गया। व्याकरण के ग्रन्थों में लौकिक संस्कृत के आचार्यों की एक बड़ी लम्बी परम्परा रही (द्र०—संस्कृत व्याकरण का इतिहास, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, द्वितीय संस्करण पृ० ५४–१७३)। आजकल पाणिनि तथा उनके बाद में होने वाले चन्द्रगोमिन्, जैनेन्द्र आदि आचार्यों के व्याकरण उपलब्ध हैं। परन्तु वेदाङ्गता और सर्वाधिक महत्ता कथंचित् पाणिनीय व्याकरण को ही प्राप्त है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण भी मुख्यतः लौकिक संस्कृत के शब्दों की दृष्टि से रचा गया है परन्तु वैदिक शब्दों की साधुता आदि की दृष्टि से भी उसकी पर्याप्त महत्ता है। इसलिए पतञ्जलि ने

पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से किये गये 'केषां शब्दानाम्' ? इस प्रश्न के उत्तर में 'लौकिकानां वैदिकानांच' (नवाह्निक, पृ० ६) कहा है।

व्याकरण के समान निरुक्त-ग्रन्थों की भी एक लम्बी परम्परा रही है जिस के पर्याप्त प्रमाण आज अन्वेषकों को उपलब्ध हो चुके हैं तथा सम्प्रति उपलब्ध यास्कीय निरुक्त में उद्धृत अनेक नैरुक्त आचार्यों के मतों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इन निरुक्त-ग्रन्थों में प्रधानतः वैदिक तथा प्रसङ्गतः लौकिक दोनों प्रकार के दुरूह अथवा रूढ़िभूत शब्दों का निर्वचन किया गया था।

ये नैरुक्त आचार्य पहले निर्वाच्य शब्दों के संग्रह के रूप में अपनी दृष्टि से एक प्रकार के शब्दकोष (निघण्टु) का संग्रह करते थे और फिर उसकी व्याख्या के रूप में निरुक्त-ग्रन्थ का प्रणयन करते थे। निरुक्त-ग्रन्थों में शब्दों में निर्वचन के साथ उदाहरण के रूप में मन्त्रों को उद्धृत कर संक्षेप में उनका व्याख्या भी सम्भवतः की जाती रही। सायण ने निघण्टु तथा निरुक्त दोनों को निरुक्त मानते हुये 'निरुक्त' शब्द की व्युत्पत्तियाँ दी हैं। पहली व्युत्पत्ति है—'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्' तथा दूसरी है—'एकैकस्य पदस्य सम्भावित अवयवार्था यत्र निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम्' (ऋग्वेदभाष्य-भूमिका–पृ० ५५, ५६) इसके अतिरिक्त यथावसर पदपाठ तथा मन्त्रों के देवता आदि के निर्णय के विषय में भी विचार किया जाता रहा है। आजकल के निघण्टु को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहले के निघण्टु ग्रन्थों में भी तीन काण्ड नैघण्टुक, नैगम तथा दैवतकाण्ड होते रहे होंगे। प्रथम काण्ड में पर्यायवाचक नाम शब्दों तथा क्रियापदों का, दूसरे में अनेकार्थक अथवा दुरूढ़ शब्दों का तथा तीसरे में देवता वाचक नामों का संग्रह किया जाता रहा तथा उसके अनुसार ही निरुक्त को भी तीन काण्डों में विभाजित करके इन शब्दों की नैरुक्त सम्प्रदाय की दृष्टि से व्याख्या की जाती रही।

वेदों की व्याख्या की दृष्टि से नैरुक्तों का अपना एक अलग सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुका था। ये नैरुक्त आचार्य वैदिक मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या के पक्षपाती थे जिसमें इन्द्र, वरुण इत्यादि सभी देव प्रकृति के अधिष्ठानभूत देवता के रूप में ही अभीष्ट थे। तथा तीन लोकों की दृष्टि से प्रधानभूत अग्नि, इन्द्र या वायु तथा सूर्य इन तीन देवताओं में ही सभी अन्य देवताओं का

अन्तर्भाव माना गया था। 'याज्ञिक, ऐतिहासिक, तथा अध्यात्मविद् आचार्यों ने जहाँ अपने-अपने दृष्टिकोण से मन्त्रों में विविध अभिप्राय का दर्शन किया तथा उनका प्रवचन किया उसी प्रकार, परन्तु उससे भिन्न शैली अपनाकर, इन नैरुक्त आचार्यों ने मन्त्रों की अपनी दृष्टि से एक दूसरी ही व्याख्या प्रस्तुत की थी।

इस प्रकार मूलतः इन निरुक्त-ग्रन्थों का जन्म वैदिक शब्दों के निर्वचन की दृष्टि से ही हुआ था परन्तु प्रसंगतः इनमें कुछ लौकिक शब्दों का निर्वचन भी किया जाता रहा होगा जैसे कि यास्कीय निरुक्त में किये गये अनेक लौकिक शब्दों के निर्वचनों तथा प्राचीन नैरुक आचार्यों द्वारा किये गये लौकिक शब्द सम्बन्धी निर्वचन के उद्धरणों से स्पष्ट है। उदाहरण के लिये द्रष्टव्य—अक्षि चष्टेः अनक्तेर् इत्याग्रायणः कर्णः कृन्ततेः। ऋच्छतेर् इत्याग्रायणः'। (निरुक्त १/९)।

छन्दःशास्त्र के ग्रन्थों में छन्दों के विषय में विवेचन किया गया था। जिन ग्रन्थों का प्रमुख रूप से, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि वैदिक छन्दों से सम्बन्ध था उन्हें वेदाङ्ग की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया गया। मन्त्रों के 'ऋषि', 'देवता' आदि के साथ 'छन्द' का ज्ञान भी वेदाध्यायी के लिये परमावश्यक माना गया था। इस दृष्टि से निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगम् एव च।
योऽध्यापयेज् जपेद वाऽपि पापीयाज् जायते तु सः॥ बृहद्देवता ८/१३६॥

वस्तुतः उदात्त आदि स्वरों के समान छन्दों का भी मन्त्रों के अर्थ से सम्बन्ध माना जाता रहा। इसी कारण मीमांसा दर्शन (२/१/३५) के 'तेषाम् ऋक् यत्र अर्थवशेन पादव्यवस्था' इस सूत्र में उन मन्त्रों को 'ऋक्' माना गया जिनमें 'पाद की व्यवस्था अर्थ के अनुरोध से की गई थी। छन्दों से सम्बद्ध ग्रन्थों की भी अपनी एक परम्परा रही है। सम्प्रति पिंगल का 'छन्दःशास्त्र' ही पर्याप्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें वैदिक छन्दों के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। परन्तु पिंगल के इस ग्रन्थ से पूर्व भी अनेक छन्द विषयक ग्रन्थ रचे गये थे जिनका संकेत पाणिनीय गणपाठ के ऋगयनादिगण में पठित 'छन्दोविचिति' 'छन्दोमान', 'छन्दोभाषा' आदि छन्दःशास्त्र के पर्यायभूत शब्दों में मिल सकता है।

इसी प्रकार ज्योतिष् के ग्रन्थों में यज्ञ आदि की दृष्टि ऋतु, मास, नक्षत्र

वर्ष आदि के ज्ञान का उपाय बताया गया था। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ ही आजकल इस शास्त्र के प्रतिनिधि के रूप में विद्यमान है, जिसका सम्बन्ध सम्भवत: ऋग्वेद तथा यजुर्वेद से है। यह ग्रन्थ श्लोक-बद्ध है। ऐसे ही ग्रन्थों के आधार पर बाद में अनेक ज्योतिषशास्त्र विषयक उत्कृष्ट, 'सूर्यसिद्धान्त' इत्यादि ग्रन्थों की रचना हो सकी।

वेदाङ्गों में निरुक्त का स्थान

निरुक्त शास्त्र की महत्ता बताते हुए स्वयं यास्क ने यह स्पष्ट कहा है कि निरुक्त के अध्ययन के बिना, मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। द्र०—'अथापि इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते' (निरुक्त १/१७)। निरुक्त के द्वारा मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान अथवा मन्त्रों के अर्थ करने की पद्धति का ज्ञान तो होता ही है साथ ही अनेक वैदिक और लौकिक दुरूढ़ शब्दों के निर्वचन करने का ढग भी ज्ञात होता है। इसलिये निरुक्त को व्याकरणशास्त्र की परिपूर्णता मानी गयी—'व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' (निरुक्त १/१५)। इसके अतिरिक्त वेदों के 'पदपाठ' और 'देवता' आदि के ज्ञान के विषय में निरुक्त पर्याप्त सहायक ग्रन्थ है। इसलिये वेदाध्ययन की दृष्टि से व्याकरण के समान अथवा उससे कहीं अधिक निरुक्त का महत्व माना जाता रहा है।

निरुक्त का मूल वेद और ब्राह्मण

जिस प्रकार शिक्षा, व्याकरण आदि विषयों के मूल संकेत वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलते हैं, उसी प्रकार निरुक्त शास्त्र के भी मूल संकेत वेदों और ब्राह्मणों में पर्याप्त रूप से मिलते हैं। कुमारिल भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' (१/३/२४) में षडङ्ग' शब्द के विषय में विस्तार से विचार करते हुए कुछ विद्वानों के इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है कि वेद के लिये 'षडङ्ग' शब्द का प्रयोग अनुचित है, क्योंकि इस शब्द से व्याकरण, निरुक्त आदि से उन विषयों का बोध होता है जिनका प्रतिनिधित्व पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा यास्क के निरुक्त ग्रन्थ आदि करते हैं। इसलिये ये मानव-निर्मित पुस्तकें अपौरुषेय वेदों का अङ्ग भला कैसे बन सकती हैं? इस कारण यह मानना चाहिये कि इन छः शास्त्रों में जिन विषयों का उल्लेख या विवेचन अभीष्ट होता है वह सब कुछ मूल रूप में वेदों (मन्त्र और ब्राह्मणों) में विद्यमान है। जब यह कहा जाता है कि 'ब्राह्मणेन

षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' अथवा ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयोऽध्यापयितव्यश्च' तब 'षडङ्ग' शब्द का अर्थ पाणिनि तथा यास्क आदि द्वारा रचित अष्टाध्यायी आदि पुस्तकें न होकर वेद आदि में विद्यमान ये विभिन्न विद्यायें ही अभिप्रेत होती हैं। द्र०—

वेदे व्याकरणादीनि सन्त्येवाभ्यन्तराणि षट्।
भवेद् वा तद् अभिप्राया षडङ्गाध्ययनस्मृतिः।।

'तद् वध्नो दघित्वम् इत्येवम् आदीनि हि वैदिकार्थवादान्तर्गतान्येव हि निरुक्त व्याकरणादीनि। तैः सह विधाय को वेदोऽवगन्तव्य इति स्मृत्यर्थो भवेत्।

तन्त्रवार्तिक के इस स्थल से यह स्पष्ट है कि विद्वानों का एक वर्ग ऐसा था जो यह जानता था कि ब्राह्मण आदि ग्रन्थ में निरुक्त आदि शास्त्रों के मूल संकेत विद्यमान हैं। निरुक्त के अध्येता अच्छी तरह जानते हैं कि यास्क ने पर्याप्त स्थलों पर निर्वचनों की पुष्टि में ब्राह्मण-ग्रन्थों के वाक्यों को 'इति ह विज्ञायते' कहकर उद्धृत किया है। जैसे 'वृत्र' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क ने कहा—'वृत्रो वृणोतेर् वा, वर्ततेर् वा' अर्थात् 'वृत्र' शब्द 'वृ' वृत् अथवा 'वृध्' धातु से बनेगा। इसके बाद इसकी पुष्टि में यास्क ने ब्राह्मण-ग्रन्थ से निम्न तीन वाक्यों को उद्धृत किया—

१—यद् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्।
२—यद् अवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्।
३—यद् अवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्।। (निरुक्त २/१७)

इन वाक्यों का मूल स्थान यद्यपि अब तक नहीं माना जा सका है परन्तु तैत्तिरीय संहिता (१/११/१२/२) के यद् इमान् लोकान् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इस वाक्य में यास्क की प्रथम व्युत्पत्ति का मूल ढूंढा जा सकता है। इसी तरह 'जातवेदस्' शब्द की व्युत्पत्ति करने के पश्चात् यास्क ने मैत्रायणी संहिता (१/८/२) के यत् तज् जातः पशून् अविदन्त तज् जातवेदसः जातवेदस्त्वम् इस वाक्य को, उद्धृत किया है। निरुक्त (७/१९) यास्क द्वारा उद्धृत अनेक ब्राह्मण-वाक्य आज अनुपलब्धमूलक बने हुये हैं। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि ब्राह्मणों और संहिताओं में अनेक शब्दों के महत्वपूर्ण निर्वचन मिलते हैं जिससे वैदिक शब्दों का रहस्यभूत अर्थ बहुत कुछ अनावृत हो सकता है। यही

नहीं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों में मन्त्रकारों ने अनेक शब्दों की निरुक्तियों के विषय में विविध सूक्ष्म संकेत दिये हैं। उदाहरण के लिये निम्न मन्त्रांश उद्धृत हैं—

१—'मायु'—शब्द येन गोर् अभीवृता मिमातिमायुम्०।
(ऋग्वेद १/१६४/२६)

२—'यज्ञ' शब्द—यज्ञेन यज्ञम् अजयन्त देवाः०। (ऋग्वेद, १/१६४/५)

तुलना करो—यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्म। (निरुक्त ३/२६)

३—'अश्विनौ'—अश्नन्तौ अश्विनौ। (ऋग्वेद ८/५/३१)

तुलना करो—यद् व्यश्नुवाते सर्वम्। (निरुक्त, १२/१)

४—'वात'—वात आवातु भेषजम्। (ऋग्वेद, १६/१८६/१)

तुलना करो—वातो वातीति सतः। (निरुक्त १०/३४)

५—'केतपूः'—केत नः पुनातु। (यजुर्वेद, ११/४)

६—'प्रजा'—सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् (यजुर्वेद, ./१८)

७—'पृथिवी'—व्यचस्वती प्रथस्वती प्रथस्व पृथिव्यसि। (यजुर्वेद, १३/७)

तुलना करो—पृथनात् पृथिवीत्याहुः। (निरुक्त १/१०)

८—'पवित्र'—येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
(सामवेद, उत्तरार्चिक ५/२/८५)

६—'तीर्थ'—तीर्थैस्तरन्ति। (अथर्ववेद, १८/४/७)

१०—'परिभू'—परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः। (अथर्ववेद, ६/१०/१७)

सत्य तो यह है कि विशाल वैदिक वाङ्मय में, जिसका बहुत कुछ भाग आज अनुपलब्ध है, विकीर्ण निर्वचनों, व्युत्पत्तियों तथा प्रकृति प्रत्यय आदि विषयक सूक्ष्म संकेतों के आधार पर ही यास्क एवं उनसे प्राचीन नैरुक्त शाकपूणि, आग्रायण इत्यादि ने अपने-अपने निरुक्त-ग्रन्थों का प्रणयन किया था।

यास्क से प्राचीन नैरुक्त

सम्प्रति दुर्भाग्यवश केवल यास्क का ही निरुक्त उपलब्ध है, परन्तु यास्क से पूर्व अनेक नैरुक्त आचार्य हो चुके थे—इस तथ्य की पुष्टि स्वयं इस निरुक्त से ही हो जाती है जिसमें अनेक आचार्यों के मत उद्धृत हैं। निरुक्त के समान ही बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में भी अनेक प्राचीन नैरुक्तों के उदाहरण मिलते हैं।

आग्रायण के द्वारा किये गये 'अक्षि', 'कर्ण', 'नासत्य' तथा 'इन्द्र' शब्द के

निर्वचनों को, औपमन्यव के द्वारा किये गये 'निघण्टु', 'दण्ड', 'पुरुष', 'ऋषि', 'पंजयन', 'कुत्स', 'यज्ञ', 'शिपविष्ट', 'काण', 'विकट' तथा 'इन्द्र' शब्दों के निर्वचनों को, और्णवाभ के द्वारा किये गये 'ऊर्ण्य', 'नासत्यौ', 'होता', 'अश्विनौ' शब्दों के निर्वचनों को तथा तैटिकि के द्वारा किये गये 'शिताम, तथा 'बीरिट' शब्दों के निर्वचनों को यास्क ने निरुक्त में उद्धृत किया है। ये निर्वचन इस बात के प्रमाण है कि इन विद्वानों ने अपने-अपने निरुक्त ग्रन्थों की रचना तथा उसके व्याख्येय कोश के रूप में निघण्टु का संग्रह किया था।

गार्ग्य को स्वयं यास्क ने 'नैरुक्त' कहा है। द्र०—न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। यदि गार्ग्य नैरुक्त न होकर वैयाकरण होता तो उसका अलग से नाम लेने की आवश्यकता न होती। बृहद्देवताकार ने यास्क, गार्ग्य तथा रथीतर (शाकपूणि) इन तीनों आचार्यों का नाम एक साथ नैरुक्तों के प्रसंग में लिया है। द्र०—चतुर्ध्व इति तत्राहुर् यास्क-गार्ग्यरथीतराः (१/२६)। बृहद्देवता की इस पंक्ति से भी गार्ग्य का नैरुक्त होना सुस्पष्ट है।

इसी प्रकार 'अग्नि' तथा 'वायु' शब्दों के निर्वचनों में स्थौलाष्ठीवि को, 'शिताम्' शब्द के निर्वचनों में गालव को तथा 'विधवा' शब्द की व्युत्पत्ति में चर्मशिरा को यास्क ने याद किया है। 'मृत्यु' शब्द के निर्वचन के प्रसङ्ग में यास्क ने शतवलाक्ष मौद्गल्य का मत उद्धृत किया है। बृहद्देवताकार ने दो बार (६/४६; ८/६० में) इस आचार्य को उद्धृत किया है।

शाकटायन विषयक अनेक उद्धरण निरुक्त तथा बृहद्देवता में मिलते हैं जिससे उसके नैरुक्त होने का ज्ञान होता है। पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः, (निरुक्त, १/१३) से स्पष्ट है कि उसने शब्दों का निर्वचन किया था। अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य में प्राप्त शाकटायन के उद्धरणों से उसके वैयाकरण होने की भी पुष्टि होती है साथ ही 'नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च' इस वाक्य से यह अनुमान होता है कि नैरुक्त सम्प्रदाय की अपेक्षा सम्भवतः यह आचार्य व्याकरण सम्प्रदाय में अधिक प्रतिष्ठित था।

परन्तु इन सब आचार्यों की अपेक्षा यास्क तथा बृहद्देवताकार ने शाकपूणि के मतों का उल्लेख किया है। शाकपूणि को बृहद्देवता में रथितर नाम से उद्धृत किया गया है। पुराणों में स्पष्ट रूप से शाकपूणि को निरुक्तकार

हा गया है। (द्र०—वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २; ० १७१) । यास्क ने निरुक्त में—'तडित', 'महान्', 'ऋत्विक्', 'शिताम्', प्सराः' 'अग्नि', 'मेधा', 'द्रविणोदाः', 'इदम्', 'तनूनपात्' 'नराशंसः', 'द्वारः', ष्टा', 'वनस्पतिः', अक्षरम्, इन शब्दों के निर्वचन के प्रसंग में तो शाकपूणि नाम लिया ही है साथ ही इनसे अन्यत्र भी दो चार बार मन्त्रों के अर्थ रने के प्रसङ्ग में शाकपूणि का नाम लिया है। उद्धरणों से यह स्पष्ट जता है कि शाकपूणि ने अपने प्रख्यात निरुक्त ग्रन्थ का प्रणयन किया तथा चूंकी निरुक्त बनाने से पूर्व उसके व्याख्येय वैदिक शब्दों के संग्रह के में निघण्टु की रचना करना एक अनिवार्य आवश्यकता थी इसलिए मवतः अपनी दृष्टि से एक निघण्टु का भी सम्मान किया था। विणोदः', 'तनूनपात' इत्यादि शब्दों के विषय में प्राप्त शाकपूणि के रणों से यह अनुमान भी होता है कि इस आचार्य ने 'अग्नि' शब्द के यों में इन शब्दों का पाठ किया था। शाकपूणि की निघण्टु रचना न्धी सम्भावना एक तथ्य का रूप धारण कर लेती है जब हम स्कन्द-मी की निरुक्त टीका देखते हैं। स्कन्द ने स्पष्ट कहा है कि शाकपूणि ने मान' शब्द के पर्यायों में 'दाश्वान्' शब्द का भी पाठ किया था। द्र०—श्वान्' इति यजमानेनामसु शाकपूणिना पठितम् (स्कन्दभाष्य, भाग १, ४६) । इसी प्रकार निरुक्त ३/१० की व्याख्या में वह कहता है—प्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश इन्वति, नक्षति आदयः। शाकपूणेर् अतिरिक्त—विव्याक विव्याच उरुव्यचाः, विव्र इति व्याप्तिकर्माणिः। इससे स्पष्ट वीनामस्य एव उपक्रम्य स्वयम् एव सर्वत्रक्रमप्रयोजनम् आह। तदुक्तं शाकपूणि ने निघण्टु में 'व्याप्ति' अर्थ वाली ये चार धातुएँ पढ़ी गयी ऋग्वेद के 'अस्यवामीय' सूत्र के एक मन्त्र (१/१६४/४०) के भाष्य में मानन्द ने यह कहा है कि शाकपूणि ने 'उदक्' शब्द को 'सुख' शब्द के र्यायों में पढ़ा था। द्र०—उदकम् इति सुखनाम इति शाकपूणिः। निरुक्त के न भाष्यकार दुर्ग ने शाकपूणि के विषय में यह लिखा है कि शाकपूणि ने निघण्टु में शब्दों के निश्चित क्रम के प्रयोजन बताये थे तथा निरुक्त-क के कथन से इस बात की पुष्टि भी की है। द्र०—शाकपूणिस्तु

पृथिवीनामस्य एव उपक्रम्य स्वयम् एव सर्वत्र क्रमप्रयोजनम् आह । तदु वार्तिककारेण—

क्रम प्रयोजनम् नाम्नां शाकपूणिमुपलक्षितम् ।

प्रकल्पयेद् अन्यद् अपि न प्रज्ञाम् अवसादयन् ॥ (दुर्गभाष्य, द्र—

यह निरुक्तवार्तिक नामक ग्रन्थ यास्कीय निरुक्त को एक प्राचीन व्या है। बृहद्देवताकार ने कई स्थलों पर शाकपूणि (रथीतर) का नाम नि विषयक प्रसंग में लिया है। इनमें से कुछ स्थल नीचे उद्धृत हैं—

(१) तत् खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते ।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद् वाऽन्यद् इह किंचन ॥
चतुर्भ्य इति तत्राहुर् यास्क गार्ग्य-रथीतराः ।
आशिषोऽयार्थ वैरुप्याद् वाचः कर्मण एव च ॥ (१/२३,

(२) शुनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने
सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः । (५

(३) इडस्पति शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः । (५/

(४) यास्कौपमन्यवौ एतान् आहुतः पच वै जनान् ।
निषाद पंचमान् वर्णान् मन्यते शाकटायनः ॥
ऋत्विजो यजमानश्च शाकपूणिस्तु मन्यते (६/६९/

श्री पं० भगवद्दत्त ने अपनी पुस्तक वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भा खण्ड २, पृ० १६६–१७०) तथा 'निरुक्त भाष्य' की भूमिका में शाकपूणि सम्ब अन्य प्रमाण तथा उनके निघण्टु में पठित अनेक शब्दों के संग्रह का स्तुत्य प्र किया है। इन सबसे यह बात स्पष्ट है कि आचार्य शाकपूणि अपने समय एक सुप्रख्यात नैरुक्त था।

इस रथीतर अथवा अपरनामा शाकपूणि का पुत्र भी निरुक्त का एक ष्ठित आचार्य था क्योंकि शाकपूणि के पुत्र का मत निरुक्त परिशिष्ट में उ है। द्र०—आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः (निरुक्त १३,११)। बृहद्देवताका रथीतर के पुत्र इस रथीतर के मत का उल्लेख निम्न श्लोक में करता है-

प्रसंगाद् इह याः सूक्ते देवताः परिकीर्तिताः ।
ता एव सूक्तभाजस्तु मेने राथीतरः स्तुतौ ॥ (५/

इन आचार्यों के अतिरिक्त क्रोष्टुकि नामक एक आचार्य भी निरुक्त में

बार उद्धृत हुआ है । द्र०—तत्र को प्रविणोदाः ? इन्द्र इति क्रौष्टुकिः ? (निरुक्त ८, २) । बृहद्देवताकार भी एक बार इस आचार्य को याद करता है । द्र—सोमप्रधानाम् एतां तु क्रौष्टुकिर मन्यते स्तुतिम् (४/१३७) कात्थक्य नामक आचाय को यास्क ने निरुक्त म 'इध्म', 'तनूनपात्', 'नराशंसः', 'द्वारः', वनस्पति', 'देवी जोष्ट्री' तथा 'देवी ऊर्जाहुती' इन शब्दों की व्याख्या में उद्धृत किया है । परन्तु कात्थक्य—अभिमत अर्थों को देखते हुए उसे नैरुक्त न मानकर याज्ञिक सम्प्रदाय का आचार्य मानना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि वह इन सभी शब्दों का यज्ञपरक अर्थ ही मानता है । बृहद्देवता में भी यह आचार्य अनेक बार उद्धृत हुआ है

यास्क का समय—संभवतः पाणिनि से पूर्व—

ऐतिहासिकों के लिये एक विचारणीय एवं विवादास्पद प्रश्न है कि यास्क का समय क्या माना जाय ? यास्क के ठीक-ठीक समय का निर्धारण करने के लिए आज के ऐतिहासिक के पास कोई भी ऐसा ठोस आधार नहीं है जिसे वह प्रस्तुत कर सके । इतना अवश्य है कि संस्कृत के महान् वैयाकरण पाणिनि का समय आज लगभग निश्चित हो चुका है । इसलिए विद्वानों ने पाणिनि की अपेक्षा यास्क की पूर्वापरता के विषय में पर्याप्त माथापच्ची की है । गोल्डस्टूकर, बोथलिंक, स्कोल्ड आदि विद्वान् पाणिनि को यास्क से पूर्व मानना चाहते हैं तथा सम्भवतः इन्हीं विद्वानों का अनुसरण करते हुए श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी अपने 'निरुक्तालोचन' नामक ग्रन्थ में पाणिनि को यास्क से पूर्व होने की बात कही है तथा उसके लिए अनेक युक्तियाँ भी दी हैं, परन्तु अब यह मत लगभग अमान्य हो चुका है तथा प्रायः सभी ऐतिहासिक यास्क को पाणिनि से प्राचीन मानते हैं । पाणिनि ने अपने सूत्र **यास्कादिभ्यो गोत्रे** (अष्टा० २/४/६३) में 'यास्क' शब्द की सिद्धि प्रस्तुत की है । यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि ने इस सूत्र में सम्प्रति उपलब्ध निरुक्त के कर्त्ता यास्क को स्मरण किया है । फिर पर्याप्त सम्भावना इसी बात की है, क्योंकि यास्क निरुक्त में व्याकरण विषयक जिस शब्दावली का प्रयोग किया है वह याद्दच्छिक न होकर वर्णनात्मक है, जब कि पाणिनि की अष्टाध्यायी के पारिभाषिक शब्द प्रायः याद्दच्छिक है । उदाहरणार्थ यास्क ने 'कारित', 'चर्करीत', 'चिकिर्षित', 'नामकरण', 'निवृत्ति स्थान', 'द्वि-प्रकृति-स्थानम्', 'दृष्टव्यय', 'कर्मोपसंग्रह',

'उपलब्ध', 'प्रादेशिक विकार', अनवगत-संस्कार', जैसे शब्दों का प्रयोग किया जो अन्वर्थक हैं तथा स्वतः व्याख्येय हैं। दूसरी ओर पाणिनि ने 'टि', 'घु', '[illegible]' इत्यादि याट्टच्छिक संज्ञाओं का प्रयोग किया है तथा उसको स्पष्ट करने के लिए संज्ञा सूत्र भी बनाये हैं। यास्क ने इस प्रकार की किसी संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है। दोनों की कृतियों में विद्यमान इस अन्तर से यास्क की पूर्वकालिकता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु यह भी देखने की बात है कि यास्क ने 'अभ्यास', 'अभ्यस्त' 'गुण', 'उपधा' जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया है तथा इन शब्दों की को[illegible] परिभाषा यास्क ने नहीं दी है, जबकि पाणिनि ने इन सबको परिभाषा के लि[illegible] सूत्र बनाकर उनसे इन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यदि यास्क [illegible] पाणिनि से प्राचीन माना जाता है तो यह बात समझ में नहीं आती कि [illegible] शब्द यास्क के समय में इतने प्रसिद्ध थे कि यास्क ने उन्हें स्पष्ट किये बिना [illegible] उनका प्रयोग किया तो फिर यास्क के बाद होने वाले पाणिनि को इन प्रसि[illegible] शब्दों के स्पष्टीकरण के लिये सूत्र बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? पर[illegible] यदि कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर यास्क को पाणिनि से प्राचीन प्रमाणि[illegible] किया जा सके तो इस प्रश्न का उत्तर सम्भावना के रूप में यह दिया जा सकता है कि यास्क के समय में ये शब्द इतने प्रसिद्ध थे कि इनके लिये लक्षण बन[illegible] की कोई आवश्यकता यास्क को नहीं प्रतीत हुई। परन्तु उनसे दो-तीन सौ [illegible] बाद होने वाले पाणिनि के समय में वे शब्द इतने अप्रचलित हो गये कि पाणि[illegible] को इनकी परिभाषा बनाना आवश्यक प्रतीत हुआ। तो भी इस प्रकार के श[illegible] बहुत थोड़े हैं। इसी प्रकार यह कहना भी उचित नहीं कि चूँकि यास्क[illegible] निरुक्त (१/७) में पाणिनि के एक सूत्र 'परः संन्निकर्षः संहिता (अष्ट[illegible] १/४/१०६) को उद्धृत किया है। इसलिए पाणिनि यास्क से प्राचीन हैं क्यो[illegible] यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त सूत्र एकमात्र पाणिनि[illegible] ही है। यह भी सम्भव है कि पाणिनि ने किसी अन्य प्राचीन आचार्य की [illegible] से इस सूत्र को अपना लिया हो। साथ ही यह भी विचारणीय है कि [illegible] पाणिनि जैसा वैयाकरण यास्क से पहले हो चुका होता तो शाकटायन आ[illegible] आचार्यों के समान यास्क ने पाणिनि जैसे प्रख्यात वैयाकरण का नाम अ[illegible] लिया होता।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने 'अपार्णम्' शब्द को प्रस्तुत करके यह कहा [illegible]

पाणिनि के व्याकरण के अनुसार इस शब्द की सिद्धि नहीं हो पाती क्योंकि पाणिनि ने यहाँ वृद्धि का विधान नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय यह शब्द प्रचलित नहीं था। वार्तिककार कात्यायन ने 'प्रार्णम्' 'वत्सतरार्णम्' तथा 'कम्बलार्णम्' शब्दों की सिद्धि के लिये एक वार्तिक बनाकर वृद्धि का विधान किया है परन्तु 'अपार्णम्' की सिद्धि के लिये वार्तिककार ने भी कोई यत्न नहीं किया। अर्थात् अपनी वार्तिक--प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानामृणे' (महाभाष्य ८/१/८८) में 'अप' उपसर्ग को स्थान नहीं दिया। दूसरी ओर यास्क ने निरुक्त (३/२) में इस शब्द का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि यास्क के समय में यह प्रयोग प्रचलित था। इसलिये पाणिनि के बाद यास्क का समय होना चाहिये।

परन्तु यहाँ भी यह विचारणीय है कि, इस प्रयोग के आधार पर पाणिनि को यास्क से पूर्व भले ही मान लिया जाय लेकिन, वार्तिककार ने जिन्हें यास्क के बाद का ही माना जा सकता है 'अपार्णम्' शब्द की सिद्धि अपने वार्तिक के द्वारा क्यों नहीं की ? इसका उत्तर श्री सामश्रमी ने यह दिया कि वार्तिककार के समय में 'अपार्णम् प्रयोग समाप्त हो चुका था। पर क्या यही उत्तर पाणिनि को यास्क से अर्वाचीन मानते हुए नहीं दिया जा सकता ? अर्थात् यह मानने में क्या कठिनाई है कि यास्क के समय में तो 'अपार्णम्' प्रयोग होता था परन्तु उसके बहुत वर्षों बाद उत्पन्न होने वाले पाणिनि के समय में सम्भवतः वह प्रयोग लुप्त हो गया—अप्रचलित हो गया। इसलिये इस शब्द की सिद्धि के लिए पाणिनि ने प्रयास नहीं किया।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर यास्क निश्चित रूप से पाणिनि से प्राचीन प्रतीत होते हैं क्योंकि निरुक्त में अनेक ऐसी धातुएँ मिलती हैं, जो पाणिनि के धातुपाठ में अनुपलब्ध हैं। जैसे यास्क के द्वारा प्रयुक्त 'अतिदही' शब्द में दानार्थक 'दह्' धातु दिखाई देती है। इसी तरह 'क्रब्', 'जू', 'भक्ष', जैसी धातुएँ भी पाणिनीय धातुपाठ में अनुपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त यास्क ने अनेक धातुओं को ऐसे अर्थों में प्रयुक्त किया है, जो पाणिनीय धातुपाठ में अभिमत नहीं हैं। उदाहरण के लिये निम्न धातुएं द्रष्टव्य हैं—

धातु	यास्क अभिमत अर्थ	पाणिनीय धातुपाठ में उपलब्ध अर्थ
कल्	गति	क्षेप
क्रण्	शब्द	आह्वान, रोदन
दक्ष	समृद्धि, उत्साह	गति, हिंसा
दघ्	स्रवण	घातन, पालन
दद्	धारण	दान
ध्वृ	हिंसा	मूर्च्छन
नभ्	गति	भक्षण
पण्	पूजा	स्तुति
विम्	भेदन	प्रेरणा
मह्	वृद्धि, दान	वृद्धि
मृज्	गति	शुद्धि
शप्	स्पर्श	आक्रोश
ह्लाद्	शीतीभाव	अव्यक्त शब्द, सुख

इसी तरह यास्क-प्रयुक्त कुछ 'तद्धित' प्रत्यय भी पाणिनि की अष्टाध्यायी में नहीं मिलते। जैसे 'अध्वर्यु' शब्द बनाने के लिये 'यु' प्रत्यय 'कक्ष्या' शब्द बनाने के लिये 'सेवन' अर्थ वाला 'या' प्रत्यय, 'उपमार्थीय' परिग्रहार्थीय 'प्रति-षेधार्थीय', 'विचिकित्सार्थीय' और 'विनिग्रहार्थीय', शब्दों को बनाने के लिए न 'ईय' प्रत्यय, तथा 'ऐकपदिक', 'भाषिक' तथा 'सांयोगिक' शब्दों की निष्पत्ति के लिये 'इक' प्रत्यय की कल्पना। यास्क के द्वारा प्रयुक्त 'पारोवर्यवित्सु तु खलु०' (निरुक्त १/१६) इस वाक्य का "पारोवर्य" शब्द भी पाणिनि की अष्टाध्यायी से सिद्ध नहीं होता। पाणिनि के अनुसार 'परोवरीण' शब्द बनेगा (द्र०—सिद्धान्तकौमुदी, ५/२/१०)। निश्चित ही यास्क ने किसी प्राचीन व्याकरण के आधार पर इस शब्द का प्रयोग किया होगा। 'आस्यदघ्न' शब्द के विषय में विचार करते हुए यास्क ने 'दघ्न' अंश को 'स्रवण' अर्थ वाली 'दघ्' धातु से बताया है तथा उसे एक स्वतन्त्र शब्द माना है परन्तु पाणिनि ने इसे सीधे प्रत्यय माना है। द्र०—'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (अष्टा० ५/२/३७)। यदि पाणिनि यास्क से प्राचीन हैं तो स्वभावतः पाणिनि के इस सूत्र का अनुसरण करते

हाँ केवल "**प्रमाणे 'दघ्न' इति प्रत्ययः**" कहकर ही यास्क आगे बढ़ जाते। पाणिनि का बहुत ही प्रसिद्ध सूत्र 'प्रत्ययः' (अष्टा० ३/१/१) है परन्तु यास्क 'प्रत्यय' के स्थान पर 'उपलब्ध' शब्द का प्रयोग करते हैं। इन प्रचुर प्रमाणों से यह सम्भावना की जा सकती है कि यास्क पाणिनि की अपेक्षा कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व हुए होंगे। चूँकि आज ऐतिहासिकों का यह निश्चित मत है कि पाणिनि लगभग पाँचवीं या चौथी शताब्दी ई० पूर्व हुए हैं। अतः यास्क का समय लगभग सात सौ ई० पूर्व माना जा सकता है।

कुछ विद्वानों ने यह भी सम्भावना की है कि यास्क 'पारस्कर' देश के रहने वाले थे, क्योंकि निरुक्त के परिशिष्ट कहे जाने वाले चौदहवें अध्याय के अन्त में कहीं-कहीं '**नामः यास्काय नमः पारस्कराय**' पाठ मिलता है। यद्यपि निरुक्त का यह अंश मौलिक नहीं माना जाता, फिर भी सम्भवतः इस परिशिष्ट के लेखक ने यास्क के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिये ऐसा लिखना आवश्यक समझा होगा। 'पारस्कर' देश का उल्लेख पाणिनीय गणपाठ के '**पारस्करादि गण**' तथा इस गण से सम्बद्ध सूत्र के महाभाष्य में मिलता है।

यास्क द्वारा निघण्टु का संकलन तथा उसकी व्याख्या के रूप में निरुक्त ग्रन्थ का प्रणयन

यास्कीय निरुक्त के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है अपितु कुछ वैदिक शब्दों के संग्रहभूत एक कोष, जिसका नाम 'समाम्नाय' अथवा निघण्टु है, की व्याख्या के रूप में लिखा गया है। सायण ने इस बात पर विचार किया है कि जब निरुक्त स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर केवल एक व्याख्या-ग्रन्थ है तो उसे वेदाङ्ग क्यों नहीं माना गया है? और इस निरुक्त के व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु को वेदाङ्ग क्यों नहीं माना गया? इस प्रश्न के उत्तर में सायण ने स्वयं ही निरुक्त—के दो लक्षण किये। पहला है—'**अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्**' अर्थात् जिसमें स्वतन्त्र पदों का संग्रह हो वह निरुक्त है। इस लक्षण के अनुसार निघण्टु भी निरुक्त बन गया। वस्तुतः निघण्टु तथा निरुक्त दो अलग-अलग ग्रन्थ नहीं हैं अपितु दोनों समुदित रूप में निरुक्तशास्त्र कहे जाते हैं। जितने भी निरुक्तकार हुए उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से वैदिक शब्दों के संग्रह के रूप में निघण्टु तथा उसके व्याख्यान के

रूप में निरुक्त-ग्रन्थ की रचना की। इस प्रसङ्ग में ऊपर शाकपूणि के नि की चर्चा की जा चुकी है। इसलिये इन दोनों ग्रन्थों को अलग-अलग रख विचार नहीं किया जाना चाहिये। केवल निघण्टु को तो 'निरुक्त' माना नही जा सकता, क्योंकि उससे शब्दों के निर्वचन आदि का ज्ञान नहीं होता। निघण्टु के बिना निरुक्त की कोई सत्ता ही सम्भव नहीं है क्योंकि वह निर्व करेगा किसका ? इसलिए दोनों की सम्मिलित रूप में ही वेदाङ्गता है।

निघण्टु

यास्कीय निरुक्त के व्याख्येय ग्रन्थ के रूप में जो निघण्टु आज मिलता वह पाँच अध्यायों में विभक्त है। उनमें से प्रथम तीन अध्याय को नैघण्टुक क कहा जाता है। इन अध्यायों में पर्यायभूत प्रातिपदिक शब्दों तथा क्रियापदों कसंग्रह है। प्रातिपदिक शब्द प्रथमा के एकवचन में तथा क्रियापद लट्ल अन्यपुरुष, एकवचन में निर्दिष्ट हैं। इन तीन अध्याय के शब्दों का निर्व निरुक्त के द्वितीय और तृतीय अध्याय में किया गया है। प्रो० राजवाड़े विचार है कि निघण्टु के इस प्रथम नैघण्टुक काण्ड में कुछ ऐसे भी शब्द मि हैं जो आज वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध हैं तथा कुछ शब्दों का जिन अर्थ यहाँ निर्देश किया गया है, उन अर्थों में वे शब्द वेद में प्रयुक्त नहीं मिल प्रो० रूकोल्ड का विचार है कि निघण्टु नाम पहले किसी प्राचीन समय में वे इन तीन अध्यायों के लिये ही प्रयुक्त हुआ होगा। इस बात की पुष्टि इन अध्यायों के सामूहिक नाम नैघण्टुक काण्ड से भी होती है, जो 'निघण्टु' शब् ही बना हुआ है। परन्तु बाद में निघण्टु नाम का प्रयोग नैगम' ' काण्डों के लिये भी होने लगा। इससे यह स्पष्ट है कि पहले तीन अ ही निघण्टु के प्राचीनतम अंश हैं (द्र०—यास्कीय निरुक्त, विष्णुपद भट्टा पृ० २४, २५)

निघण्टु के चतुर्थ अध्याय को तीन खण्डों में विभक्त करके उसमें स शब्दों का संग्रह किया गया है। इस अध्याय को नैगम या ऐकपदिक काण्ड जाता है। इसमें उन अस्पष्टार्थक शब्दों का संग्रह है जिनके प्रकृति प्रत्यय के विषय में पर्याप्त सन्देह है। इसलिये यास्क ने इनकी व्याख्या के आर अनवगतसंस्कारांश्च निगमान् कहा है। इस अध्याय की व्याख्या यास्क ने के चौथे, पाँचवे तथा छठे अध्याय में की है।

निघण्टु के पंचम अध्याय में, जो छः खण्डों में विभक्त है, भिन्न-भिन्न देवताओं के नामों का संग्रह है। इन छः खण्डों की व्याख्या निरुक्त के छः अध्यायों (७–१२) में की गयी।

शब्दों का निर्वचन करने से पूर्व निरुक्त के प्रथम अध्याय में यास्क ने पदों के चार प्रकार—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात और उनके लक्षण तथा उदाहरण दिये, सभी शब्दों को धातुज मानने का सिद्धान्त तथा मन्त्रों की अनर्थकता के सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया, निरुक्त के अध्ययन के अनेक प्रयोजन बताये और संक्षेप में निघण्टु के तीनों काण्डों के स्वरूप को स्पष्ट किया है। द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में सभी दुरूह शब्दों के निर्वचन की अनिवार्यता के विषय में विविध सिद्धान्तों की सोदाहरण चर्चा करने के उपरान्त निघण्टु के नैघण्टुक काण्ड तथा नैगम काण्ड के शब्दों का निर्वचन आरम्भ किया है।

सातवें अध्याय में देवतावाचक शब्दों का निर्वचन आरम्भ करने से पहले भी यास्क ने 'दैवत' तथा 'देवता' की परिभाषा दी, अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों के देवता-ज्ञान का उपाय बताया, आध्यात्मिक दृष्टि से एक देवतावाद, आधिदैविक दृष्टि से त्रिविधदेवतावाद तथा आधियज्ञिक दृष्टि से बहुदेवतावाद की चर्चा की तथा तीनों का बड़े संक्षेप से समन्वय करते हुए देवताओं के पुरुषविध अपुरुषविध, उभयविध अथवा कर्मात्मा होने की बात कही और नैरुक्तों के आधिदैविक पक्ष के अनुसार तीनों लोकों की दृष्टि से तीन प्रधान देवताओं अग्नि, इन्द्र और आदित्य—के सहचारियों का उल्लेख करने के पश्चात् देवतावाचक नामों के निर्वचन और उदाहरणों को प्रस्तुत किया।

इस प्रकार अपने व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु से निरुक्त के १२ अध्यायों की संगति और सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु आजकल निरुक्त में १४ अध्याय मिलते हैं।

निरुक्त का तेरहवां और चौदहवां अध्याय

आजकल निरुक्त के तेरहवें और चौदहवें अध्याय को निरुक्त के परिशिष्ट के रूप में माना जाता है। परन्तु इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ये अध्याय नवीन नहीं है। सायण अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका के अन्त में लिखता है कि निरुक्त का आरम्भ समाम्नायः समाम्नात से होकर तस्यास्ताद्भाव्यम् अनु-

भवति अनुभवति पर अन्त होता है । इससे प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में तेरहवाँ अध्याय भी निरुक्त का मौलिक अंश है, यद्यपि यह निरुक्त को बारह अध्याय वाला ही मानता है । सम्भवतः उसके समय में तेरहवाँ अध्याय भी बारहवें में ही सम्मिलित था । ताण्डय ब्राह्मण ४/८/३ के भाष्य में यास्क के नाम से सायण ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जो निरुक्त के चौहदवें अध्याय में मिलता है । यह उद्धरण है—**तथा च यास्कः शुक्रातिरेके पुमान् भवति । शोणितातिरेके स्त्री भवति । द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति ।** सायण के इस उद्धरण से यह सम्भावना की जा सकती है कि निरुक्त का चौदहवाँ अध्याय भी उसकी दृष्टि में यास्ककृत ही था । इसी प्रकार निरुक्त की स्कन्द माहेश्वर टीका (१, २०) में निरुक्त के तेरहवें अध्याय से उद्धरण दिया गया है । यह टीका भी तेरहवें अध्याय के तेरहवें खण्ड तक है । स्कन्द से पहले होने वाले भाष्यकार दुर्ग ने भी अनेक स्थानों पर तेरहवें और चौदहवें अध्याय से उद्धरण दिए हैं । अनेक स्थलों पर '**वक्ष्यति हि**' (अर्थात् यास्क कहेंगे) इन शब्दों के द्वारा उद्धरणों को दुर्ग ने प्रस्तुत किया है । इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि वह चौदहवें अध्याय के छब्बीसवें खण्ड तक यास्क की कृति मानता है । इन अध्यायों में 'अति स्तुतियाँ' वर्णित हैं । सम्भव है कि निरुक्त के प्राचीन संस्करणों में ये 'अति स्तुतियाँ' अध्याय के अन्त में ही जुड़ी रही हों, इस प्रकार की 'अति स्तुतियाँ' यास्कीय निरुक्त से पहले के निरुक्तों में भी सम्भवतः थीं । इसीलिए यास्क ने इनके लिए **अथ इमाम् अतिस्तुतय इत्याचक्षते** (१३/१) कहा है । इस वाक्य की व्याख्या करते हुए दुर्ग ने यह स्वीकार किया है कि अन्य आचार्य भी इन्हें 'अति स्तुतियाँ' कहते हैं—**अन्येऽप्याचार्याः एवम् एव एता आचक्षते कथयन्ति**' । स्कन्द माहेश्वर की टीका में भी यह स्वीकार किया गया है कि पूर्व आचार्यों के मत का अनुसरण करके ये अति स्तुतियाँ पढ़ी गई हैं । इस प्रकार यह सम्भावना है कि दोनों अध्याय भी यास्ककृत ही हैं ।

निघण्टु का कर्त्ता कौन ?

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि यास्कीय निरुक्त के व्याख्येय निघण्टु का कर्त्ता कौन है ? अर्थात् इस निघण्टु का संग्रह यास्क ने स्वयं किया अथवा उसने प्राचीन आचार्यों द्वारा किए गए संग्रह को ही अपने निरुक्त का आधार बनाया है ? इस प्रश्न को और स्पष्ट रूप से यों भी रखा जा सकता है कि क्या

निघण्टु नामक ग्रन्थ, जिसमें वैदिक शब्दों का संग्रह किया गया था, एक परम्परागत शब्दकोष था, जिसकी दृष्टि से भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने-अपने निरुक्त-ग्रन्थों की रचना की थी या प्रत्येक नैरुक्त आचार्य अपनी-अपनी दृष्टि से शब्दों का संग्रह करके निघण्टु की रचना करता था और फिर स्वयं संगृहीत उन शब्दों की व्याख्या या निर्वचन के रूप में निरुक्त का प्रणयन करता था ? निरुक्त का प्रमुख टीकाकार दुर्ग प्रथम पक्ष का अनुयायी है। निरुक्त भाष्य की भूमिका में उसने यह कहा है कि पाँच अध्याय वाले निघण्टु का संग्रह श्रुतिऋषियों ने किया। निरुक्त १,२० के भाष्य में वह फिर लिखता है— ते···इमं ग्रन्थ गवादिदेवपत्यन्तं समाम्नातवयन्तः, अर्थात् उन्हीं प्राचीन ऋषियों ने निघण्टु की रचना की। निरुक्त ४, १८ के भाष्य में वह अपनी इस धारणा के लिए हेतु देता है। उसका कहना है कि निघण्टु में पहले दावने' शब्द मिलता है उसके बाद अकूपारस्य' यह शब्द पठित है। परन्तु ऋग्वेद (५, ३९, २) में पहले अकूपारस्य' शब्द और उसके बाद 'दावने' शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि निघण्टु यास्करचित होता तो यहाँ वे उद्धृत ऋग्वेद के मन्त्र-क्रम का ध्यान रखते और निघण्टु में विपरीत क्रम न अपनाते। निरुक्त ५, १५ के भाष्य में भी उसने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि 'वाजस्पत्यम्' 'वाजगन्ध्यम्' इस क्रम में ये दोनों शब्द निघण्टु में पढ़े गये हैं। परन्तु मन्त्र में इस क्रम का विपर्यय है। स्कन्दस्वामी ने भी 'समाम्नायः समाम्नात' की व्याख्या करते हुए यह माना है कि निघण्टु का संग्रह प्राचीन आचार्यों ने किया था। जर्मन विद्वान् रॉथ ने भी निघण्टु को यास्ककृत नहीं माना है।

प्रो० कर्मकर का विचार है कि निघण्टु एक व्यक्ति की रचना नहीं है। इनका कहना है कि निघण्टु में अनेक पुनरुक्तियाँ हैं। एक ही शब्द नैघण्टुक काण्ड में भी पठित है तथा पुनः नैगम काण्ड में भी। इनके अनुसार चौथे अध्याय के द्वितीय खण्ड का निघण्टुकार पहले तीन अध्यायों के निघण्टुकार से भिन्न व्यक्ति है। क्योंकि चौथे अध्याय के द्वितीय खण्ड में कुछ ऐसे शब्द भी पठित हैं जिनका अर्थ पहले तीन अध्यायों में किया जा चुका है। जैसे—'अन्धस' शब्द द्वितीय अध्याय के सातवें खण्ड में, 'वराहः' प्रथमा अध्याय के दसवें खण्ड में, 'स्वसराणि' प्रथम अध्याय के नवें खण्ड में तथा 'शर्याः' तथा द्वितीया अध्याय के पाँचवें खण्ड में व्याख्यात हो चुके हैं फिर भी चौथे अध्याय के द्वितीय खण्ड में ये शब्द

पठित मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दों के पाठ में एक प्रकार की शैली नहीं पायी गयी है। निघण्टु के चौथे अध्याय में आठ युगल शब्दों का संग्रह है। प्रथम खण्ड में दो—'दावने अकूपारस्य' तथा 'विग्रवे द्रुपदे'; द्वितीय खण्ड में दो—'बाहिष्ठ दूतः', दूतस्य चर्षणिः', तथा तृतीय में खण्ड चार—'अनवार्य किमीदिने', 'श्रुष्टिः पुरन्धिः', 'चनः पचता' और 'सदान्वे शिरिम्बिठः' ये शब्द पठित हैं। दो-दो शब्द ऋग्वेद के मन्त्रों के साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम खण्ड में शब्दों का रूप वही है जो मन्त्र में है केवल 'दावने अकूपारस्य' में मन्त्र के क्रम से भिन्न क्रम अपनाया गया है। द्वितीय खण्ड का प्रथम युगल मन्त्र में 'बहिष्ठो दूतो' के रूप में मिलता है। जबकि निघण्टु में दोनों को अलग-अलग करके 'बाहिष्ठः' तथा 'दूतः' के रूप में पढ़ा गया। तृतीय खण्ड में अनवार्य किमीदिने तथा 'चनः पचता' उसी रूप में निघण्टु में पठित है जिस रूप में वे मन्त्र में मिलते हैं। परन्तु मन्त्र के 'पुरन्धिम्' तथा 'शिरिम्बिठस्य' को क्रमशः 'पुरन्धिः' तथा 'शिरिम्बिठः' के रूप में बदल दिया है। यदि 'दावने' अकूपारस्य' में 'अकूपारस्य' को उसी षष्ठी विभक्त्यन्त रूप में रखा गया है तो फिर यहाँ भी वही शैली क्यों नहीं अपनायी गयी ? इसी प्रकार यास्क 'तडित्' शब्द का अर्थ 'अन्तिक' मानता है परन्तु 'निघण्टु' का अनुसरण करते हुए उसने इस शब्द का 'वध' अर्थ मान लिया। (द्र०—निघण्टु २/१६ तथा २/१९ और निरुक्त ३/११) की व्याख्या अपि त्विदम् अन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्। इसके अतिरिक्त निघण्टु (२/१८) में सात 'व्याप्ति' अर्थ वाली धातुएँ पढ़ी हैं उनमें से दो शब्दों—'आक्षाणः' तथा 'आपान' को यास्क 'नाम' मानते हैं। द्र०—व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। तत्र द्वे नाम्नी आक्षाण आश्नुवानः, पानः आप्नुवानः, निरुक्त २/१)। स्पष्ट है कि यदि यास्क ने निघण्टु बनाया होता तो इन दोनों को निघण्टु में यहाँ न पढ़ा होता।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने 'निरुक्तालोचन' में महाभारत मोक्षधर्म पर्व के निम्न श्लोकों के आधार पर यह कहा है कि इस निघण्टु का प्रणेता कश्यप प्रजापति हैं क्योंकि 'वृषाकपि' शब्द इस 'निघण्टु' (५/६) में पठित है उसके लिये प्रजापति ने कहा कि मैंने इस शब्द को निघण्टु में पढ़ा है। वे श्लोक हैं—

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
निघण्टुक कपवाख्याने विद्धि मां वृषम् उत्तमम् ।।
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ।।

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने भी सामश्रमी के मत को ही दुहराया है । डॉ० लक्ष्मणसरूप का यह विचार है कि 'निघण्टु' अनेक आचार्यों के प्रयत्नों का सम्मिलित रूप है तथा एक परम्परागत शब्दकोष के रूप में प्राप्त हुआ है ।

परन्तु इन विद्वानों का यह विचार कथमपि सुसंगत नहीं है। वस्तुतः दुर्ग तथा स्कन्द ने निरुक्त की उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः इस वाक्य के 'इमं ग्रन्थम्' का अर्थ यास्कीय निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु मानकर यह भ्रान्त धारणा बना ली कि निघण्टु की रचना यास्क से पहले के ऋषियों ने की थी । तथा दुर्ग और स्कन्द की इस भ्रान्त धारणा के आधार पर रॉथ, सामश्रमी, डॉ० सरूप, डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, प्रो० कर्मकर आदि की भी यह धारणा बन गयी कि निघण्टु यास्ककृत नहीं है और अपनी धारणाओं के पोषण के लिये इन विद्वानों ने भिन्न हेतु प्रस्तुत किये । परन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ 'इमम्' का अर्थ निघण्टु व्यक्ति न होकर 'निघण्टु' जाति है । यास्क का अभिप्राय यहाँ यह कि इस प्रकार के अनेक निघण्टु ग्रन्थों का समाम्नान ऋषियों ने किया । जिस प्रकार अन्य शिक्षा कल्प आदि वेदाङ्गों का प्रणयन भिन्न-भिन्न ऋषियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से किया उसी प्रकार इस निरुक्त (निघण्टु तथा निरुक्त का सम्मिलित रूप) का भी समाम्नान अनेक ऋषियों ने किया । ऊपर यास्क प्राचीन आचार्य शाकपूणि के निघण्टु और निरुक्त दोनों के विषय में विस्तार से चर्चा की गयी है। यास्क की इस पंक्ति को यास्क के ही अन्य वाक्य तम् इमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते (निरुक्त १/१) के साथ मिलाकर यदि विचार किया जाये तो अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है । यहाँ 'निघण्टु' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग इस बात की स्पष्ट सूचना दे रहा है कि यास्क के समय में इस प्रकार के अनेक कोष थे जिन्हें 'निघण्टु' कहा जाता था । यहाँ स्वयं दुर्ग ने भी यह स्वीकार किया है कि इस निघण्टु से पहले भी अनेक निघण्टु विद्यमान थे । द्र०— तं च योऽसमाम्नातः छन्दस्येवावस्थित गवादिर् अन्यैरर्वा नैरुक्तैः समाम्नातास्तम् इमं निघण्टव

इत्याचक्षते । अन्येऽप्याचार्या इति वाक्यशेषः (दुर्गभाष्य आनन्दाश्रम संस्करण पृ० ५)। इसी प्रकार निरुक्त १/१ के सव्याख्यातव्यः इस अंश की व्याख्या करते हुये भी दुर्ग ने यह स्वीकार किया है कि यास्क ने केवल निघण्टु के ही शब्दों की व्याख्या की है अपितु अन्य आचार्यों के निघण्टु ग्रन्थों में संगृहीत कुछ शब्दों की व्याख्या भी की है। द्र०—स च योऽपवाम्नात छन्दस्येवावस्थितः गवादिर अन्यैर् वा नैरुक्तैः समाम्नातः अयं च एतस्मिन् निरुक्ते स एष उभयलक्षणोऽपि व्याख्यातव्यः' (दुर्गभाष्य, भा० १, पृ० ६)। निरुक्त ३/१३ के भाष्य में वह पुनः लिखता है—अन्ये पुन एतानि पूर्वाचार्य प्रामाण्याद आमिश्राणि पठयन्ते अर्थात् निघण्टु ३/११ में जो नाम और आख्यातों का सम्मिश्रण है—वह पूर्वाचार्यों के प्रमाण मे है ऐसा कई व्याख्याता मानते हैं

निघण्टु में शब्दों का संग्रह स्वयं यास्क ने ही अपनी दृष्टि से किया था इस तथ्य का सबसे बड़ा और अकाटच प्रमाण यह है कि यास्क ने 'निरुक्त ७/१३ में अन्य आचार्यों के निघण्टुओं से अपने निघण्टु का अन्तर बताते हुये यह कहा है कि कई नैरुक्त विशेषणों से युक्त 'इन्द्र' आदि देवतावाचक' नामों का भी संग्रह अपने निघण्टु में करते हैं 'इन्द्राय' 'वृत्रतुरे' 'इन्द्राय अहोमुचे' इत्यादि। परन्तु इस प्रकार के नामों के सग्रह से शब्दों की संख्या अधिक हो जायेगी —अथवा इस प्रकार के नामों के संग्रह के उपरान्त भी बहुत से शब्द असंग्रहीत ही रह जायेंगे। इसलिये जो प्रधान स्तुति वाले अग्नि आदि का नाम है केवल उन्हीं का मैं (अर्थात यास्क) संग्रह करता हूँ। कुछ निघण्टु के प्रणेता आचार्यों ने क्रम से सम्बद्ध देवता वाचक नामों का भी संग्रह किया है। जैसे 'वृत्रहा' पुरन्दरः' इत्यादि। द्र०—अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्राय अहोमुचे इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्रधान्यस्तुति तत्समामने। अथोत कर्मभिऋर्षिदेवताः स्तौति वृत्रहा पुरन्दर इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यास्क के इस कथन की व्याख्या में दुर्ग को भी यह कहना पड़ा—अहं तु न समामने। स्कन्द ने भी अपनी व्याख्या में यह कहा—तान्यपि गुणाभिधानानि एके नैरुक्ताः पठन्ति' अर्थात् इन गुणवाचक शब्दों का संग्रह कुछ नैरुक्त करते हैं परन्तु यास्क नहीं करते। इसलिए इस प्रमाण को देने के पश्चात् किसी और प्रमाण को देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। निरुक्त

को प्रथम पंक्ति **समाम्नायः समाम्नातः** की भी संगति इस बात में है कि निघण्टु को यास्क द्वारा ही समाम्नात माना जाय। यदि पहले से ही यह शब्दकोष विद्यमान था तब तो यह कहने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

'दावने अकूपारस्य' इन शब्दों के क्रम विपर्यय की जो बात है उसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि इन दोनों शब्दों को स्वतन्त्र मानकर निघण्टु में प्रस्तुत किया गया है। यदि ऐसी बात होती कि दोनों शब्द केवल एक मन्त्र में प्रस्तुत होते तब तो दुर्ग की बात ठीक भी होती। परन्तु 'दावने' शब्द अन्य प्रयुक्त हुआ है। इसलिये इस हेतु का कोई मूल्य नहीं है। यदि दुर्ग की बात मान भी ली जाय तो भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि जिस किसी ने भी इन शब्दों का पाठ या संग्रह किया था उसने ऐसा क्यों किया ? यह सम्भव है कि पूर्वाचार्यों के अनुकरण पर यास्क ने इन शब्दों का तथा 'वाजस्पत्यम्' 'वाजगन्ध्यम्' का मन्त्र से भिन्न क्रम मान लिया हो। ऊपर शाकपूणि के प्रसङ्ग में यह बात विस्तार से कही जा चुकी है कि शाकपूणि ने अपने निघण्टु की रचना स्वयं की थी तथा उसमें कुछ ऐसे शब्द भी पठित थे जो यास्क के निघण्टु में नहीं हैं। इसके साथ ही उसने अपने निघण्टु में पठित शब्दों के क्रम का प्रयोजन भी बताया था। सम्भव है यास्क ने इन शब्दों के क्रम को शाकपूणि के निघण्टु के आधार पर रखा हो तथा उसका कोई विशिष्ट प्रयोजन रहा हो।

प्रो० कर्मकर के हेतुओं के उत्तर में भी यह कहा जा सकता है कि वे सभी बातें जिसकी ओर से इस विद्वान् ने निर्देश किया है वे यास्क के निघण्टु में किसी प्रभाव के कारण आ गयी हैं। ऐसी स्थिति पाणिनि आदि के ग्रन्थों में भी पायी जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि यास्क ने ही अपनी दृष्टि से इस निघण्टु में शब्दों का संग्रह किया—यह दूसरी बात है कि जिस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण में अपने प्राचीन वैयाकरण आचार्यों के व्याकरण का पूरा-पूरा उपयोग किया था, उसी प्रकार यास्क का निघण्टु भी प्राचीन निघण्टुओं से प्रभावित हो।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी तथा डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का यह कहना भी उचित नहीं है कि चूँकि 'वृषाकपि' शब्द इस निघण्टु में है तथा महाभारत में यह कहा गया है कि प्रजापति कश्यप ने 'वृषाकपि' शब्द को निघण्टु में पढ़ा था इसलिये

इस निघण्टु का प्रणेता कश्यप प्रजापति है, यास्क नहीं। क्योंकि यह भी सम्भव है कश्यप प्रजापति के निघण्टु में यह शब्द पठित हो और वहाँ से परम्परया अन्य निघण्टुओं में भी संगृहीत होता रहा हो तथा उससे यास्क भी प्रभावित हुये हों।

निघण्टु को यास्क प्रणीत मानते हुए ही वेंकट माधव ने ऋग्वेद के एक मन्त्र (७/ /४/६) की व्याख्या में यह स्पष्ट लिखा है कि 'पृथिवी' के २१ नाम यास्क ने पढ़े हैं—**तस्या हि यास्क पठितानि एकविंशतिं नामानि** तथा महिम्न-स्तोत्र के सातवें श्लोक की व्याख्या में श्री मदुसूदन सरस्वती ने लिखा—**एवं निघण्टवादयोऽपि······निरुक्तान्तर्भूता एव । तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पंचाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः** अर्थात् आचार्यों के निघण्टु उनके निरुक्त के अन्तर्गत ही हैं। सम्प्रति जो निघण्टु उपलब्ध है उसके कर्त्ता भगवान् यास्क ही है। निघण्टु के निरुक्तान्तर्गत होने के कारण ही दुर्ग तथा स्कन्द के भाष्यों में निरुक्त के प्रथम अध्याय को षष्ठ अध्याय माना गया है।

ये भाष्यकार निघण्टु के पाँच अध्यायों की दृष्टि से निरुक्त प्रथम अध्याय को षष्ठ अध्याय मानते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि प्रत्येक निरुक्तकार पहले शब्दों के संग्रह के रूप में निघण्टु की रचना करके निरुक्त के रूप में उसका व्याख्यान आरम्भ करता था।

निरुक्त के दो संस्करण : लघु एवं बृहत्

इस समय जो निरुक्त उपलब्ध है उससे अनेकविध प्रक्षेप हुए हैं तथा इनके दो लघु तथा बृहत् संस्करणों की स्थिति अनुमेय है (द्र० डॉ० सरूप—निरुक्त की भूमिका)। दुर्ग तथा स्कन्द के भाष्य निरुक्त के लघु संस्करण पर ही है। बृहद्देवता में निरुक्त अथवा यास्क के नाम से ऐसे अनेक उद्धरण मिलते हैं, जो इस निरुक्त में उपलब्ध नहीं हैं। अतः इन उद्धरणों से निरुक्त के बृहत् संस्करण विषयक सम्भावना की पुष्टि होती है। उपलक्षण के रूप में कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में 'नाम' शब्दों की उत्पत्ति के विषय में विचार करते हुये यह कहा गया कि प्राचीन नैरुक्त विद्वान् तथा मधूक श्वेतकेतु और गालव नव हेतुओं से 'नाम' शब्दों की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु यास्क, गार्ग्य तथा रथीतर केवल चार हेतुओं से मानते हैं। द्र०—

तत् खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते ।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद् वाऽन्यद् इह किंचन ॥
नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणाः कवयश्च ये ।
मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्यते ॥
निवासात् कर्मणो रूपात् मंगलाद् वाच आशिषः ।
यदृच्छयोपवासनात् तथाऽमुष्यायनाच्च यत् ॥
चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्क-गार्ग्य-रथीतराः ।
आशिषोऽथार्थ वैरूप्याद वाचः कर्मण एव च ॥

आज जो निरुक्त उपलब्ध है उसमें इस प्रकार का कथन नहीं मिलता, जिसमें इन 'आशीः' प्रार्थना आदि से चार 'नाम' की उत्पत्ति की बात कही गयी हो। 'कर्म' (क्रिया) से अथवा 'धातु' से उत्पन्न होने की बात तो कही गयी हो। 'कार्मनामिकः' शब्द से भी यह संकेत मिल सकता है। परन्तु 'कर्म' को बृहद्देवता में सबसे अन्त में स्थान दिया गया है। निरुक्त ५/२, में 'कितव' शब्द का निर्वचन करते हुये उसे 'आशीर्नामकः' कहा गया है जिससे पता लगता है कि यास्क 'आशीः' को भी 'नाम' शब्दों की उत्पत्ति में एक हेतु मानते हैं। परन्तु अन्य दो के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता।

(२) बृहद्देवता में यह कहा गया—कि 'सरस्वती' शब्द का नदी के नाम के रूप में छः मन्त्रों में प्रयोग हुआ है। सातवाँ कोई मन्त्र नहीं है। ऐसा शौनक का विचार है। परन्तु यास्क 'इम शुष्मेभिः' इस मन्त्र को सरस्वती नदी विषयक सातवीं ऋचा मानते हैं। द्र०—

नदीवद् देवतावच्च तत्राचार्यस्तु शौनकः ।
नदीवन्निगमाः षट् ते सप्तमो नेत्युवाचाह ॥
'इमं शुष्मेभिर्' इत्येतम् मेघ यास्कस्तु सप्तमम् ॥ (२/१३६-३७)

परन्तु इस निरुक्त में यास्क केवल इतना ही कहते हैं नदीवद्देवतावच्च तस्या निगमा भवति; अर्थात् ऋग्वेद में 'सरस्वती' की नदी तथा देवता दोनों रूपों में स्तुति की गयी है। वहाँ कोई ऐसा स्थल नहीं मिलता जहाँ यास्क ने सात ऋचाओं का परिगणन किया हो। यास्क ने 'इमं शुष्मेभिः' (ऋग्वेद ६·६१·२) को निरुक्त (२· २४) में उद्धृत तो किया है पर सातवाँ उल्लेख है ऐसा कोई संकेत नहीं है।

(३) बृहद्देवता में यह कहा गया है कि—ऋग्वेद १/२८/१८४ में तथा उलूखल की स्तुति की गई है ऐसा यास्क तथा कात्थक्य मानते हैं। भागुरि के मत में इन मन्त्रों में केवल इन्द्र की स्तुति है। द्र०—

परांश् चतस्रो यत्रेति इन्द्रोलूखलयोः स्तुतिः।
मन्येते यास्क-कात्थक्यौ इन्द्रस्येति तु भागुरिः॥ (३/१०

परन्तु निरुक्त में इस तरह का उल्लेख नहीं मिलता। केवल (१/२८/५) को उद्धृत करके उसमें उलूखल को प्रधान देवता मान लि गया है।

(४) बृहद्देवता (४/४—५) में यह कहा गया है कि ऋग्वेद के एक म (१/१३/२/६) युत्र तम् इन्द्रापर्वता परोयुधा में यद्यपि इन्द्र तथा पर्वत दो की स्तुति की गयी है परन्तु यास्क के अनुसार इन्द्र प्रधान देव हैं। आश्चर्य कि निरुक्त में न तो कहीं भी यह मंत्र उद्धृत है और न ही इस मन्त्र के स के विषय में कहीं कोई विचार ही किया गया है।

(५) बृहद्देवता में (५/८) 'शुनासीरौ' शब्द के अर्थ के विषय में विचा करते हुए यह कहा गया है कि कुछ आचार्य 'शुन' का अर्थ 'वायु' तथा 'सी का अर्थ 'आदित्यः' करते हैं। परन्तु यास्क के अनुसार 'शुनासीर' का अर्थ 'इन्द्र'। शाकपूणि के अनुसार 'शुन' का अर्थ है 'सूर्य' तथा 'सीर' का अर्थ 'इन्द्र'। परन्तु निरुक्त (९/४०) में केवल पहला मत मिलता है। बृहद्देवताका ने जिसे यास्क का मत कहा है वह निरुक्त में नहीं मिलता।

(६) इसी तरह वररुचि के निरुक्त-समुच्चय में भी यास्क को अनेक बा भाष्यकार के नाम से याद किया गया है तथा उसके मत उद्धृत किये गये हैं प उनमें से भी कुछ इस निरुक्त में नहीं मिलते। उदाहरण के लिये—

(१) 'सूनर······पदकारेण एतत् पदं नावगृहीतम्। तथापि भाष्यका वचनात् पदकारम् अनादृत्य एतत् निरुक्तम्'॥

यह 'सूनर' शब्द तथा उसका निर्वचन निरुक्त में कहीं नहीं मिलता।

(२) 'उदकम् अपि हिरण्यम् उच्यते इति भाष्यकार वचनात्' यह स्थल ही निरुक्त में नहीं मिलता।

इस प्रकार के अनेक स्थल बृहद्देवता तथा निरुक्त-समुच्चय में मिलते जिनमें यास्क के विषय में कोई बात कही गई है परन्तु इस निरुक्त में वह बा

हीं मिलती। (द्र०—यास्कीय निरुक्त-विष्णुपद भट्टाचार्य, पृ० ४६–६०) इससे ह अनुमान किया जा सकता है कि इन लेखकों के समय में निरुक्त का कोई हृत् संस्करण विद्यमान होगा जो आज उपलब्ध नहीं है।

प्रो० राजवाड़े ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि इस निरुक्त के भा दो ाठ हैं एक गुर्जर तथा दूसरा महाराष्ट्र और दूसरे की अपेक्षा पहला प्राचीन । (द्र० भूमिका पृ० १०)

निघण्टु के भाष्यकार श्री देवराज यज्वा

यास्क के निघण्टु पर देवराज यज्वा ने निघण्टु निर्वचन नामक व्याख्या लखी है। इस व्याख्या में यह पता लगता है कि इसके पिता का नाम यज्ञेश्वर ार्य था और पितामह का देवराज यज्वा ही था। वह रगेशपुरी पर्यन्त ग्राम ा रहने वाला था।

इस निघण्टु निर्वचन के लेखक देवराज ने भोज, देव तथा उसकी पुरुष-ारवृत्ति पदमञ्जरी तथा भरतस्वामी को उद्धृत किया है। सायण ने इस वराज के निघण्टु भाष्य से प्रमाण दिया है। अतः देवराज का समय १४ वीं ताब्दी ई० श० का अन्त माना जा सकता है।

निघण्टु निर्वचन में नैघण्टुक काण्ड के शब्दों का ही निर्वचन अधिक विस्तार किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रधान आधार स्कन्द स्वामी का ऋग्वेद भाष्य था उसी की निरुक्त टीका है। अनेक स्थानों पर स्कन्द का नाम लिये बिना ी उसकी अनेक पंक्तियाँ देवराज ने अक्षरशः उद्धृत की हैं। (द्र०—वैदिक ाङ्मय का इतिहास, भाग १, खण्ड २/२१०)

निरुक्त की व्याख्यायें

यास्क का निरुक्त बहुत समय से वेद के एक अगभूत निरुक्त शास्त्र का प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। परन्तु इस निरुक्त ग्रन्थ के ऊपर दो एक भाष्य ही अब तक उपलब्ध हो सके हैं। यह भी सम्भावना है कि इस ग्रन्थ पर भाष्य थोड़े ही लिखे गये हों। इस सम्भावना का प्रमुख कारण यह है कि निरुक्त स्वयं एक व्याख्या ग्रन्थ है तथा सूत्र शैली में निबद्ध न होकर लौकिक गद्य शैली में निबद्ध है। इसलिये इसके भाष्य अथवा व्याख्यान आदि की विशेष आवश्य-कता न समझी गई हो। साथ ही यह भी सम्भव है कि कुछ भाष्य काल के

क्रूर घटना चक्र में पड़कर नष्ट विनष्ट हो गये हों। क्योंकि दुग के भाष्य जो आजकल अविकल रूप में उपलब्ध है, अनेक स्थलों पर 'अन्ये', 'अवभृमि 'एके' तथा 'केचित्' जैसे सर्वनामों द्वारा सम्भवतः अन्य व्याख्याकारों को उ किया गया है। कई स्थलों पर केवल 'व्याचक्षते' शब्द के द्वारा ही प्राचीन टीकाकारों को याद किया गया है। स्कन्द के भाष्य की एक पंक्ति से ब स्वामी नामक किसी व्याख्याकार का संकेत मिलता है (द्र०-स्कन्द 'टीका भ १, पृ० ४) पतञ्जलि के महाभाष्य से यह संकेत मिलता है कि उसके समय निरुक्त की व्याख्या आरम्भ हो चुकी थी। द्र०—'निरुक्त' 'व्याख्यायते' (महाभाष्य ४/३/३६)

निरुक्त वार्तिक

यास्कीय निरुक्त की आलोचनात्मक व्याख्या के रूप में दुर्ग से भी पह किसी विद्वान् के द्वारा निरुक्तवार्तिक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया गया अपने निरुक्त भाष्य के प्रारम्भ में निघण्टु शब्द की यास्ककृत त्रिविध निर्वच की पुष्टि में दुर्ग ने वार्तिककार को निम्न शब्दों में उद्धृत किया है—

अपि प्रोक्तं वार्तिककारेण—

यावताम् एव धातूनां लिंगं रूढ़िगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस् तावद्भिर् गुणविग्रहः॥

इसके अतिरिक्त भी वह अनेक स्थलों पर इस विद्वान् के मत को उद्ध करता है। जैसे—

निरुक्त ६/३१ की व्याख्या में वह लिखता है—

वार्तिककारेणाप्युक्तम्—

निगमवशाद् बह्वर्थं भवति पदं तद्वतम् तथा धातुः।
उपसर्ग-गुण-निपाता सर्वगता सर्वथा लक्ष्या॥

निरुक्त ८/४ की व्याख्या में पहले तो दुर्ग ने कहा कि प्राचीन नैरु शाकपूणि ने अपने निरुक्त में, अपने निघण्टु में पठित शब्दों के क्रम का प्रयोज भी बताया था। उसके बाद अपने इस कथन की पुष्टि में उसने वार्तिकका को उद्धृत किया। द्र०—शाकपूणिस्तु पृथिवीनामस्य एव उपक्रम्य स्वयम् ए सर्वत्र क्रमप्रयोजनम् आह। तदुक्तं वार्तिककारेण—

क्रमप्रयोजनम् नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम् ।
प्रकल्पयेद् अन्यद् अपि न प्रज्ञाम् अवसादयेत् ॥

निरुक्त भाष्य ११|१३ में भी वह लिखता है—

निरुक्तसमयस्तु सर्वा एव गणा मरुतः । उक्तं च वार्तिके:—
मध्यमा वाक् स्त्रियः सर्वाः पुमन् सर्वश्च मध्यमः ।
गणाश्च सर्वे मरुत गणभेदा पृथक् कृतेः ॥

इन उद्धरणों में सबसे पहला—'यावतामेव धातुनां०' तथा अन्तिम मध्यमा वाक्' में दोनों बृहद्देवता (क्रमशः २/१०२ तथा ५/४९) में भी मिलते हैं। अन्तिम श्लोक बृहद्देवता में कुछ पाठान्तर के साथ मिलता है।

इसीलिये प्रो० राजवाड़े ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि दुर्ग के समय के बृहद्देवता का ही दूसरा नाम निरुक्तवार्तिक रहा होगा। द्र०—राजवाड़े कृत टिप्पणियाँ—दुर्गभाष्य, आनन्दाश्रम संस्करण भा० १, पृ० २२१—'बृहद्देवताकारान् नान्यो वार्तिककारः'। परन्तु उनकी यह सम्भावना एक असत्य सम्भावना ही है क्योंकि निरुक्त वार्तिक के नाम से कुछ अन्य श्लोक मण्डनमिश्र रचित स्फोटसिद्धि की गोपालिका नामक टीका में भी उद्धृत हैं, जो न तो बृहद्देवता में मिलते हैं और न बृहद्देवता में कभी उनके मिलने की सम्भावना ही की जा सकती है। द्र०—

यथोक्तं निरुक्तवार्तिक एव—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविध ।
उपदेशेन सम्प्रापुर् मन्त्रान् ब्राह्मणम् एव च ॥१॥

उपदेशश्च वेदव्याख्या । यथोक्तं—

अर्थोऽयम् अस्य मंत्रस्य, ब्राह्मणस्यायम् इत्यपि ।
व्याख्यैवात्रोपदेशस् स्याद् वेदार्थस्य विवक्षितः ॥२॥

× × ×

यथोक्तम्—

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुम् अपरे तथा ।
वेदम् अभ्यस्तन्वतस्ते वेदांगानि च यत्नतः ॥३॥

× × ×

व्याख्यातं च—

बिलं भिलमम इति ह्याह बिभक्त्यर्थ-विवक्षया ।
उपायो मि बिभक्त्यर्थम् उपेयं वेदगोचरम् ॥
अथवा भासनं बिलम भासतेर् दीप्तिकर्मण: ।
अभ्यासेन हि वेदार्थो भास्यते दीप्यते स्फुटम् ॥५॥
......यथोक्तम्—
प्रथमाः प्रतिमानेन द्वितीयास्तूपदेशत: ।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थान् प्रतिपेदिरे ॥६॥

निरुक्तवार्तिक के नाम से उद्धृत इन श्लोकों में निरुक्त के साक्षात्धर्माण ऋषयो बभूवु:...भासनम् इति वा (निरुक्त १/२०) इस स्थल की ब ही सरल एवं हृदयगम व्याख्या उपलब्ध है । अत: इन श्लोकों से यह अनुम करना सरल है कि यास्कीय निरुक्त की बड़ी विस्तृत एवं विवेकपूर्ण व्याख्या महत्वपूर्ण ग्रन्थ में की गयी होगी जो आज दुर्भाग्यवश अनुपलब्ध है ।

दुर्ग-भाष्य

निरुक्त के उपलब्ध व्याख्याकारों में दुर्गसिंह अथवा दुर्गाचार्य, समय दृष्टि से सर्वप्रथम माने जा सकते हैं । डॉ० लक्ष्मणसरूप ने निरुक्त के इंगलि अनुवाद की भूमिका (पृ० ५०) में पहले यह लिखा था कि दुर्ग का समय १ वीं शताब्दी ईस्वी पश्चात् के आस-पास माना जा सकता है । परन्तु बाद स्कन्द भाष्य, तृतीय भाग, की भूमिका (पृ० ८१—६७) में अनेक हेतुओं यह प्रमाणित किया कि दुर्ग स्कन्द से पहले हो चुके हैं तथा इनका समय प्रथ शताब्दी ईस्वी पश्चात् मानना चाहिये । इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि स्कन्द ने अपनी टीका में प्राचीन भाष्यकारों के प्रसङ्ग में, दुर्ग का नाम लिया है । इसके अतिरिक्त अपनी व्याख्या के अनेक स्थलों में दुर्ग का बिना नाम लि हो, दुर्ग की व्याख्या का खण्डन किया है तथा उसे 'अपव्याख्यानम्' कहा है इन स्थलों में जिस व्याख्या या मत का खण्डन किया है, वह कहीं-कहीं त अक्षरश: दुर्ग की व्याख्या से मिलता है । उदाहरण के लिये निरुक्त (१/६) ऋच्छन्तीव से 'उदगन्लाम्' की दुर्ग तथा स्कन्द कृत व्याख्या की पारस्परि तुलना द्रष्टव्य है । इसी तरह 'कर्मोपसंग्रहार्थीय' की जो परिभाषा यास्क ने निरुक्त (१/४) में दी है उसकी इन दोनों विद्वानों द्वारा की गयी व्याख्या भी

द्रष्टव्य है। इन दोनों स्थलों में स्कन्द ने दुर्ग की व्याख्या को असंगत ठहराया है। इस तरह के अनेक स्थल डॉ० सरूप ने स्कन्द भाष्य तृतीय भाग की भूमिका (पृ० ८३–८७) में संकलित किये हैं।

दुर्गभाष्य ११ वें अध्याय की पुष्पिका में एक स्थान पर लिखित **ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ जम्बूमार्गाश्रम निवासिन आचार्य-भगवद दुर्गसिंहस्यकृतौ** इस वाक्य से पता लगता है कि आचार्य दुर्ग जम्बूमार्ग के किसी आश्रम के थे। परन्तु 'जम्बूमार्ग' इस अंश में 'जम्बू' शब्द काश्मीर के जम्बू प्रदेश का वाचक नहीं है। यह 'जम्बूमार्ग' शब्द समस्त न होकर एक शब्द है तथा एक विशिष्ट स्थान का वाचक है। इस 'जम्बूमार्ग' नामक स्थान की पुराणों तथा महाभारत में बड़ी महिमा बतायी गयी है। इसे ऋषियों की भूमि कहा गया जिसमें मानवों को अल्प तप से भी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस स्थान को नर्मदा नदी के पश्चिमी पार्श्व में स्थित बताया गया है। डॉ० सरूप का विचार है कि यह स्थान भडोच के समीप होना चाहिये (द्र०—स्कन्दभाष्य भाग ३, भूमिका, पृ० ९७–१०८)।

दुर्ग वसिष्ठ गोत्र तथा कपिष्ठल संहिता के अध्येता थे। इसलिये निरुक्त (४/१४) में उद्धृत लोध नयन्ति पशु मन्यमाना: (ऋग्वेद ४/५३/२३) मंत्र की व्याख्या उन्होंने नहीं की क्योंकि उनकी दृष्टि में सह ऋचा वसिष्ठ द्वेषिणी थी। द्र०—**यस्मिन् निगमे एष शब्द: सा वसिष्ठ-द्वेषिणी ऋक्। अहं च कापिष्ठलो वसिष्ठ: अतस्तां न निर्ब्रवीमि'**। सायण ने भी इस मन्त्र के भाष्य में इसे वसिष्ठ द्वेषिणी माना है।

दुर्गाचार्य का भाष्य बहुत विस्तृत है तथा अनेक स्थानों पर इस विद्वान् भाष्यकार ने निरुक्त के वाक्यों के एक से अधिक अर्थ प्रस्तुत किये हैं। परन्तु डॉ० सरूप का यह कथन सत्य नहीं है कि निरुक्त का प्रत्येक शब्द इस भाष्य में उद्धृत है। अत: इस भाष्य के आधार पर सम्पूर्ण निरुक्त का सम्पादन हो सकता है। प्रो० राजवाड़े ने निरुक्त के ऐसे अनेक वाक्यों और वाक्यांशों का संग्रह किया है जो दुर्ग के भाष्य में नहीं मिलते। (द्र०—राजवाड़े इंगलिश व्याख्या की भूमिका पृ० १०–१२)

दुर्ग की टीका के अध्ययन से यह पता लगता है कि दुर्ग के समय में भी निरुक्त के कुछ प्रमादपाठ तथा पाठभेद विद्यमान थे। उदाहरण के लिये—

दुर्गभाष्य' के अनुसार निरुक्त ४/१९ में 'स्यु' के स्थान पर 'असन्' यह प्रमादप विद्यमान था। द्र०—देवा नो यथा सदा वर्धनाय स्युः इस पंक्ति की व्याख्या- 'भाष्येऽपि 'स्युः' इत्येष एव पाठः 'असन्' इत्येष प्रमादपाठः"। इस प्रक 'संविज्ञातानि तानि' (निरुक्त १/१२) की व्याख्या में यह 'संविज्ञात' तथा 'सवि ज्ञान' दोनों पाठ मानता है।

स्कन्द तथा माहेश्वर की टीकायें—लगभग छठी शताब्दी ईस्वी पश्चा स्कन्द स्वामी ने निरुक्त पर अपनी टीका लिखी थी। वह स्कन्द स्वामी हरि स्वामी का गुरु था जिसने ६३८ ईस्वी पश्चात् शतपथ पर भाष्य लिखा था (द्र०—स्कन्दभाष्य, भाग ३, भूमिका पृ० ५३—६०)। यास्कीय निघण्टु व्याख्याकार देवराज यज्वा ने अनेक बार स्कन्दस्वामी को उद्धृत किया है इस स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद पर भी भाष्य किया था (द्र०—वैदिक वाङ्मय क इतिहास भाग १, खण्ड-२, पृ०-१०)।

स्कन्दस्वामी विरचित टीका का सम्पादन डॉ० लक्ष्मणसरूप ने अनेक हस्त लेखों के आधार पर बड़े परिश्रम से पहली बार तीन भागों में किया है। प्रथ भाग में निरुक्त के प्रथम अध्याय की, द्वितीय भाग में द्वितीय अध्याय से षष् अध्याय की तथा तृतीय भाग में सप्तम अध्याय से तेरहवें अध्याय तक व्याख्या है। इस टीका की अनेक विशेषतायें हैं। टीकाकार ने निरुक्त के अने पाठभेदों तथा भ्रष्टपाठों की सूचना इस टीका में स्थान-स्थान पर दी है (द्र०—स्कन्दभाष्य, भाग ३, भूमिका, पृ० ४३-४६)। अनेक स्थलों पर दु की व्याख्या की ओर, बिना नाम लिये ही, संकेत किया है तथा उससे अपनी असहमति दिखाई है।

इस टीका में १२वीं शताब्दी ईस्वी पश्चात् के महेश्वर नामक किसी विद्वान् की टीका भी सम्मिलित है। डॉ० सरूप का विचार है कि महेश्व ने थोड़े बहुत संशोधन के साथ स्कन्दस्वामी की वृत्ति का एक दूसरा संस्कर प्रस्तुत किया। इसीलिये स्कन्दस्वामी, जिनका समय पञ्चम शताब्दी ई पश्चात् का अन्त अथवा षष्ठ शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है, इस टीक में सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी के विद्वानों के उद्धरण भी मिल जाते हैं। जैसे भामह (६५० ई० प०) का काव्यलङ्कार, भर्तृहरि (६५१ ई० प०) का

वाक्यपदीय तथा कुमारिल भट्ट (७०० ई० प०) का तंत्रवार्तिक यहाँ उद्धृत हैं। इन पुस्तकों का उद्धरण देने वाला महेश्वर ही है न कि स्कन्दस्वामी।

श्रीनिवासकृत व्याख्या—निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा ने निरुक्त २/७ के निर्वचन—शृङ्गं श्रयतेर् वा शृणातेर् वा शम्नातेर् वा के विषय में लिखा है शृङ्गं श्रयते इत्यत्र स्नातेर् वा इति निर्वचनस्य पाठः श्रीनिवासीये व्याख्याने दृष्टः (द्र०—निघण्टु निर्वचन, १/१७/११) इसी प्रकार निघण्टु २/३/१ की व्याख्या में पुनः श्रीनिवास का नाम लेता है। इससे यह स्पष्ट पता लगता है कि किसी श्रीनिवास नामक विद्वान् ने भी इस निरुक्त की व्याख्या की थी।

निरुक्त के आधुनिक सम्पादक, अनुवादक, आलोचक एवं व्याख्याता

सबसे पहले प्रो० रॉथ ने जर्मन भाषा में एक विस्तृत भूमिका के साथ निरुक्त का अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका इंगलिश अनुवाद प्रो० मेकीशान ने किया। यह इंगलिश अनुवाद १९१८ में बम्बई विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ था। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने बड़ी ऊहापोह एवं शास्त्रीय युक्तियों से समन्वित अपना 'निरुक्तालोचन' ग्रन्थ प्रस्तुत किया जिसमें 'यास्क के काल' 'निरुक्त की वेदांगता' इत्यादि विविध विषयों पर विस्तार से विचार किया गया। डॉ० लक्ष्मण सरूप ने निरुक्त का इंगलिश अनुवाद १९२१ में लन्दन से प्रकाशित कराया। इस अनुवाद में कुछ भयङ्कर त्रुटियों के होते हुए भी इस विद्वान् अनुवादक का परिश्रम प्रशंसनीय है। १९२७ में निघण्टु तथा निरुक्त का अनेक हस्तलेखों के आधार पर इसी विद्वान् ने एक सुन्दर आलोचनात्मक संस्करण पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया। निरुक्त की अनेकविध सूचियाँ एवं परिशिष्ट भी डॉ० सरूप ने प्रकाशित किये। १९३१ में श्री पं० भगवद्दत्त ने अपना वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक पुस्तक के भाग १, खण्ड २ को प्रकाशित किया, जिसमें तीन अध्यायों—षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम में क्रमशः 'निरुक्तकार' निघण्टु के भाष्यकार तथा 'निरुक्त के भाष्यकार' इन विषयों पर विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। १९२४ में पंजाब विश्वविद्यालय से ही डॉ० सरूप ने स्कन्द महेश्वर की निरुक्त व्याख्या तीन भागों में प्रकाशित की। इसके तीसरे भाग की विस्तृत भूमिका में दुर्ग सिंह के समय एवं स्थान आदि के विषय में अपने पहले के विचारों में संशोधन एवं सुधार किया तथा स्कन्द और महेश्वर के समय

आदि के विषय में भी अपने विचार, हेतु तथा युक्तियाँ प्रस्तुत की। इसी के आस-पास जर्मनी प्रो० स्कोल्ड तथा लुण्ड ने निरुक्त के समय में अपना अनुसन्धानपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया। १९३५ में प्रो० वी० के० राजवाड़े ने निरुक्त का मराठी अनुवाद तथा १९४० में सम्पूर्ण निरुक्त का आलोचनात्मक संस्करण और प्रथम तीन अध्यायों की इंगलिश में विस्तृत व्याख्या की जिसमें अनेक स्थलों पर निरुक्त की पंक्तियों का युक्तिपूर्ण परीक्षण किया। यद्यपि इस व्याख्या में ऐसे भी कुछ स्थल हैं जिन्हें व्याख्याकार ने अपनी समझ में न आने के कारण, प्रक्षिप्त या अनावश्यक मान लिया है। जैसे प्रथम अध्याय में सीमत: इस निपात विषयक पूरे प्रसङ्ग को वे प्रक्षिप्त मानते हैं। जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं प्रतीत होती। इस व्याख्या के बाद विविध उपयोगी सूचियाँ भी दी गई हैं। डॉ० सिद्धेश्वर शर्मा ने इटिमालाजीज आफ यास्क नामक पुस्तक लिखी जिसमें भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर निरुक्त के निर्वचनों की गम्भीर परीक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त दुर्गाचार्य के भाष्य के आधार पर हिन्दी में निरुक्त की अनेक व्याख्यायें प्रकाशित हुईं जिनमें राजाराम आर्य, प० चन्द्रमणि वेदालङ्कार, पं० सीताराम शास्त्री आदि की व्याख्यायें प्रमुख हैं। पं० चन्द्रमणि जी की व्याख्या आर्यसमाज के सिद्धान्तों से पूर्ण प्रभावित है। अभी हाल में पं० छज्जूराम-भगीरथ शास्त्री तथा पं० भगवद्दत्त की निरुक्त व्याख्यायें हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं।

यास्क की विवेचन शैली—यास्क निरुक्त सम्प्रदाय के एक विशिष्ट एवं अन्तिम आचार्य है जिनकी कृति में प्राचीन अनेक नैरुक्त आचार्यों के मत संगृहीत एवं समन्वित किये गये हैं। अत: एक नैरुक्त होने के कारण यास्क का यह निश्चित मत है कि सभी शब्द चाहे वे वैदिक हो या लौकिक, यौगिक हों या रूढ़ि—धातु से निष्पन्न हैं—धातुज हैं। इस कारण यास्क का यह भी सिद्धान्त है कि सभी कठिन शब्दों का निर्वचन करना ही चाहिये। मन्त्र की व्याख्या करते हुए कभी भी ऐसा नहीं होना चाहिये कि निर्वचन न किया जाय—**न त्वेव न निर्ब्रूयात्**। क्योंकि ऐसा करने से नैरुक्तों का—'सभी शब्द धातुज है' यह सिद्धान्त खण्डित हो जायगा। इसलिये एकमात्र शब्द के अर्थ को ही ध्यान में रखते हुए शब्द की परीक्षा करनी चाहिये। व्याकरण शास्त्र में कल्पित संस्कार अर्थात् प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाग पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिये—**अर्थो नित्य: परीक्षेत। न संस्कारमु आद्रियेत** (निरुक्त २/१)। इसके

अतिरिक्त समान अर्थ वाले शब्दों का समान रूप से तथा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले शब्दों का भिन्न-भिन्न रूपों में निर्वचन किया जाना चाहिये— **समानकर्माणि चेत् समाननिर्वचनानि नानाकर्माणि चेत् नानानिर्वचनानि** (निरुक्त २/७)।

इन सिद्धान्तों के अनुसार यास्क ने बिना किसी हिचक के स्थान-स्थान पर रूढ़ि एवं अत्यन्त रूढ़िभूत शब्दों का निर्वचन किया है। सबसे प्रारम्भ में ही 'निघण्टु' शब्द के तीन अभिप्रेत अर्थों की दृष्टि से तीन निर्वचन प्रस्तुत किये गये हैं तथा इसी प्रकार वैदिक मन्त्रों की व्याख्या के प्रसङ्ग में भी अनेक लौकिक एवं वैदिक शब्दों के निर्वचन किये गये। यास्क के निर्वचन की रीति यह है कि यदि शब्द में विद्यमान धातु का वही अर्थ हो जो उस शब्द का है तथा उसके स्वर और संस्करण (प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना) आदि की सिद्धि भी व्याकरण के नियमों के अनुसार हो जाय तो ऐसे शब्दों का निर्वचन सामान्यतया व्याकरण के नियमों के अनुसार ही कर दिया गया है। जैसे— **'निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति'** (निरुक्त १)। द्र०—**'तद् येषु पदेषु स्वर-संस्कारौ समर्थौ 'प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्'** (निरुक्त २/१)।

परन्तु यदि शब्द में कल्पित धातु के अर्थ से शब्द का अर्थ भिन्न हो या उस धातु से शब्द की सिद्धि व्याकरण के नियमों के अनुसार नहीं हो सकती हो तो ऐसी स्थिति में उस शब्द की किसी धातु के जिस भी रूप के साथ समानता दिखाई दे जाय, उसी से निर्वचन कर दिया गया है। जैसे—'निघण्टु' शब्द का 'गम्', 'हन्' तथा 'हृ' धातु से निर्वचन। द्र०—**अथ अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्य परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसंयायेन** (निरुक्त २/१) और जब शब्द की किसी भी धातु के किसी भी प्रयोग से किसी प्रकार की समानता न मिले तो अक्षर या वर्ण (स्वर या व्यंजन तक) की समानता के आधार पर निर्वचन किया गया है। जैसे—'हस्त' शब्द का निर्वचन 'हन्' धातु से द्र०—**अविद्यमान्-सामान्ये ऽप्यक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रूयात्** (निरुक्त २/१)।

यास्क की पहली रीति तो ठीक है परन्तु बाद की दोनों रीतियाँ भाषा-विज्ञान के आधार पर सुसंगत नहीं प्रतीत होती। क्योंकि भाषावैज्ञानिक यह मानता है कि सीमित ध्वनियाँ ही किसी सीमित ध्वनि के रूप में किसी सीमित वातावरण में बदलती हैं। वह यास्क की इस बात को मानने को तैयार नहीं

है कि जो कोई भी ध्वनि जब कभी भी किसी ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो सकती है।

यास्क की मन्त्र-व्याख्या-पद्धति

मन्त्रों की व्याख्या करते हुए यास्क प्रायः सदा ही मन्त्रों के क्रम में कोई परिवर्तन नहीं करते। व्याख्या में व्याख्येय मन्त्र के प्रतीक को उद्धृत करने के स्थान पर उस अंश के समानार्थक अपने शब्दों को ही उसी क्रम में रख देते हैं। जैसे—**वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः** इस मन्त्रांश को उद्धृत करने के स्थान पर सीधे **वृक्षस्य इव ते पुरुहूत शाखाः** कहकर इस अंश की व्याख्या कर दी है। यहाँ मन्त्र के 'नु' के स्थान पर 'इव' तथा 'वयाः' के स्थान पर 'शाखा' लौकिक शब्द हैं। परन्तु **पर्याया स्वव् आश्विनम्** की व्याख्या—**आश्विनं च पर्यायास्व** में यास्क ने क्रम क्यों बदल दिया यह समझ में नहीं आता। इसी प्रकार **आविवासेम धीतिभिः** की व्याख्या—'कर्मभिः परिचरेम'—में भी क्रम बदल दिया गया है। यास्कीय शैली के अनुसार यहाँ भी 'परिचरेम कर्मभिः' व्याख्या होनी चाहिये थी।

यास्क ने अपनी व्याख्या में पदपूरणार्थक निपातों को स्थान नहीं दिया है। इसीलिए **नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे०** की व्याख्या में 'नूनम्', **शिशिरं जीवनाय-कम्** की व्याख्या में 'कम्', **ऐमेनं सृजता सुते** की व्याख्या में 'ईम्' जैसे पद यास्क की व्याख्या में नहीं दिखाई देते।

निरुक्त के पहले तीन अध्यायों में प्रासंगिक विषय के विस्तृत विवेचन के अर्थ में **तस्य (प्रासंगिक विषयस्य) उत्तरा (ऋक्) भूयसे निर्वचनाय** इस वाक्य का प्रयोग करके, यास्क ने कोई अन्य ऋचा उद्धृत की है।

यास्कीय व्याख्या की एक विशेषता यह भी है कि वे व्याख्या के बीच-बीच में शब्दों के निर्वचन भी देते चलते हैं। सम्भवतः निर्वचनों के अभाव में वे व्याख्या को पूर्ण मानते ही नहीं। इसलिये दुर्ग यास्कीय व्याख्या को सरल बनाने की एक रीति यह अपनाई कि पहले मन्त्र की यथेष्ट व्याख्या करके, उसके बाद 'अथ एकपदनिरुक्तम्' कहकर यास्कीय निर्वचनों को प्रस्तुत किया जाये। परन्तु यास्क सम्भवतः निर्वचनों को व्याख्या में बाधक न मानकर उन्हें व्याख्या का साधक अथवा पूरक मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि निरुक्त का प्रधान कार्य निर्वचन प्रस्तुत करना है, भले ही उसके मन्त्रार्थ में बाधा ही क्यों न पड़े। कहीं-

कहीं तो मन्त्र के प्रथम चरण या अर्धांश की व्याख्या के उपरान्त व्याख्यात अंश के अनेक शब्दों के निर्वचन प्रस्तुत कर देते हैं। उसके बाद उन्हें अगले मन्त्रांश की व्याख्या का ध्यान आता है। इस प्रकार के निर्वचनों से सर्वत्र मन्त्रार्थ बहुत स्पष्ट हो जाता हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः के 'गिरिष्ठा' में स्थान पर 'गिरिस्थायी' कहने के पश्चात् 'पर्वत' 'पर्व' 'अर्धमास पर्व' इत्यादि की लम्बी-लम्बी व्युत्पत्तियाँ दी गई, और फिर अचानक ही 'गिरिस्थायी' को स्पष्ट करने के लिये 'मेघस्थायी' शब्द का प्रयोग किया गया। यहाँ सामान्य पाठक 'मेघस्थायी' की शीघ्र संगति नहीं लगा सकता।

कभी-कभी सम्भवतः निर्वचन की व्यग्रता के कारण मन्त्रों के अंशों की व्याख्या भी यास्क छोड़ जाते हैं। उदाहरण के लिये द्वितीय अध्याय में आर्ष्टिषेणो होत्रम्० इस मन्त्र के 'अपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि' यह परित्यक्त अंश द्रष्टव्य है।

निर्वचन के अन्य सिद्धान्तों के साथ-साथ वे यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् (अर्थानुसार मन्त्रों की विभक्तियों का परिवर्तन कर लेना चाहिये) के सिद्धान्त को यास्क ने भी अच्छी तरह अपनाया है। द्र०—राजवाडे भूमिका पृ० २१–२४)।

यास्क का महत्त्व

किसी उद्भट विद्वान् अथवा महापुरुष का मूल्यांकन करते हुए उसके युग तथा उस समय की परिस्थितियों की उपेक्षा करना उस आलोच्य विद्वान् अथवा महापुरुष के साथ घोरतम अन्याय है। इस तथ्य को यदि हम अपने सामने रखें तो आज इतने वर्षों के पश्चात्, इस एकदम बदले हुये युग में भी, हमें उस महान् नैरुक्त की प्रतिभा और विद्वत्ता का लोहा मानना होगा। भले ही यास्क के अनेक सिद्धान्त आज स्वीकार्य न हो और उनके निर्वचन तथा उनकी व्याख्या पद्धति में आज के आलोचक को कुछ दोष दिखाई दे जाय परन्तु हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि जिस समय अन्य सनीषियों के मस्तिष्क में भाषाविज्ञान का बीज-वपन भी नहीं हुआ था, उस समय इन नैरुक्तों ने इस तथाकथित भाषाविज्ञान के अनेक मौलिक एवं सद्भावनाओं सिद्धान्तों को उद्घोषित एवं प्रचारित किया था। आज का आलोचक भले ही 'सभी शब्द धातुज हैं, इस सिद्धान्त को न माने, परन्तु—अर्थनित्यः परीक्षेत्। 'न संस्कारम् आद्रियेत' सब्दों

की परीक्षा अर्थ पर विशेष ध्यान दिया जाय, व्याकरण के काल्पनिक संस्कारों की बहुत परवाह न की जाय, इन वक्तव्यों की सत्यता सर्वथा निस्सन्दिग्ध है। यह एक ऐसा आधार है कि जिसके सहारे अनेक दुरूढ़ शब्दों का उनके सदृश अनेक विलुप्त शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके स्वरूप जाना जा सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वेदों के कुछ मूर्धन्य-विद्वान् इस दिशा में प्रयत्नशील भी है।

नैरुक्त की परम्परा का एकमात्र प्रतिनिधि होने के कारण भी यास्क की अपनी एक महत्ता है। जिस प्रकार व्याकरण के क्षेत्र में अन्तिम आचार्य पाणिनि अपने से पूर्व भावी वैयाकरण आचार्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं उसी प्रकार यास्क भी उसी क्षमता के साथ अपनी नैरुक्त परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनेक आचार्यों के मत सुरक्षित हैं, तो यास्क के निरुक्त में भी नैरुक्तों की परम्परा की एक अच्छी झांकी देखने को मिल जाती है। प्रख्यात-नैरुक्त शाकपूणि तो यहाँ प्राय: सर्वत्र विद्यमान दिखाई देते हैं। कराल काल के क्रूर घटना चक्रों से यदि पाणिनि की अष्टाध्यायी अमिताभ बनी रह गई तो यास्क के निरुक्त को भी उनकी कोई आँच नहीं लग सकी।

यास्क ने जो यह कहा कि व्याकरण की परिपूर्णता निरुक्त मे आकर होती है उनके विषय में यदि वास्तविक धरातल पर आकर विचार किया जाय तो अपूर्णता इस बात से ही स्पष्ट है कि वह बड़े ही सीमित ेत्र में अपनी कल्पनाओं—लोप, आगम, वर्ण-विकार आदि की प्रक्रिया—का प्रयोग करते हैं और वह भी कितना निराधार होता है, इस बात को व्याकरण के मर्मज्ञ भर्तृहरि अच्छी तरह जानते हैं।

वेद-व्याख्या के क्षेत्र में भी यास्क आदि की एक महत्त्वपूर्ण देन है। निरुक्त में हमें तत्कालीन वेद-व्याख्या विषयक विभिन्न सम्प्रदायों तथा आचार्यों की विविध प्रवृत्तियों का ज्ञान होता है। 'देवता के स्वरूप आदि के विषय में भी यास्क ने अनेक दुरूढ़ गुत्थियाँ सुलझायीं हैं। अध्यात्म मत की दृष्टि से एक देवतावाद, आधिदैविक (नैरुक्त) मत की दृष्टि से त्रिविध देवतावाद तथा अधि-याज्ञिक मत की दृष्टि से बहुदेवतावाद का सुन्दर समन्वय तत्र एतन् नरराष्ट्रम् इव यास्क के इस संक्षिप्त वाक्य में प्राप्त हो जाता है तथा अध्यात्मवाद की मूलभूत धारणा यास्क के--महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।

एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति । आत्मा सर्व देवस्य (निरुक्त ७/४) इन शब्दों में सुरक्षित है, जिसकी बड़ी मनोरम एवं भव्य व्याख्या निरुक्त के प्रतिनिधि व्याख्याकार दुर्ग तथा स्कन्द ने प्रस्तुत की है । इन सब विविध परम्पराओं का वेदार्थ की पूर्णता की दृष्टि से एक विशिष्ट एवं अनुपेक्षणीय मूल्य है ।

कौत्स जैसे विद्वानों की इस धारणा का कि वेद के अनेक शब्द अविस्पष्टार्थक हैं—दुर्गम एवं दुरूढ़ हैं – यास्क ने निर्भीक एवं स्पष्ट उत्तर—**नैष स्थाणोर् अपराध यद् एनम् अन्धो न पश्यति, पुरुषपराधः सः भवति**—(निरुक्त १/१६) दिया है, वह आज के वेदाध्यायी का जहाँ उत्साह संवर्धन करता है, उनकी अनुसंधान की गति में एक तीव्रता एवं ओज भर देता है, उन्हें आशान्वित कर देता है वहाँ वेद के विषय में निराश एवं अनास्थावान् व्यक्तियों की अच्छी प्रतारणा भी करता है ।

इस प्रकार निर्वचन शास्त्र के सिद्धान्तों और रीतियों, विविध नैरुक्त आचार्यों के विभिन्न मतों तथा तत्कालीन वेद-व्याख्या सम्बन्धी 'ऐतिहासिक, 'नैदान', 'अधियाज्ञिक', 'आध्यात्मिक' आदि अनेक प्रवृत्तियों इत्यादि के ज्ञान की दृष्टि से निरुक्त और उसके प्रणेता यास्क का आज और भी अधिक मूल्य स्वीकार करना होगा ।

नमो यास्काय पराशराय

कुरुक्षेत्र
२६-४-१९६६

विद्वानों का विनीत—
कपिलदेव

निरुक्त : प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु

मूल —समाम्नायः समाम्नातः । स व्याख्यातव्यः। तम् इमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते ।

अनुवाद—(वैदिक शब्दों का) संग्रह संगृहीत हो चुका। (अब) उसकी व्याख्या करनी है। इस संग्रह को (आचार्य लोग) 'निघण्टु' कहते हैं।

व्याख्या—'समाम्नाय' शब्द 'सम्' और 'आङ्' उपसर्गों के साथ 'म्ना' धातु से 'कर्म' कारक में 'घञ्' प्रत्यय करके निष्पन्न माना गया है। 'सम्' का अर्थ है सम्यक्', 'आ' का अर्थ है 'एक विशिष्ट क्रम में' तथा 'म्ना' धातु का अर्थ है 'अभ्यास' अर्थात् किसी विषय का बार-बार विचार करना, मनन करना इत्यादि। अतः 'समाम्नाय' शब्द का अर्थ हुआ वह शब्दकोष जिसमें एक विशेष दृष्टि से, बार-बार विचार करके शब्दों का संग्रह किया गया है। यहाँ यास्क ने 'समाम्नाय' शब्द से जिस कोष का उल्लेख किया है वह निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ 'निघण्टु' है, जिसका आरम्भ 'गो' शब्द से तथा अन्त 'देवपत्नी' शब्द से होता है। यह पाँच अध्यायों तथा तीन काण्डों (नैघण्टुक, नैगम और दैवत) में विभक्त है।

'समाम्नायः समाम्नातः' का अभिप्राय यह है कि अभिष्ट वैदिक शब्दों के संग्रह का कार्य समाप्त हो चुका। अब उसकी व्याख्या करनी चाहिये। यह वाक्य 'कर्मवाच्य' का है अर्थात् यहाँ 'कर्म' ('समाम्नाय') को कहने के लिए 'क्त' प्रत्यय प्रयुक्त है। परन्तु 'कर्त्ता' का नाम नहीं लिया गया। इस कारण

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस 'समाम्नाय' का समाम्नान करने वाला कौन है ?

प्रायः अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन व्याख्याकार 'समाम्नाय' शब्द का 'परम्परागत प्राचीन एवं प्रसिद्ध शब्दकोष' अर्थ करते हुए यास्क से भिन्न किसी प्राचीन ऋषि को 'समाम्नाय' अथवा 'निघण्टु' का प्रणेता मानते हैं।

परन्तु **समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः** ये दोनों वाक्य इस बात का स्पष्ट संकेत देते हैं कि स्वयं यास्क ने ही अपनी दृष्टि से इस वैदिक शब्दकोष का संग्रह किया तथा उसके पश्चात् स्वयं उन शब्दों की व्याख्या भी की। सम्प्रति केवल एक ही निघण्टु तथा उसकी व्याख्या के रूप में निरुक्त ग्रन्थ उपलब्ध है परन्तु इस निरुक्त में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि यास्क से पूर्व निरुक्त के अनेक सुप्रतिष्ठित आचार्य हो चुके थे। इसी प्रकार अनेक निघण्टु ग्रन्थों की सत्ता के संकेत भी इस निरुक्त से ही कथंचित् उपलब्ध हो जाते हैं। प्रथम अध्याय के अन्त के **इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः** यह कहा गया है जिसका अर्थ है कि आचार्यों ने इस प्रकार निघण्टु (तथा इसके व्याख्या-भूत निरुक्त ग्रन्थ) का समाम्नान अथवा प्रणयन किया। इसी प्रकार सप्तम अध्याय में इन्द्र देवता के नामों के संग्रह के प्रसंग में यास्क ने कहा है—**तान्यपि एके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत् संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत् समामने।** अर्थात् कुछ आचार्य अपने निघण्टु ग्रन्थों में इन्द्र के 'वृत्रतुर' 'अंहोमुच्' इत्यादि विशेषणों अथवा कर्म (कार्य) के आधार पर रखे गये 'वृत्रहा' 'पुरन्दर' इत्यादि नामों का संग्रह भी अपने निघण्टु ग्रन्थों में करते हैं। परन्तु इस प्रकार के विशेषणों के संग्रह से निघण्टु का आकार बहुत बड़ा हो जायेगा। इसलिये मैं (यास्क) उन्हीं नामों का संग्रह अपने निघण्टु में करता हूँ जो बहुत प्रसिद्ध हैं तथा जिनकी प्रधान रूप से स्तुति की गई है। निरुक्त के इस स्थल से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि यास्क से पूर्व अनेक निघण्टु अथवा वैदिक शब्दकोष के संग्रहीता आचार्य हो चुके थे तथा दूसरी यह है कि यास्क ने भी, अपने निरुक्त के व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु के लिए, अपनी दृष्टि से, शब्दों का संग्रह किया था।

इसलिए 'समाम्नायः समाम्नातः' इस वाक्य का प्रयोग यास्क ने अपने 'समाम्नाय' की दृष्टि से ही किया है। अतः यहाँ 'मया' शब्द का अध्याहार करके मया (यास्केन) समाम्नायः समाम्नातः अर्थात् 'मुझ यास्क के द्वारा शब्दों के संग्रह का कार्य समाप्त किया जा चुका' यही अर्थ अभीष्ट प्रतीत होता है।

टिप्पणी—विशिष्ट संग्रह के अर्थ में अन्यत्र भी 'समाम्नाय' शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में (१, १) में 'वर्ण-समाम्नाय; अनुवाकानुक्रमणी (१, ६) में 'पदाक्षर-समाम्नाय' तथा पातञ्जल महाभाष्य में प्रथमाध्याय प्रथम पाद के द्वितीय आह्निक में 'अक्षर समाम्नाय' का प्रयोग मिलता है!

स व्याख्यातव्यः—यहाँ 'सः' का अभिप्राय है वह 'समाम्नाय' अथवा वैदिक शब्दों का संग्रह, जिसका समाम्नाय यास्क ने किया था 'व्याख्यातव्यः' शब्द में 'तव्यत्', प्रत्यय 'अर्ह' अथवा योग्य अर्थ को कहने के लिये प्रयुक्त हुआ है। द्र०—"आर्हे कृत्यतृचश्च" (पा० ३/३/१६९) अर्थात् 'अर्ह' अर्थ को कहने के लिए 'कृत्य' तथा 'तृच' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। 'कृत्य' कहे जाने वाले प्रत्ययों में 'तव्यत्' प्रत्यय भी समाविष्ट है। इसलिए 'स व्याख्यातव्यः' का अर्थ हुआ वह 'समाम्नाय' या शब्दसंग्रह जो व्याख्यार्ह (व्याख्या के योग्य) है। दूसरे शब्दों में उस शब्द-संग्रह की व्याख्या करना आवश्यक है। क्योंकि उन संगृहीत शब्दों का अर्थ जाने बिना उस ग्रन्थ के उद्देश्य-वेदार्थ का ज्ञान पूरा नहीं हो सकता। यहाँ 'व्याख्या' के अन्तर्गत शब्दों का अभिप्राय, निर्वचन उनके उदाहरण के रूप में वैदिक मन्त्रों का प्रदर्शन तथा उनका संक्षिप्त अर्थ इत्यादि भी उपयोगी चर्चा अभीष्ट हैं।

तम् इमं .... आचक्षते।

इस वाक्य में यह बताया गया है कि इस 'समाम्नाय' अथवा वैदिक शब्दों के कोष को आचार्य लोग 'निघण्टुः' कहते हैं। यहाँ भी 'आचक्षते' क्रिया का कर्ता नहीं कहा गया है इसलिए 'आचार्याः' जैसे किसी शब्द का अध्याहार करना होगा।

यहाँ एक विचारणीय बात यह है कि 'निघण्टुः' शब्द के स्थान पर 'निघण्टवः' इस बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? कुछ विद्वानों ने

इस बहुवचनान्त प्रयोग से यह अभिप्राय निकाला है कि अपने समय में वि
मान अनेक निघण्टुओं की दृष्टि से यास्क ने बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग कि
है। कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि इस प्रकार के 'समाम्नाय' के प्र
शब्द को 'निघण्टु' कहा जाता था। इस बात को बताने के लिए, या इस
से, यास्क ने 'निघण्टवः' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक समझा। इन
विचारों में पहला विचार अधिक स्वाभाविक एवं सुसंगत प्रतीत होता है।

निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति

मूल—निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति। छान्दोभ्यः स
हृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघ
उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। अपि वा आ हननाद् एव स्युः। समाहता भव
यद् वा समाहृता भवन्ति।

अनुवाद—'निघण्टवः' नाम कैसे पड़ा? ये (संगृहीत शब्द) अर्थबोधक
हैं वेदों से चुन-चुन कर शब्द इकट्ठे किये गये होते हैं। (इसलिये) वे (
'निगन्तु' (अर्थ-बोधक) होते हुए ही, अर्थ-बोधन के कारण 'निघण्टवः' (ना
कहे जाते हैं यह औपमन्यव का विचार है।

अथवा 'आहत' (मर्यादा एवं विभाग के साथ पठित) होने के कार
(इन शब्दों के नाम 'निघण्टव') हुए हों (क्योंकि ये शब्द) 'समाहृत' (एक
पठित) होते हैं।

अथवा (ये शब्द वेदों से) चुने हुए होते हैं (इसलिए इन्हें 'निघण्टवः'
जाता है।

व्याख्या—'समाम्नाय' (वैदिक कोष) के शब्दों को 'निघण्टवः' क्यों
जाता है, या उन सभी शब्दों के एकत्व के आधार पर इनके समूहभूत 'समा
को 'निघण्टु' क्यों कहा जाता है इस बात को बताने के लिये 'निघण्टवः'
यहाँ तीन निर्वचन दिये जा रहे हैं। शब्दों का निर्वचन करते हुये क
निरुक्त में उस शब्द के साथ 'कस्मात्' शब्द का प्रयोग करके उनके उ
एक या अनेक सम्भावित धातु या धातुओं का निर्देश किया गया है।
'निघण्टु' शब्द के विविध निर्वचन प्रस्तुत करने के लिये ही यास्क ने 'नि

कस्मात् ? यह प्रश्न प्रस्तुत किया है । इस प्रश्न के दो अभिप्राय हैं—एक यह कि 'निघण्टु' शब्द किस धातु से बनेगा ? तथा दूसरा यह कि इस 'समाम्नाय' का 'निघण्टु' नाम क्यों पड़ा, उसकी किस विशेषता के कारण 'निघण्टु' नाम दिया गया ? यों इन दोनों प्रश्नों में कोई विशेष अन्तर नहीं है ।

यों तो 'निघण्टु' शब्द रूढ़ि है तथा सामान्यतया 'कोष' का वाचक है। क्योंकि अमरकोष आदि को भी 'निघण्टु' कहा जाता है । इसलिये उसके प्रकृति प्रत्यय के विषय में विचार करना, उन वैयाकरणों की दृष्टि में, जो कुछ शब्दों को ही धातुज मानते हैं सब शब्दों को नहीं; सर्वथा अनावश्यक है। परन्तु यास्क उन विद्वानों में से एक हैं जो सभी शब्दों को यौगिक अथवा धातुज मानते हैं तथा इसी कारण 'एकमात्र अर्थ का ध्यान रखते हुए (रूढ़ि) शब्दों का भी निर्वचन करना ही चाहिए चाहे धातु तथा निर्वचन के विषयभूत शब्द में कोई समानता हो 'या न हो' यह यास्क का प्रमुखतम सिद्धान्त है । द्र०—अर्थनित्यः परीक्षेत ।······अविद्यमानसामान्येप्यक्षरवर्णसामान्यान् निब्रूयात् । न त्वेव न निब्रूयात् । (निरुक्त २/१) इसलिये 'निघण्टु' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में यहाँ वे विविध निर्वचन प्रस्तुत कर रहे हैं ।

यास्क ने 'निघण्टु' शब्द के तीन प्रकार के निर्वचन करते हुए तीन धातुओं का निर्देश किया है—'गम्' 'हन्' तथा 'हृ' । यास्क की यह शैली है कि शब्द जिस रूप में प्रयुक्त होता है प्रायः उसी रूप को लेकर वे उसका निर्वचन करते हैं । इसलिये यहाँ 'निघण्टुः' 'कस्मात्' ? न कहकर "निघण्टवः कस्मात्" ? यह प्रश्न किया गया क्योंकि ऊपर 'निघण्टवः' का प्रयोग हो चुका था ।

प्रथम निर्वचन—प्रथम निर्वचन के अनुसार 'निघण्टु' शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'गम्' धातु से बना है । चूंकि 'समाम्नायों' में बड़ी सावधानी के साथ वेदों से शब्द चुन-चुन कर इकट्ठे किये जाते हैं इसलिये इन शब्दों के अर्थ-ज्ञान के द्वारा वैदिक मन्त्रों के अर्थों का बोध होता है । अतः अर्थबोधक होने के कारण ये शब्द 'निगम' के (नि + गम् + अच्) अर्थात् अर्थ के निश्चायक होते हैं । इस कारण 'निगम' के पर्याय के रूप में 'नि + गम्' के साथ औणादिक 'तुन्' प्रत्यय लगाकर 'निगन्तु' शब्द और उसके बाद 'त' का 'ट' तथा 'ग' का

'घ' होकर 'निघण्टु' शब्द बना। यास्क ने यह प्रथम व्युत्पत्ति, निरुक्त के प्राची आचार्य औपमन्यव के अनुसार दी है।

टिप्पणी—प्रो० वी० के० राजवाड़े के अनुसार यहाँ पाठ का क्रम सम्भव निम्न रूप में रहा होगा—निघण्टवः कस्मात्? निगमनात्। निगमा इमे भवन्ति छन्दोभ्यः समाहृत्यः समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमान निघण्टव उच्यन्ते औपमन्यवः। संक्षेप में यह कहा जा सकता है औपमन्यव इस निर्वचन में इस बात पर जोर दिया गया है कि निघण्टु में संगृहीत श वैदिक मन्त्रों के अर्थ के बोधक हैं इसलिये उन्हें 'निघण्टु' कहा जाता है प्रसङ्गतः यहाँ से यह सूचना भी मिल जाती है कि यास्क के समान ही आच औपमन्यव ने भी अपने निरुक्त का प्रणयन किया था जिसमें 'निघण्टु' शब्द उपर्युक्त निर्वचन प्रस्तुत किया गया था।

द्वितीय निर्वचन—आ हननाद एव स्युः समाहता भवन्ति—के अनुस 'निघण्टु' शब्द 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गों के साथ 'हन्' धातु से निष्पन्न होग 'समाहनन' तथा 'समाम्नान' का इस प्रसङ्ग में लगभग एक ही अर्थ है और है मर्यादापूर्वक विशिष्ट विभाजन और दृष्टिकोण के साथ शब्दों का एक से संग्रह। इस निर्वचन में हेतु है 'समाहृत भवन्ति', अर्थात् निघण्टु के सम्यक् रूप से मर्यादापूर्वक एक साथ पढ़ गये हैं। पाठ करने के अन्त में घातु के प्रयोग की बात दुर्ग ने कही भी है। द्र०—**प्रसिद्धश्च पाठार्थे** ह **प्रयोग। ब्राह्मणे इदम् आहतम्। सूत्रे इदम् आहतम्।** (द्र० निरुक्त दुर्गभाष्य सम्भवतः यही व्युत्पत्ति निरुक्तकार को विशेष अभिमत है। क्योंकि यहाँ या ने 'एव' शब्द का प्रयोग किया है—'आहननाद् एव स्युः। यह उचित क्योंकि 'निघण्टु' के इस निर्वचन में इस बात पर जोर दिया गया है कि विशिष्ट मर्यादा में पठित होने के कारण इन शब्दों या शब्दों के समूह 'निघण्टु' कहा जाता है।

टिप्पणी—यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यास्क के सभी निर्व अर्थप्रधान होते हैं—केवल अर्थ को दृष्टि में रखकर वे शब्दों का निर्वचन हैं विशेषतः रूढ़ि शब्दों के निर्वचन में वे यह नहीं देखते कि शब्द का

धातुओं से निर्वचन किया जा रहा है उनसे व्याकरण के नियमों के अनुसार शब्द की सिद्धि होगी भी या नहीं। निर्वचन के विषय में यास्क का यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि निर्वचन करते हुये व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया की परवाह बिल्कुल न की जाय—न संस्कारम् आद्रियेत। वस्तुतः रूढ़ि शब्दों के विषय में यह माना गया है कि जिस धातु का चिन्ह निर्वक्तव्य रूढ़ि शब्द में दिखाई दे तथा उनका अर्थ उस रूढ़ि शब्द में विद्यमान हो उन सभी धातुओं से उस शब्द का निर्वचन किया जाना चाहिये। द्र०—

यावताम् एव धातूनां लिङ्गं रूढ़िगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्भिर् गुणविग्रहः॥ बृहद्देवता २/१०४।

इसी दृष्टि से यहाँ 'सम्' 'आ' उपसर्गों के साथ 'हन्' धातु से 'तृ' प्रत्यय तथा 'सम्' और 'आ' के स्थान पर 'नि' तथा 'हन्' के 'ह' के स्थान पर 'घ' और 'त' का ट होकर 'निघण्टु' शब्द की निष्पत्ति की बात कही गयी।

तृतीय निर्वचन—तीसरे निर्वचन 'यद्वा समाहृता भवन्ति' में 'समाहरण', अर्थात् वेदों से शब्दों को चुन-चुन कर एकत्र करना, अर्थ पर जोर दिया गया। इसीलिये यहाँ 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गों के साथ 'हृ' धातु से 'तु' प्रत्यय की कल्पना की गयी। 'सम्' तथा 'आ' के स्थान पर 'नि', 'हृ' का गुण हर्तु, 'र्' का 'न्' 'ह' का 'घ' और 'न' का 'ट' होकर 'निघण्टु' शब्द बनेगा। 'समाहृता भवन्ति' से पहले 'यद् वा समाहरणात् स्युः' इतने पाठ की कल्पना कर ली जाय तो यह वाक्य और सुसंगत हो जायेगा। अर्थात् 'निघण्टव' शब्द 'सम्+आ+हृ' से बनाया जा सकता है क्योंकि वे वेदों से चुने हुये होते हैं। यहाँ छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः का जो अभिप्राय है वही "समाहृता भवन्ति" का भी है। स्पष्टता की दृष्टि से यह अधिक सुसंगत होता यदि इसके बाद "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः" यह पाठ दिया जाता।

टिप्पणी—'निघण्टु' शब्द की इन तीन व्युत्पत्तियों द्वारा निघण्टु अथवा 'समाम्नाय' की तीन विशेषताओं को प्रकट किया गया है। पहली विशेषता यह है कि निघण्टु के शब्द मन्त्रों के अर्थ का बोध कराने वाले हैं, दूसरी—वे समूह रूप में एक मर्यादा के साथ संगृहीत अथवा पठित हैं, और तीसरी—वे शब्द

वेद से चुन-चुन करके एकत्र किये गये हैं स्पष्ट है कि ये तीनों निर्वच केवल अर्थ की दृष्टि से ही यास्क ने प्रस्तुत किये। शब्दकल्पद्रुम कोष 'निघण्टु' शब्द 'नि' उपसर्ग के साथ 'घण्ट्' धातु से भी इस शब्द की सिद्धि बात कही है।

निघण्टु में शब्दों के चार विभाग

मूल—तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।

अनुवाद—तो जो चार (प्रकार के) प्रसिद्ध पद नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात हैं वे (उस प्रकार के ही) ये ('समाम्नाय' के पद भी) हैं।

व्याख्या—इस वाक्य में यह कहा गया है कि भाषा में चार प्रकार प्रसिद्ध पद हैं—नाम, आख्यात उपसर्ग तथा निपात—उन्हीं चार प्रका के पदों का इस 'समाम्नाय' में भी संग्रह किया गया है। इसलिये 'इमानि का अर्थ करना चाहिये 'समाम्नाय' के पद अथवा शब्द', अभिप्राय यह कि इन चार विभागों के अन्तर्गत ही बस 'समाम्नाय' के सभी शब्द भी जाते हैं—कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जो इन चार विभागों के अन्तर्गत आ सके।

चत्वारिपदजातानि—पद कितने प्रकार के माने जायें, इस विष में संस्कृत के वैयाकरणों में विवाद पाया जाता है। दुर्ग का कहना है (१) ऐन्द्र व्याकरण में एक प्रकार का ही पद माना गया था। सम्भवतः अ पदम् इस सूत्र में यह परिभाषा की गयी थी कि अर्थ के वाचक सभी श पद हैं। (२) कुछ अन्य आचार्य दो प्रकार के पद मानते हैं—सुबन्त त तिङन्त। ये विद्वान् उपसर्गों तथा निपातों के विषय में कह कर कि इन विभक्तियाँ अब लुप्त हो गयी हैं, इन दोनों का अन्तर्भाव 'नाम' पदों में कर लेते थे। (३) कुछ अन्य तीसरे विद्वान् उपसर्ग तथा निपातों को एक मा कर पदों के तीन भेद मानते हैं। इनका कहना है कि 'अ' आदि उपसर्ग वस्तुतः निपात ही हैं। धातु के साथ प्रयुक्त होकर वे निपात होते हुये उपसर्ग अथवा जातिसंज्ञक बन जाते हैं। (४) कुछ अन्य यास्क आदि विद्वा

पदों के उपर्युक्त चार प्रकार मानते हैं। (५) इनसे भिन्न कुछ और विद्वान् नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा कर्मप्रवचनीय इन पाँच संज्ञाओं के आधार पर पाँच प्रकार के पद मानते हैं। इनमें से द्वितीय, चतुर्थ तथा पञ्चम मतों का उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय तृतीय काण्ड की निम्न कारिका में किया है—

'द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा' । (जातिसमुद्देश—१)

इस कारिका की व्याख्या में हेलाराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात के साथ कर्मप्रवचनीय के भेद को मानते हुये पदों के पाँच प्रकार बन जाते हैं। परन्तु कर्मप्रवचनीयों का उपसर्गों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण भाष्यकार (सम्भवतः यास्क अथवा पतञ्जलि) ने पदों के चार प्रकार ही माने हैं।

वस्तुतः पदों के चार प्रकार ही विशेष प्रसिद्ध तथा सर्वत्र स्वीकृत रहे हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में—नामाख्यातम् उपसर्गो निपाताश्चत्वार्याहुः पदजातानि शब्द वाजसनेय-प्रातिशाख्य में—तच्चतुर्धा नामाख्यातोपसर्गनिपाताः तथा अथर्वप्रातिशाख्य में चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम्, इन शब्दों के द्वारा पदों की चतुर्विधता को स्पष्ट स्वीकार किया गया है। यास्क ने यहाँ तो पदों की चतुर्विधता का उल्लेख किया ही है। इसके अतिरिक्त १३ वें अध्याय में 'चत्वारिवाक् परिमिता पदानि०' इस मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में वैयाकरणों के मत के रूप में भी यास्क ने इस मत को दुहराया है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में दो बार चार प्रकार के पदों की बात कही है।

'पदजातानि' ने इस प्रयोग में 'जात' शब्द का अर्थ दुर्ग तथा स्कन्द ने अपनी टीका में 'समूह' किया है। परन्तु इस शब्द का अर्थ 'प्रसिद्ध' भी किया जा सकता है। इस रूप में 'पदजातानि' का अर्थ होगा पदों के चार प्रसिद्ध प्रकार' अर्थात् पदों के भले ही और भी प्रकार हो पर चार प्रकार विशेष प्रसिद्ध हैं।

टिप्पणी—यहाँ प्रो० राजवाड़े ने एक विचारणीय प्रश्न यह प्रस्तुत किया कि यास्क जिस 'समाम्नाय' अथवा 'निघण्टु की व्याख्या करने जा रहे हैं उसमें तो पदों के केवल दो ही प्रकार मिलते हैं—"नाम' (प्रातिपदिक) शब्द और

'आख्यात' (तिङन्त शब्द)। उपसर्गों तथा निपातों का संकलन यहाँ नहीं दिखाई देता। केवल चौथे अध्याय के द्वितीय अनुच्छेद में 'आ' और 'यदि' उपसर्ग तथा 'अच्छ' 'ईम्' 'सीम' निपातों का उल्लेख मिलता है। तथा उसके उत्तर में इस विद्वान ने यह कहा है कि निघण्टु की इस विशेषता का, कि उसमें चारों प्रकार के पदों का संकलन होता है, उल्लेख यास्क ने इस विद्यमान निघण्टु से प्राचीन किसी अन्य निघण्टु की दृष्टि से किया है। पर यदि ध्यान से देखा जाये तो इस निघण्टु में भी अनेक निपात संकलित हैं। हाँ उपसर्ग दो ही एक हैं और वह स्वाभाविक भी है क्योंकि एक तो उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ प्रकट नहीं करते तथा दूसरे इन उपसर्गों के अर्थ समान्यतया प्रसिद्ध ही हैं।

'नाम' और 'आख्यात' की परिभाषा

मूल—तत्रैतन् नामाख्यातयोर् लक्षणं प्रदिशन्ति। भावप्रधानम् आख्यातम्। सत्वप्रधानानि नामानि।

अनुवाद—उन (चार प्रकार के पदों) में से नाम और आख्यात की (निम्न) परिभाषा (आचार्य लोग) बताते हैं। जिन (पदों) में भाव (क्रिया) की प्रधानता हो वह 'आख्यात' है तथा जिनमें सत्व (द्रव्य अथवा सिद्ध भाव) की प्रधानता हो वह 'नाम' है।

व्याख्या—यहाँ 'नाम' और 'आख्यात' पदों की परिभाषा प्रस्तुत की जा रही है। 'प्रदिशन्ति का अर्थ है 'उपदेश करते हैं'--बताते हैं। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'दिश्' धातु का एक अर्थ 'उपदेश' भी होता है। यहाँ कहा यह गया कि **नामाख्यातयोर् लक्षणं प्रदिशन्ति** अर्थात् 'नाम' तथा आख्यात् का लक्षण बताते हैं जिसमें पहले 'नाम' तथा फिर 'आख्यात' को रखा गया था क्योंकि 'नाम' शब्द 'आख्यात् शब्द की अपेक्षा छोटा है। परन्तु लक्षण देते समय 'आख्यात' का लक्षण पहले इसलिये दिया गया कि **सभी 'नामों' के मूल में 'आख्यात' (धातु) ही विद्यमान रहता है** ऐसा प्रायः सभी नैरुक्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'आख्यात' की प्रधानता इसलिये भी है कि एक 'आख्यात' (धातु) से अनेक 'नाम' पद निष्पन्न होते हैं।

भाव-प्रधानम् आख्यातम्—यहाँ, आख्यात' का अभिप्राय है 'व्रजति' 'पठति'

इत्यादि तिङन्त या क्रियावाचक पद। यों तो 'आख्यात' इस पद का प्रयोग कहीं-कहीं केवल धातु के लिये अथवा कहीं-कहीं केवल 'तिङ्' विभक्तियों के लिये भी हुआ है। परन्तु अधिकतर 'आख्यात' शब्द का प्रयोग 'तिङन्त पद के लिये ही होता है। 'भावप्रधानम्' शब्द में 'बहुव्रीहि' समास है—'भावः प्रधानम् यत्र' अर्थात् जहाँ 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता हो वह आख्यात (तिङन्त पद) है। यद्यपि 'भाव' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं। परन्तु यहाँ इसका अभिप्राय है 'साध्य-भाव' या क्रिया। इस प्रकार आख्यात की परिभाषा हुई जिन पदों के अर्थों में साध्यभाव (क्रिया की प्रधानता हो) वे 'आख्यात' है 'आख्यात' शब्द की व्युत्पत्ति भी कोषकारों ने यह की है कि 'आख्याते' प्रधानभावेन क्रिया अप्रधानभावेन च द्रव्यं यत्र तद् आख्यातम् अर्थात् जहाँ प्रधान रूप से क्रिया और गौण रूप से द्रव्य का कथन हो वह आख्यात है। 'आख्यात' शब्दों में प्रधान रूप से क्रिया की प्रतीति होती है इसको प्रमाणित करने के लिये व्याख्याकारों ने निम्न हेतु प्रस्तुत किये हैं—

१—पचति' या 'व्रजति' इत्यादि तिङन्त या आख्यात पदों के प्रयोग से क्रिया का पूर्ण निश्चय हो जाता है कि यहाँ पकाने अथवा जाने की क्रिया हो रही है जबकि 'कर्त्ता' इत्यादि कारकों का अथवा द्रव्य का निश्चय नहीं हो पाता। उसका निश्चय तो तभी होता है जब उस कारक अथवा द्रव्य का नाम लिया जाता है।

२—'देवदत्तः किं करोति ?' इस रूप में जब किसी क्रिया के विषय में प्रश्न किया जाता है तब उसका उत्तर 'पठति' जैसे किसी' 'आख्यात शब्द द्वारा ही दिया जाता है 'नाम' शब्द द्वारा नहीं।

३—आख्यात, अर्थात् तिङन्त या क्रियापदों में 'तिङ्' का कोई चिह्न नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि वे द्रव्यप्रधान नहीं होते तथा द्रव्य-प्रधानता के खण्डन से उनकी क्रिया-प्रधानता भी स्पष्ट हो जाती है।

४—तिङन्त पदों का अन्य, मध्यम तथा उत्तम इन तीनों पुरुषों तथा भूत, भविष्यद्, वर्तमान इन तीनों कालों से सम्बन्ध होना भी इन 'आख्यात' पदों की क्रिया-प्रधानता को प्रमाणित करता है। द्रव्य-वाचक 'नाम' शब्दों में यह विशे

षता अप्राप्य है। यहाँ उल्लिखित तीसरे तथा चौथे हेतुओं की दृष्टि से निम्न कारिका द्रष्टव्य है:—

क्रियावाचकम् आख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते।
त्रीन् अत्र पुरुषान् विद्यात् कालतस्तु विशिष्यते॥

५—तिङन्त पदों के चार प्रकार हैं। कर्तृवाच्य, जैसे—देवदत्तः पठति' कर्मवाच्य, जैसे—देवदत्तेन पुस्तकं पठ्यते' भाववाच्य, जैसे—देवदत्तेन आस्यते' तथा कर्मकर्तृवाच्य, जैसे—भिद्यते काष्ठः स्वयम् एव'। इन सभी प्रकारों में सर्वत्र क्रिया की प्रधानता तथा अविवक्षित 'कारक' या द्रव की गौणता देखी जाती है।

६—प्रायः सभी विद्वानों ने 'आख्यात' को प्रधान रूप से क्रिया का वाचक माना है। प्रातिशाख्यकारों ने समान रूप में आख्यात को क्रियावाचक कहा है। वार्तिककार कात्यायन ने उन्हीं 'भू' आदि की धातु संख्या मानी है जो क्रिया को प्रधान रूप क ते हैं।

७—एक वाक्य में दो क्रियाएँ एक साथ समवेत होकर नहीं उपस्थित होती क्योंकि दोनों ही क्रियायें प्रधान होती हैं। पर द्रव्य में साथ क्रिया समवेत भाव से युक्त हो जाती है। यह 'आख्यात' शब्दों की क्रिया-प्रधानता के कारण ही है।

८—तिङन्त शब्दों के चार अर्थ माने जाते हैं—भाव '(क्रिया)' कारक संख्या तथा काल। परन्तु इन चारों अर्थों में ि या की सर्वोपरि प्रधानता 'आख्यात' पदों के प्रयोग में परिलक्षित होती है।

सत्वप्रधानानि नामानि—'नाम' शब्दों की परिभाषा यह की गई कि जिनमें 'सत्त्व' अर्थात् द्रव्य की प्रधानता हो वे 'नाम' शब्द हैं। यहाँ भी पहले जैसे ही हेतु दिये जा सकते हैं।

१—देवदत्त आदि 'नाम' (प्रातिपदिक) शब्दों का उच्चारण होने पर देवदत्त आदि द्रव्य का ही प्रधान रूप से बोध होता है क्योंकि 'देवदत्त' द्रव्य का तो निश्चय इस शब्द से हो जाता है, परन्तु वह क्या करता है—पढ़ता है, सोता है या खाता है? इन क्रियाओं का निश्चय नहीं हो पाता।

२—'कः पठति ?' इस प्रकार के द्रव्यविषयक प्रश्न के उत्तर में 'रामः' जैसे किसी 'नाम' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।

३—जब कभी किसी प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह लिंग तथा संख्या से युक्त होता है । विद्वानों ने लिंग तथा संख्या से युक्त होने को ही 'सत्व' कहा है—

लिङ् संख्यान्वितं द्रव्यं सत्त्वम् इत्यभिधीयते ।

४—'नाम' (प्रातिपदिक) शब्दों में 'सत्व' (द्रव्य) की प्रधानता होने के कारण ही 'नाम' शब्दों को 'सत्व नाम' अर्थात् 'सत्व का वाचक' भी कहा गया है । द्र० 'मूर्त्तंसत्त्वभूतं सत्वनामभिः' (निरुक्त) ।

'नाम' शब्दों की द्रव्यप्रधानता के कारण ही वृहद्देवताकार ने 'नाम' शब्दों के स्वरूप को निम्न दो श्लोकों में स्पष्ट किया है—

शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते ।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः ।।१/४२
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचन-लिङ्गयोः ।।१/१४३

अर्थात्—जिस शब्द के उच्चारण करने से द्रव्य की प्रधान रूप से प्रतीति हो उसे व्याकरण में, विद्वान् लोग 'नाम' कहते हैं । इस प्रकार जिस शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थों में आठ विभक्तियां प्रयुक्त होती हैं और वचन तथा लिंग की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है असे आचार्य 'नाम' कहते हैं ।

वाक्य में भाव की प्रधानता

मूल—तद् यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः पूर्वापरिभूतं भावम् आख्यातेन आचष्टे, व्रजति पचतीति उपक्रम-प्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् । मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः व्रज्या पक्तिरिति ।

अनुवाद—जहां दोनों ('नाम' तथा 'अख्यात' पद) होते हैं (वहां अर्थात् वाक्य में दोनों) क्रियाप्रधान होते हैं 'व्रजति' 'पचति' जैसे ('आख्यात' पदों द्वारा (वक्ता) पहले तथा पीछे (एक विशेष क्रम से) होने वाली आरम्भ से लेकर अन्त तक की क्रिया को कहता है । मूर्त (सिद्ध) एवं द्रव्य के समान बने भाव (सिद्ध भाव) को (वक्ता) 'व्रज्या' 'पंक्ति' जैसे 'नाम' शब्दों से कहता है ।

व्याख्या—'नाम' तथा 'आख्यात' की परिभाषा देने के पश्चात् यह विचा-

रणीय है कि वाक्य में जहाँ दोनों ही 'आख्यात' तथा 'नाम' पदों का प्रयोग होता है वहाँ 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता मानी जाय या सत्व अर्थात् द्रव्य की? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि वाक्य में जब 'नाम' तथा 'आख्यात' दोनों का प्रयोग होगा तो भी क्रिया की ही प्रधानता होगी। पृथक्-पृथक् जब दोनों का प्रयोग होता है तभी 'आख्यात' को क्रियाप्रधान तथा 'नाम' को द्रव्यप्रधान मानना चाहिये। परन्तु वाक्य में तो जहाँ भी क्रियाप्रधान तथा 'नाम' को द्रव्यप्रधान मानना चाहिये। परन्तु वाक्य में तो जहाँ भी क्रिया की प्रधानता होगी—द्रव्य वहाँ गौणरूप धारण कर लेगा। क्योंकि क्रिया साध्य होती है—निष्पाद्य होती है। उस क्रिया की सिद्धि के लिये 'नामों अथवा कारकों या दूसरे शब्दों में साधनों का प्रयोग किया जाता है। द्र०—'साधनं हि क्रियां निवर्तयति' (साधन क्रिया को बनाते हैं) महाभाष्य (६/१/१३५)।

'भाव' तथा 'सत्त्व' को और स्पष्ट करने के लिये यहाँ पूर्वापरिभूतम्० इत्यादि दो वाक्य कहे गये हैं। पहले वाक्य में यह कहा गया है कि व्रजति पचति जैसे आख्यातों के प्रयोगों द्वारा साध्यभाव अथवा व्यापार को जब वक्ता कहता है तो जाने पकाने जैसी क्रियाओं का बोध इस रूप में होता है कि उन क्रियाओं में, पहले तथा बाद में और इस रूप में एक विशिष्ट क्रम में होने वाली अनेक अवान्तर क्रियाओं का ज्ञान होता है। वस्तुतः इन सब अवान्तर क्रियाओं का काल्पनिक समूह ही प्रधान क्रिया मानी जाती है। जसे यदि देवदत्तः व्रजति कहा जाये तो जब देवदत्त जाने के विचार से प्रेरित होकर कपड़े आदि पहनकर तैयार होता है तब से लेकर जब तक देवदत्त गन्तव्य स्थान तक पहुँच नहीं जाता तब तक के बीच में होने वाली सभी क्रियाओं का बोध होता है। 'जाना या पकाना' इत्यादि क्रियायें एक हैं—अवान्तर क्रियाओं की अनेकता के कारण क्रिया को अनेक नहीं माना जा सकता। यास्क ने इसी दृष्टि से 'पूर्वापरिभूतम्' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रिया में वास्तविक पौर्वापर्य न होकर काल्पनिक है। क्रिया जब आरम्भ होगी तब से लेकर जब तक वह समाप्त नही होगी तब तक उस बीच में जो भी कार्य किया जाता है उन सब के लिये सामान्यतया प्रधान क्रिया का ही व्यवहार किया जाता है। जैसे पाचक जब खाना पकाने के लिए पाकशाला में घुसता है तथा जब तक सारा

खाना बना नहीं लेता उस बीच में वह जो-जो कार्य करता है—पतीली चढ़ाना. आग जलाना, पानी गर्म करना, चावलों को चलाना इत्यादि—सबके लिये यही कहा जाता है कि वह खाना पकाता है—'स पचति'। इस प्रकार यहाँ 'पूर्वापरीभूतभावम्' से यह स्पष्ट किया गया कि 'आख्यात' शब्द 'भाव' अथवा व्यापार की साध्यावस्था को प्रकट करते हैं। वृहद्देवताकार ने 'आख्यात' की इस विशेषता को निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है:—

क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव।
क्रियाभिनिर्वृ तिवशोपजातः आख्यातशब्देन तम् अर्थम् आहुः ॥
(वृहद्देवता १/४४)

अर्थात्—'आख्यात' शब्द से उस (क्रिया' रूप) अर्थ को कहा जाता है जो अनेक अवान्तर क्रियाओं पर आश्रित होता है, क्रमबद्ध (पूर्वापरिभूत) सा होता है तथा प्रधान क्रिया के पूर्ण हो जाने पर निष्पन्न होता है।

मूर्त्तसत्त्वभूतं······पंक्तिरिति —इस वाक्य में यह स्पष्ट किया गया है कि 'नाम' शब्द भी कभी-कभी भाव को कहते हैं। परन्तु यह भाव 'पूर्वापरीभूत अर्थात् साध्य न होकर सिद्ध होता है—अमूर्त्त न होकर मूर्त्त होता है, निष्पाद्य न होकर निष्पन्न होता है। यहाँ वह अपनी क्रमिकता को छोड़कर द्रव्य के समान हो जाता है। इस पंक्ति का अन्वयार्थ यह होगा कि मूर्त्त एवं सत्त्वभूत भाव को 'व्रज्या' पंक्ति' जैसे 'नाम' शब्द कहते हैं। यदि 'उपक्रम-प्रभृत्यपवर्ग-पर्यन्तम्' अंश इस वाक्य से भी सम्बन्ध कर दिया जाय तो इस वाक्य का अर्थ और स्पष्ट हो सकता है। अभिप्राय यह है कि 'व्रज्या:' पंक्ति' जैसे भाववाचक 'नाम' शब्दों का प्रयोग करने पर क्रिया के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की जो अवस्था है वह, अपनी क्रमिकता छोड़कर, मूर्त, एवं सत्त्वभूत बनकर प्रकट होता है। 'व्रजति' 'पचति' इत्यादि 'आख्यात' शब्दों का प्रयोग करने पर प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की क्रिया प्रकट नहीं होती। वहाँ क्रिया समाप्त नहीं हुई रहती इसलिये अन्तिम अवान्तर क्रिया से पहले तक की अवान्तर क्रियाओं के समूह का बोध ही वहाँ अभिप्रेत होता है। यहाँ 'नाम' शब्दों से वे शब्द अभिप्रेत हैं जो व्याकरण के अनुसार, धातुओं के साथ 'कृत्' प्रत्ययों के संयोजन से निष्पन्न हो सकते हैं। 'कृत्' प्रत्ययान्त 'व्रज्या' 'पंक्ति' इत्यादि शब्द 'द्रव्य'

शब्दों के समान होते हैं ऐसा वैयाकरणों का सिद्धान्त है—**कृद् अभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति**। इसलिये 'सिद्ध भाव' के वाचक इन कृदन्त शब्दों का सम्बन्ध सख्या, विभक्ति तथा लिङ्ग से होता है जब कि 'साध्य भाव' के वाचक 'आख्यात' शब्दों का इनसे सम्बन्ध नहीं होता। बृहद्देवताकार ने इस अभिप्राय को निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है:—

क्रियाभिनिवृत्त वशोपजात कृदन्तः शब्दाभिहितो यदा स्यात्।
सख्या विभक्ति व्यय-लिंग-युक्तो भावस् तदा द्रव्यम् इवोपलक्ष्यः (१/४५)

टिप्पणी—तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः इस अंश को प्रो० गुणे तथा डॉ० लक्ष्मण सरूप ने एक और तरह से संगति लगायी है। उनका विचार है कि यहाँ 'यत्र' पद का अभिप्राय वाक्य न होकर 'व्रज्या' 'पंक्ति' इत्यादि भाववाचक 'नाम' शब्दों की ओर यास्क का संकेत है जो, 'व्रजति, 'पचति' आदि आख्यात शब्दों के समान 'भाव' अथवा व्यापार को ही कहते हैं तथा इसी कारण 'भाव-प्रधान हैं। जब 'आख्यात' तथा 'नाम' दोनों ही भाव-प्रधान हों तो वहाँ दोनों में अन्तर किस प्रकार किया जाय? इस प्रश्न का ही उत्तर आगे के अंश 'पूर्वापरीभूतं भावम्०' इत्यादि से यास्क ने किया है इस विचार के अनुसार 'तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः' यहाँ 'भवतः' के पश्चात् पूर्ण विराम न मानकर अर्ध विराम मानना चाहिए क्योंकि उसके बाद अगले अंश को इससे सम्बद्ध करना होगा। पहले जो व्याख्या की गयी उसके अनुसार 'तद्यत्रोभे' इस अंश के बाद अर्ध विराम मानकर 'भवतः' के पश्चात् पूर्ण विराम माना जाता है।

परन्तु प्रो० गुणे तथा डॉ० सरूप की व्याख्या के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल पाता कि वाक्य में 'आख्यात' तथा 'नाम' दोनों प्रकार के शब्दों के प्रयुक्त होने पर 'भाव' तथा 'सत्त्व' में से किस की प्रधानता मानी जाय। जहाँ तक भाववाचक 'नाम' तथा 'आख्यात' के भेद को स्पष्ट करने की बात है वह तो पहली व्याख्या में भी आ जाती है।

नाम 'आख्यात' के सामान्य एवं विशेष रूप का प्रदर्शन

मूल—'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशः। 'गौर्' 'अश्वः' 'पुरुष

हस्ति' इति। 'भवति' इति भावस्य। 'आस्ते' 'शेते', 'व्रजति', 'तिष्ठति' इति।

अनुवाद—'अदस्' (इस प्रकार के सर्वनाम शब्दों) के द्वारा 'नाम' (वस्तुओं या सिद्धि-भाव) का (सामान्य रूप से) कथन होता है तथा 'गो अश्व' 'पुरुष' हाथी', (इत्यादि शब्दों से) विशेष रूप से। (इसी प्रकार) 'भवति' (जैसे अस्तित्व के वाचक तिङन्त पदों) के द्वारा साध्यभाव (अथवा क्रिया) का सामान्य रूप से कथन होता है तथा 'आस्ते', 'शेते' व्रजति' तिष्ठति (इत्यादि विशिष्ट क्रिया के वाचक तिङन्त पदों) के द्वारा विशेष रूप से।

व्याख्या—यास्क की वाक्य-रचना प्राय: अतीव संक्षिप्त एवं सूत्र शैली के समान है। इसीलिये 'सत्त्वानाम्' तथा 'उपदेश के बीच 'सामान्येव' का तथा गौर्' अश्व पुरुषो हस्तीति' के पश्चात् 'सत्त्वानां विशेषणोपदेश: का अध्याहार करना पडता है। इसी प्रकार 'भवतीति भावस्य' के पश्चात् 'सामान्येन उपदेश:' तथा 'तिष्ठतीति' के पश्चात् 'विशेषणोपदेश:' का अध्याहार करना आवश्यक है।

अभिप्राय यह है 'अदम्' या इदम्' जैसे सर्वनामों के द्वारा समान्यतया सभी 'नाम' शब्दों का कथन होता है। वस्तुत: 'सर्वनाम' कहा ही उन शब्दों को जाता है जिनका प्रयोग किसी एक के लिए निश्चित न होकर सबके लिये समान रूप से किया जा सके। इसीलिये 'सर्वेषां नाम सर्वनाम' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'सर्वनाम' को अन्वर्थक संज्ञा माना गया। इसके विपरीत 'गो' 'अश्व' इत्यादि शब्द किसी विशिष्ट 'नाम' या द्रव्य के वाचक है। इसी कारण इस प्रकार के शब्दों को 'सर्वनाम' नहीं कहा जाता।

'नाम' शब्दों में जिस प्रकार सामान्य तथा विशेष रूप पाया जाता है उसी प्रकार तिङन्त पदों मे भी दो प्रकार की स्थिति पायी जाती है। वे 'आख्यात' शब्द जो केवल अस्तित्व या सत्ता मात्र को कहते हैं उन्हें क्रिया सामान्य (प्रत्येक क्रिया में समान रूप से रहने वाले 'भाव') का वाचक माना जाता है। इसका कारण यह है कि 'अस्तित्व' या सत्तारूपता तो सभी क्रियाओं में समान रूप से रहती है। परन्तु 'आस्ते', 'शेते' इत्यादि पद क्रिया-सामान्य के वाचक न होकर 'बैठने', 'सोने' इत्यादि विशेष क्रियाओं के ही वाचक हैं।

औदुम्बरायण का शब्द-नित्यत्व पक्ष और उसके दोष

मूल—इन्द्रिय नित्यं वचनम् ओदुम्बरायण:। तत्र चतुष्टयं नोपपद्य अयुगपद् उत्पन्नां वा शब्दानाम् इतरेतरोपदेशः, शास्त्रकृतो योगश्च।

अनुवाद—शब्द (जिह्वा) इन्द्रिय में (ही) नित्य है, ऐसा औदुम्बरा (आचार्य) का मत है। इस मत में (पदों के) चार विभाग नहीं बन पाते। भिन्न समय में उत्पन्न हुए शब्दों का एक दूसरे के प्रति (गौण-प्रधान-भाव सम्बन्ध तथा (व्याकरण) शास्त्र में प्रदर्शित (प्रकृति प्रत्यय आदि का) संयोग नहीं सुसंगत हो पाता।

व्याख्या—औदुम्बरायण एक प्राचीन आचार्य हो चुके हैं। यास्क ने जिस रूप में यहाँ उद्धृत किया है उससे यह प्रतीत होता है कि वे शब्द अनित्य मानते थे—केवल वाग् इन्द्रिय में ही उसकी सत्ता मानते थे। अ जब तक जिह्वा वाणी या शब्द का उच्चारण करती है तभी तक शब्द की है तथा उच्चरित होते ही वह नष्ट हो जाता है। सम्भवत: इस मत में तथा उसकी ध्वनि में कोई अन्तर न मानते हुये ध्वनि को ही शब्द माना रहा।

पर यदि शब्द को इस प्रकार अनित्य स्वभाव वाला माना गया तो, उ अनित्यता के कारण 'नाम, 'आख्यात' 'उपसर्ग' तथा 'निपात' ये चतुर्विध वि नहीं बन सकेंगे। इसका कारण यह है कि जब शब्द उच्चरित होते ही हो जाता है, यह मान लिया गया तो फिर वाक्य में अनेक शब्दों की एक स्थिति सम्भव नहीं है। और शब्दों की एक साथ स्थिति न होने पर 'न 'आख्यात' आदि का विभाग किया जाना भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के जब वक्ता 'गौ:' गृहम् आयाति कहेगा तो जब तक उसकी वाणी 'ग' उच्चारण करके आगे 'औ' को उच्चारण करने का प्रयास करेगी उस 'ग' नष्ट हो चुका होगा। इस प्रकार एक पूरा शब्द भी एक साथ उप नहीं हो सकेगा पूरे वाक्य की तो बात ओर है। जब ये तीनों शब्द एक उपस्थित नहीं हो सकेंगे तब यह कैसे कहा जा सकता है कि 'गौ:' तथा नाम शब्द हैं तथा 'आयाति' आख्यात शब्द हैं। द०—एकैकवर्ण वर्तिनी वा

युगपद् उच्चारयति। 'गौर्' इति यावद् गकारे वाग् वर्तते नौकारे न विसर्जनीये; यावद् औकारे न गकारे न विसर्जनीये, यावद् विसर्जनीये न गकारे नौकारे" (महाभाष्य १/४/४०९)।

इसी तरह चूंकि शब्द एक साथ उच्चरित हो नहीं सकते इसलिये, उनमें कौन शब्द प्रधान है तथा कौन अप्रधान है अथवा कौन विशेषण है, कौन विशेष्य है, इस प्रकार का शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। जब 'गौः गृहम् आयाति' इत्यादि वाक्यों में सभी शब्द एक साथ विद्यमान ही नहीं हैं तो फिर एक-दूसरे की दृष्टि से प्रकर्षापकर्ष या प्रधानाप्रधान-भाव का निर्णय करना तथा यह कहना कि 'गौः' और 'गृहम्' शब्द अप्रधान हैं तथा 'गच्छति' शब्द प्रधान है या इसी तरह 'शुक्ला' 'गौः' में 'शुक्ला' विशेषण है तथा 'गौः' विशेष्य है इस प्रकार का कोई भी निर्धारण या विचार सुसंगत नहीं हो सकता।

औदुम्बरायण के इस सिद्धान्त में तीसरा दोष यह है कि व्याकरणशास्त्र में शब्दों के स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए उनमें प्रकृति-प्रत्यय का संयोग या धातु उपसर्ग तथा संयोग आदि दिखलाया गया है। यह सब असंगत हो जायगा क्योंकि जब पूरा छन्द ही विद्यमान नहीं—विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं नष्ट हो जाती हैं—तो प्रकृति तथा प्रत्यय धातु और उपसर्ग आदि भी एक साथ विद्यमान है तो प्रकृति नहीं, रह सकती है तो प्रत्यय नहीं और जब प्रत्यय है तो प्रकृति नहीं, जब धातु है तो उपसर्ग नहीं और जब उपसर्ग है तो धातु नहीं—तो ऐसी स्थिति में इन दोनों के योग की कल्पना कैसे सम्भव हो सकती है।

'शास्त्रकृतः' शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है एक शास्त्रेण कृतो योगः शास्त्रकृतो योगः अर्थात् व्याकरणशास्त्र में प्रदर्शित प्रकृति प्रत्ययादि का सम्बन्ध तथा दूसरी शास्त्रं करोति इति शास्त्रकृत् आचार्यः' तस्य योगः अर्थात् व्याकरणशास्त्र को बनाने वाले आचार्यों के द्वारा प्रदर्शित प्रकृति-प्रत्ययादि का सम्बन्ध। इन दोनों व्याख्याओं में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।

दुर्गाचार्य ने यहाँ युगपद् उत्पन्नानाम् इतरेतरोपदेशः शास्त्रतो योगश्च पाठ मानकर इस स्थल की एक दूसरी व्याख्या की है कि यदि 'अखण्ड वा स्फोट', अर्थात् वाक्य सर्वथा एक अखण्ड एवं अविभक्त रूप में ही रहता वाक्य का पदों और वर्णों में जो विभाग है वह सर्वथा काल्पनिक—असत का सिद्धान्त माना गया तो भी ये दोष उसी रूप में बने रहते हैं। वाक्य द्वितीय काण्ड में भर्तृहरि ने वाक्यस्फोट सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक के रू आचार्य वार्ताक्ष तथा औदुम्बरायण का नाम लिया है।

यास्क का शब्द-नित्यत्व पक्ष

मूल—व्याप्तिमत्त्वात् तु शब्दस्य।

अनुवाद—परन्तु शब्द के व्याप्तिमान् नित्य (होने) के कारण उ तीनों दोषों का समाधान हो जाता है।

व्याख्या—शब्द तथा ध्वनि ये दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। शब्द नि अर्थात् सदा ही वक्ता और श्रोता की बुद्धि अथवा हृदय में विद्यमान रहता ध्वनियों के द्वारा केवल उसकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। शब्द ध्वनियों के द्वारा होने वाली, यह अभिव्यक्ति ही अनित्य है क्योंकि ध्व वाग् इन्द्रिय आदि के द्वारा उच्चरित होती हैं तथा तुरन्त नष्ट हो जाती परन्तु शब्द अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त चाहे जिस रूप में रहे—दोनों स्थि में यह नित्य है। पतञ्जलि ने महाभाष्य (१/१/७०) में स्फोटस् तावान् ध्वनिकृता वृद्धिः कहकर शब्द के इसी नित्य रूप को स्पष्ट किया है। शब्द इस नित्य स्वरूप की दृष्टि से ही शब्द का दूसरा नाम 'स्फोट' या 'शब्द पड़ा। कात्यायन, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि ने न केवल शब्द को ही शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है। इस रूप में शब्द नित्य होने के कारण शब्दों के उपर्युक्त चार प्रकार का विभाजन वाक्य विद्यमान शब्दों का पारस्परिक गौण-प्रधान-भाव तथा प्रकृति-प्रत्यय या उपसर्ग आदि का योग अर्थात् सम्बन्ध, सब कुछ उत्पन्न हो जायगा।

शब्द प्रयोग की आवश्यकता

मूल—अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अनुवाद—अत्यन्त सरल (एवं स्पष्ट) होने के कारण लोक में (पारस्परिक) व्यवहार के लिये शब्द से (ही वस्तु या व्यक्ति का) नाम रखा जाता है।

व्याख्या—यहाँ यह पूछा जा सकता है कि विचारों के आदान-प्रदान के लिए शब्दों का या शब्दों के समूह भाषा का माध्यम क्यों अपनाया जाये? विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं, जैसे—हाथ या आँख के इशारे, तथा अन्य संकेतों से भी तो काम चलाया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यास्क ने संक्षेप में यह कहा है कि भावों या विचारों को अधिक से अधिक सरल तथा सुस्पष्ट रूप में शब्दों के माध्यम से ही प्रकट किया जा सकता है। संकेत या शारीरिक चेष्टाओं द्वारा बहुत थोड़ी बातें प्रकट की जा सकती हैं तथा साथ ही उनमें बहुत कुछ अस्पष्टता एवं संन्दिग्धता बनी ही रहेगी। इसके अतिरिक्त इशारों और संकेतों से बातें बताने में देर ही लग सकती है। इसीलिये वस्तुओं तथा व्यक्तियों के नाम शब्दों के द्वारा रखे गये तथा शब्दों का ही विभिन्न अर्थों में संकेत किया गया जिन्हें उन शब्दों का अर्थ कहा जाता है। शब्द तथा उनके, विशिष्ट एवं सुव्यवस्थित, समूह भाषा में अर्थ-प्रकाशन की अद्भुत क्षमता को देखकर ही दण्डी ने यह स्वीकार किया कि यदि 'शब्द' नामक ज्योति संसार में प्रदीप्त न हुई होती तो यह सारा संसार घोर अज्ञानान्धकार से आच्छादित रहता। द्र०—

इदम् अन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह् वयं ज्योतिर् आसंसा रान्न दीप्यते ॥ (काव्यादर्श—१/४)

लौकिक तथा वैदिक भाषाओं की समानता

मूल—तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

अनुवाद—वे (शब्द) जिस प्रकार (लौकिक भाषा में) मनुष्यों के प्रति विभिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं उसी प्रकार वैदिक भाषा में वे देवताओं के प्रति (विभिन्न अभिप्रायों को भी) प्रकट करते हैं।

व्याख्या—जहाँ तक अर्थ-प्रकाशन की क्षमता का सम्बन्ध है, लौकिक भाषा या वैदिक भाषा दोनों ही समान हैं। यहाँ 'मनुष्यवद्' शब्द में 'तत्र तस्येव' (अष्टा० ५/१/११६) सूत्र से सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय मानना

चाहिये तथा 'मनुष्येषु इव' अर्थ करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रकार लौकिक भाषा में 'गो' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर 'गाय' आदि अर्थों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार वैदिक भाषा में भी इन आदि शब्दों का प्रयोग करने पर 'गाय', पृथ्वी', 'किरण', 'वाणी' का ज्ञान होता है। जिस प्रकार 'देवदत्त'! आयाहि दुग्धं पिब' यह देवदत्त को यह बताता है कि 'देवदत्त तुम आओ और दूध पीओ।' प्रकार वायवायाहि दर्शते सोमा अलंकृताः (ऋ० वे० १/२/१) इत्यादि मन्त्रों के शब्द भी वायु इत्यादि देवों के प्रति यह कहते हैं कि 'वायु देव आओ देखो यह सोम रस से भरे पात्र सजे हुए हैं।' अभिप्राय यह है जिस प्रकार लौकिक भाषा के शब्द अर्थ के वाचक है, उसी प्रकार वे शब्द भी अर्थवान् हैं। इसी बात को आगे भी मन्त्रों की, सार्थकता करते हुए 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' कह कर भी यास्क ने स्पष्ट किया तथा इसी दृष्टि से मीमांसकों की—**य एव वैदिका शब्दास् त एव लौकि स एव च तेषाम् अर्थाः**—यह परिभाषा प्रसिद्ध हुई।

वैदिक मन्त्रों की आवश्यकता

मूल—पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर मन्त्रो वेदे।

अनुवाद—पुरुष के ज्ञान के अनित्य होने के कारण वेद में कर्मों सम्पूरक मन्त्र (सगृहीत) हैं।

व्याख्या—यह पूछा जा सकता है कि यदि वैदिक भाषा और लौकिक भा दोनों समान रूप से सार्थक हैं तो फिर यज्ञ आदि कार्यों में वैदिक मन्त्रों प्रयोग की अनिवार्यता क्यों मानी जाती है। अपनी इच्छानुसार जिस कि भी भाषा में रचित पद्यों या वाक्यों द्वारा यज्ञ आदि कार्य क्यों न किए जा इस प्रश्न का उत्तर यास्क यह देते हैं कि दोनों भाषाओं के समान होने भी वेद-मन्त्र अपौरुषेय हैं और लौकिक भाषा में निबद्ध वाक्य या पद्य पौरु हैं, मानव निर्मित हैं। भारतीय परम्परा इस बात को मानती आयी कि वेद मानवीय ज्ञान न होकर स्वतन्त्र रूप से समुद्भूत शाश्वत ज्ञान जिसका ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किया गया। दूसरी ओर मानव का ज्ञा

अनित्य है, अपूर्ण है, तथा उसकी शक्ति एवं बुद्धि सीमित है। इसलिये उसकी भाषा में भी यह अपूर्णता अवश्य होगी। अत मानवीय भाषा का प्रयोग होने पर यज्ञ आदि कार्यों की फलोत्पादकता या दूसरे शब्दों में इनकी सफलता के विषय में सन्देह हो सकता है। परन्तु वेद-मन्त्र के द्वारा किए जाने पर यज्ञ आदि कार्य निश्चित रूप से फल के उत्पादक होंगे। वे यज्ञ आदि कार्य पूर्ण ही तब माने जायेंगे जब उनमें वैदिक मन्त्रों का प्रयोग एवं विनियोग किया जायेगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने इसी बात को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है—एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्ध यत् कर्मक्रियमाणम् ऋग् यजुर् वाभिवपदति (गोपथ ब्राह्मण २/२/६) अर्थात् यज्ञ आदि की पूर्णता तो यही है कि वे रूप से समृद्ध हों—उनमें जो कार्य किया जा रहा है उसे ऋक् तथा यजुष् के मन्त्र भी कह रहें हों।

यहाँ कर्म-सम्पत्तिः' शब्द मन्त्र का विशेषण है। 'सम्पत्ति' शब्द में 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'पद्' धातु से 'करण' अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय मानकर उसका अर्थ यह करना होगा कि यज्ञ आदि कर्मों की सम्पूर्णता या सफलता जिससे होती है ऐसा मन्त्र।

इस वाक्य के 'पुरुष विद्यानित्यत्वात्' इस समस्त पद की ऊपर की व्याख्या में 'पुरुषस्यविद्याया अनित्यत्वात्' यह विग्रह किया गया। इसका दूसरा विग्रह किया जाता है—'पुरुष विद्याया नित्यत्वात्' अर्थात् परम पुरुष की विद्या के नित्य होने के कारण वेद में कर्मों को सफल बनाने वाले मन्त्र हैं। इस दूसरे विग्रह में अर्थापत्ति से यह पता लगता है कि मानव की विद्या अनित्य है अतः उनकी भाषा के वाक्य यज्ञ आदि कार्यों को सफल नहीं बना सकते। दोनों विग्रहों में एक ही अर्थ प्रकट होता है। अन्तर केवल इतना है कि एक जो बात साक्षात् कही गई है वह दूसरे में अर्थापत्ति से जानी जाती है।

भाव के छः प्रकार तथा उनके अभिप्राय

1992

मूल—षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते विनश्यति इति।

'जायते' इति पूर्वभावस्य आदिम् आचष्टे, न अपरभावम् आचष्टे न

प्रतिषेधति। 'अस्ति' इत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। 'विपरिणम' इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद् विकारम्। वर्धते, इति स्वाङ्गाभ्युच्चय सांयौगिकानां वाऽर्थानाम्। वर्धते विजयेन' इति वा, वर्धते शरी इति वा। 'अपक्षीयते' इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। 'विनश्य इत्यपरभावस्य आदिम् आचष्टे न पूर्वभावम् आचष्टे न प्रतिषेधा अतोऽन्ये भाव-विकारा एतेषाम् एव विकारा भवन्तीति ह स्माह। यथावचनम् अभ्यूहितव्याः।

अनुवाद — छः प्रकार के भाव विकार होते हैं—उत्पन्न होना, परिव होना, बढ़ना, घटना तथा नष्ट होना यह वार्ष्यायणि का मत है 'जायते' (शब्द) पूर्वभाग (उत्पत्ति) के प्रारम्भ को कहता है, अपरभाव होना को तो कहता है न (उसका) प्रतिषेध करता है। 'अस्ति' (होना) (रूप भा उत्पन्न पदार्थ की स्थिति को (कहता) है। 'विपरिणमते' यह (परिणत हो रूप भाव) अपने स्वरूप से अपरिवर्तित वस्तु के विकार को (कहता है) 'व यह (बढ़ना रूप भाव) अपने अङ्गों अथवा स्व सम्बद्ध पदार्थों की वृद्धि (पुष्टि) को (कहता है) (जैसे) 'विजयेन वर्धते अथवा 'शरीरेण वर्धते 'अपक्षीयते' यह (घटना) रूप भाव इसी ('वर्धते' की व्याख्या) से विपरीत में व्याख्यात हो गया। 'विनश्यति' यह (नष्ट होना रूप भाव) अन्तिम भ (नाश) के प्रारम्भ को कहता है। (इससे) पहले के भाव (घटना) को न कह है और न (उसका) निषेध करता है। इन (छः भाव विकारों से) अन्य भ विकार इनके ही विकार (अवान्तर) भेद हैं ऐसा (वार्ष्यायणि ने) कहा है उन (भाव विकारों) का वचन (प्रसङ्ग या मन्त्र) के अनुसार निश्चय कर ले चाहिये।

व्याख्या—पहले 'आख्यात' की परिभाषा में 'भावप्रधानम्' शब्द आया था वहाँ 'भाव का अर्थ 'साध्य-भाव' अथवा व्यापार या क्रिया है। उसी 'भा की दृष्टि से यहाँ भाव-भेदों की चर्चा की जा रही है। यद्यपि 'भाव' अथ सामान्य क्रिया के अनन्त भेद हो सकते हैं। परन्तु प्रमुख रूप से, एक प्राची आचार्य, वार्ष्यायणि ने 'भाव' के छः भेद माने हैं। बृहद्देवता (२/१/२०), मह

भाष्य (१/३/१) तथा वाक्यपदीय (१/३) में भी छः भाव-भेदों की चर्चा मिलती है। पहले दो ग्रन्थों में तो वार्ष्यायणि का नाम लिया गया है, पर तीसरे में बिना नाम के ही इन छः विकारों का उल्लेख है।

आचार्य वार्ष्यायणि का विचार यह है कि उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों में ये छः विकार देखे जाते हैं। इन विचारों का स्वभाव यह है कि वे अपने से पहले आने वाले विकार के समय में ही सूक्ष्म रूप से अपना स्वरूप धारण करने लगते हैं और अपने से पहले वाले विकार के तिरोहित हो जाने पर अपने स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट करते हैं।

यहाँ प्रथम भाव विकार है 'जायते' अर्थात् उत्पन्न होना। बीज से जब अंकुर निकलता है तब यह कहा जाता है कि अंकुर पैदा हुआ। यद्यपि 'पैदा होना' के साथ-साथ 'होना रूप क्रिया या भाव विकार भी हैं ही। परन्तु यहाँ 'जायते' शब्द 'उत्पन्न होने' रूप भाव विकार को ही कहता है, 'होने' रूप भाव विकार को नहीं कहता और न उस 'भाव' का प्रतिषेध करता है। कहता इसलिये नही कि 'जायते' का अर्थ केवल 'होना' न होकर 'उत्पन्न होना' अर्थ है और निषेध इसलिये नहीं करता कि 'उत्पन्न होना' रूप भाव विकार हो ही तब कह सकता है जब कोई पदार्थ हो, अर्थात् वहाँ 'होना' रूप भाव-विकार भी हो। यदि अंकुर उत्पन्न होता है, यह कहा भी नहीं जा सकता।

दूसरा भाव-विकार है 'अस्ति' जिसका अर्थ है 'होना', अपनी सत्ता धारण करना'। वैयाकरणों ने भी 'अस्ति' का अर्थ किया है 'आत्म-धारणानुकूलो व्यापारः'। 'अस्ति', 'भवति', 'विद्यते', वर्तते' ये सभी धातुएँ सामान्य सत्ता अथवा 'भाव' को ही कहती है, जिसका अर्थ होता है—अपने को 'धारण करना'। इसीलिये यास्क ने 'भवति इति भावस्य' कहकर 'सत्ता' को भाव-सामान्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। कैयट ने इसी दृष्टि से 'आत्म-भरण-वचनो भवतिः' (महाभाष्य १/३/१, पृ० १६५) कहा भर्तृहरि से 'अस्ति' के अर्थ के विषय में चर्चा करते हुए यह कहा कि 'अपने को अपने द्वारा धारण करने की स्थिति को 'अस्ति' पद के द्वारा कहा जाता है—आत्मानम् आत्मना बिभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते' वाक्यपदीय (३, सं०, ७)।

तीसरा भाव विकार है—'विपरिणमते' जिसका अभिप्राय है 'परिवर्तन,।

यहाँ 'परिवर्तन' का अभिप्राय वह सामान्य विकार है जिसमें वस्तु अपने मौलिक धर्म, तत्त्व या स्वभाव से रहित नहीं होता। जैसे मानव शरीर में विविध परिवर्तन हो सकते है, परन्तु शरीर के स्वभाव में कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

चौथा विकार है 'वर्धते' अर्थात् 'वृद्धि'। यह 'वृद्धि' दो प्रकार की हो सकती है। पहली अपने शरीर की वृद्धि तथा दूसरी अपने से सम्बद्ध या संयुक्त पदार्थों की वृद्धि अथवा पुष्टि। यहाँ निरुक्त में 'स्वाङ्ग' शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में किया गया है—शरीर के अङ्ग के अर्थ में नहीं। पहले प्रकार की 'वृद्धि' की दृष्टि से 'वर्धते शरीरेण' यह उदाहरण दिया गया तथा दूसरे प्रकार की दृष्टि से 'वर्धते विजयेन' उदाहरण दिया गया। इस प्रकार के और उदाहरण 'वर्धते धनेन', 'वर्धते यशसा' इत्यादि हो सकते हैं। निरुक्त में 'वर्धते शरीरेण' यह उदाहरण 'वर्धते विजयेन' के पहले आना चाहिये।

पांचवा भाव-विकार है 'अपक्षीयते' अर्थात् 'ह्रास' अथवा 'अपक्षय'। 'अपक्षय से 'विनाश' को छठे भाव-विकार के रूप में गिनाया गया है। यह 'ह्रास' भी 'वृद्धि' के समान दो प्रकार का हो सकता है–पहला शरीर का ह्रास तथा दूसरा अपने से युक्त या सम्बद्ध पदार्थों का ह्रास। पहले का उदाहरण है—'अपक्षीयते शरीरेण' तथा दूसरे का उदाहरण है—'अपक्षीयते अपजयेन' इत्यादि। इसीलिये यास्क ने यहाँ केवल "अपक्षीयते इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्" इतना कहना ही पर्याप्त समझा।

छठा भाव-विकार है 'विनश्यति' अर्थात् 'विनाश' यह इन छः भाव-विकारों में अन्तिम विकार है। जब 'ह्रास' अपनी अन्तिम सीमा पर आ जाता है तब 'विनाश' का प्रारम्भ माना जाता है। इसी कारण यह 'विनश्यति' पद अन्तिम भाव-विनाश' की प्रारम्भिक अवस्था को कहता है। परन्तु उससे पूर्व के भाव-विकार 'अपक्षय' को न तो कहता ही है और न उनका निषेध ही करता है। कहता इसलिये नहीं कि 'विनश्यति' का अर्थ 'अपक्षय' अथवा 'ह्रास' न होकर 'पूर्ण विनाश' हुआ करता है और निषेध इसलिये नहीं कर सकता है कि 'अपक्षय' के हुए बिना 'विनाश' हो ही नहीं सकता।

यास्क के अनुसार, वार्ष्यायणि का यह भी कहना है कि इन छः विकारों

के अतिरिक्त जितने भी भाव-विकार उपलब्ध होते हैं, उन सबको इन छः विकारों के अन्तर्गत ही मान लेना चाहिये।

अनुमान है कि आचार्य वार्ष्यायणि ने भाव-वि ारों के विषय में अपना कोई विशिष्ट ग्रन्थ लिखा होगा जिसमें अपनी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की होगी। परन्तु आज न तो उनका ग्रन्थ उपलब्ध है और न उनके विस्तृत विचार। प्रो० राजवाड़े ने अपनी व्याख्या (पृ० २२९-२८) में इस मत पर निम्न आक्षेप किये हैं—

१—'जायते शब्द का प्रयोग केवल सचेतन के लिये ही हो सकता है। परन्तु संसार में अनेक अचेतन वस्तुयें क्रियाशील दिखाई देती हैं। जैसे—पृथ्वी तथा अन्य नक्षत्रों का सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण। इस तरह की क्रियाओं को किस भाव विकार के अन्तर्गत माना जाये ?

२—'आस्ते' 'शेते', 'तिष्ठति' 'व्रजति' जैसी क्रियायें किस भाव-विकार में समाविष्ट होगी ?

३—अस्ति (होना) को अलग भाव-विकार क्यों माना गया जबकि 'अस्ति' सभी, 'जायते' इत्यादि भाव-विकारों में विद्यमान है। यहाँ तक कि 'जायते' के पूर्व भी 'अस्ति' की सत्ता माननी होगी क्योंकि सत्ता के बिना तो जन्म हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार अन्य पाँचों विकार भी तभी सम्भव हैं जब पदार्थ की सत्ता हो—उनका 'अस्ति' भाव हो।

४—'जायते' अथवा 'जन्म' भी तो एक प्रकार का 'विपरिणाम' ही है उसे अलग विकार क्यों माना जाय ? इतना ही क्यों 'वर्धते', 'अपक्षीयते' एवं 'विनश्यति' अर्थात् 'वृद्धि', ह्रास या विनाश ये तीनों विकार भी तो 'विपरिणाम' के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः इन्हें अलग भाव-विकार क्यों माना जाय ?

'जन्म' के बाद ही 'विपरिणाम' 'वृद्धि' इत्यादि विकारों की स्थिति क्यों मानी गयी जबकि जन्म के पूर्व भी माँ के पेट में 'विपरिणाम', वृद्धि, आदि विकार उपस्थित होते हैं।

उपसर्ग अर्थों के वाचक या द्योतक

मूल—'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुः' इति शाकटायनः।

नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति । 'उच्चावचाः पदार्था भवन्ति' इति गार्ग्यः । तद् य एषु पदार्थः प्राहुर् इमे तं नामख्यातयोर् अर्थविकरणम् ।

अनुवाद—स्वतन्त्र (रूप से प्रयुक्त) उपसर्ग निश्चय ही अर्थों को नहीं कहते अपितु 'नाम' तथा 'तिङन्त' पद के अर्थ सम्बन्ध के द्योतक मात्र होते हैं—यह शाकटायन का मत है। परन्तु (इसके विपरीत) गार्ग्य का मत यह है कि (उपसर्ग) विभिन्न अर्थों वाले होते हैं। तो इन (उपसर्गों) में जो पदार्थ (उपसर्ग पदों का अर्थ) है, जिसके द्वारा 'नाम' तथा 'आख्यात' के अर्थ में विकार (परिवर्तन) उत्पन्न हो जाता है, उसको ये (उपसर्ग) अच्छी तरह से कहते हैं।

व्याख्या—संस्कृत व्याकरण में उपसर्गों के द्योतकत्व तथा वाचकत्व पक्ष को लेकर बहुत प्राचीन काल से आचार्यों में विवाद चलता आ रहा है। इसी विवाद का उल्लेख यहाँ किया गया है। संस्कृत-व्याकरण के प्राचीन आचार्य, शाकटायन प्रथम पक्ष के प्रबल **पोषक हैं तथा, सम्भवतः** निरुक्त के प्राचीन आचार्य गार्ग्य दूसरे पक्ष के।

शाकटायन का यह विचार है कि उपसर्ग सदा ही नाम' (प्रातिपदिक) अथवा 'आख्यात' (तिङन्त) पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही आते हैं। कभी भी वे स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होकर किसी विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं करते। अतः यही मानना चाहिये कि उपसर्ग जिन 'नाम' या 'तिङन्त' पदों के साथ प्रयुक्त होते हैं उनके ही अर्थों को द्योतित करते हैं—स्वय किसी ऐसे अर्थ का कथन नहीं करते जो 'नाम' या तिङन्त' पदों के अर्थ से भिन्न अर्थ हों जिनके साथ ये प्रयुक्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि उपसर्ग के प्रयुक्त होने से जिस अर्थ का प्रकाशन होता है वह उपसर्ग का न होकर उन्हीं 'नाम' या 'तिङन्त' पदों का होता है—उपसर्ग तो केवल उन अर्थों का प्रकाशन या द्योतन मात्र करते हैं। जैसे घर में सारा सामान विद्यमान होने पर भी अन्धकार के कारण दिखाई नहीं देता पर जब दीपक जल जाता है तो वह सब दिखाई देता है। यहाँ जिस प्रकार दीपक उन सामान या वस्तुओं का द्योतक मात्र होता

है-लाने वाला नहीं होता–उसी प्रकार उपसर्ग भी केवल इन अर्थों के द्योतक मात्र होते हैं—वाचक नहीं।

निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् न निराहुः—शाकटायन के इस मत में इस बात पर जोर दिया गया है कि उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ का कथन निश्चित ही नहीं करते। 'निराहुः' प्रयोग में 'निर्' उपसर्ग निश्चय अर्थ का द्योतन करता है। ये उपसर्ग तो केवल इन अर्थों का द्योतन मात्र करते हैं, जो 'नाम' या 'आख्यात' पदो में सन्निहित (उपसंयुक्त) रहते हैं। कर्मोपसंयोग-द्योतकाः, का विग्रह है—**कर्मणः (अर्थस्य) उपसयोगः (सम्बन्धः) कर्मोपसंयोगः। तस्य द्योतका** कर्मोपसंयोग-द्योतकाः। 'नाम' और 'आख्यात' का अर्थ विशेष के साथ जो सम्बन्ध है—उसके उपसर्ग द्योतक होते हैं वाचक नहीं।

टिप्पणी—वैयाकरणों के सिद्धान्त में उपसर्ग अर्थ के द्योतक होते हैं, का आधार एक और मूलभूत सिद्धान्त यह है कि धातु अनेक अर्थ वाली होती है। द्र—अनेकार्था हि धातवो भवन्ति। तद् यथा वपि. प्रकरणे दृष्टश् छेदने चापि वर्तते—केशश्मश्रु वपति इति। ईडिः स्तुति चोदना-याच्ञासु दृष्टः प्रेरणे चापि वर्तते—'अग्निर्वा इतो वृष्टिम् इट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति'—इति। करोतिर् अभूत-प्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरण चापि वर्तते—'कटे कुरु' 'पादौ कुरु' उन्मृदान इति गम्यते। निक्षेपण चाऽपि वर्तते—'कटे कुरु' 'घटे कुरु' 'अश्मानम् इतः कुरु' स्थापय इति गम्यते एवम् इहापि तिष्ठतिरेव व्रजि-क्रियामाह तिष्ठतिर् एव व्रजिक्रिया या निवृत्तिम्। महाभाष्य (१/३/१) यहाँ पतञ्जलि के इस कथन का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि धातु पाठ में धातुओं के जिन-जिन अर्थों को प्रदर्शित किया गया है उनसे भिन्न अर्थों में भी धातुओं का प्रयोग होता है इसलिये यही मानना चाहिये कि 'स्था' धातु ही 'तिष्ठति' प्रयोग में 'ठहरने' अर्थ को तथा 'प्रतिष्ठते' प्रयोग में वही 'प्रस्थान करने या 'जाने' अर्थ को तथा 'प्रतिष्ठते' में विद्यमान 'प्र' उपसर्ग तो केवल इस बात का द्योतन करता है कि 'स्था' धातु का अर्थ यहाँ 'ठहरना' न होकर 'जाना' है।

आचार्य गार्ग्य का वाचकत्व पक्ष—नैरुक्त आचार्य गार्ग्य का यह निश्चित मत है कि उपसर्ग भी 'नाम' और 'आख्यात' के समान 'पद' है तथा उनके भी

अपने-अपने विविध अर्थ होते हैं, द्योतक नहीं। यह दूसरी बात है कि ये उपसर्ग स्वभावतः ऐसे अर्थ के वाचक होते हैं जो 'नाम' या आख्यात' पदों के ही अर्थों में विकार पैदा कर देते हैं जो 'नाम' तथा 'आख्यात' पदों में उपसर्ग के संयोग से जो अर्थ की भिन्नता आती है और उपसर्ग के हट जाने पर जो अर्थ की भिन्नता समाप्त हो जाती है, उसे अन्वयव्यतिरेक के नियम के अनुसार उपसर्गों का ही अर्थ मानना चाहिये। यह अर्थ-भिन्नता ही इन उपसर्ग पदों का अपना अर्थ है तथा उसे ये उपसर्ग 'प्राहुः'--अच्छी प्रकार कहते हैं, केवल द्योतन मात्र नहीं करते ।

'ते उपेक्षितव्याः का अर्थ है—इन उपसर्गों के विविध अर्थों के विषय में अच्छी प्रकार विचार करना चाहिए—उनकी परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रयोग से यह स्पष्ट है कि यास्क के समय शब्द 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'ईक्ष्' धातु उपेक्षा के आधुनिक अर्थ में प्रसिद्ध नहीं हो सका था।

टिप्पणी—उपसर्ग के विषय में नैरुक्तों का मत वैयाकरणों से भिन्न रहा है। नैरुक्त उपसर्गों को अर्थों का द्योतक न मान कर वाचक मानते रहे हैं। यह गार्ग्य के कथन से अनुमय है। शाकटायन का यह कहना है कि उपसग स्वतन्त्र रूप से अर्थों का कथन नहीं करते, बहुत सत्य नहीं है, क्योंकि वेदों में अनेक स्थानों पर केवल उपसर्ग अपने अर्थ में विशिष्ट किसी क्रिया को कहते हुये देखे जाते हैं, जैसे—

उद् उत्तमं वरुण पाशम् अस्मद् अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयम् आदित्य व्रते तवानागसोऽदियते स्याम ॥

(ऋ० वे० १/२४/१५)

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में पहले स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त उत्' तथा 'अव' उपसर्ग 'ऊपर की ओर खोलो' तथा नीचे की ओर खोलो' इन अर्थों को कहते हैं। यह कहना उचित नहीं है कि यहाँ ये उपसर्ग भी स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त न होकर 'श्रयाय' क्रिया से सम्बद्ध हैं क्योंकि 'श्रयाय' का तो अध्याहार करना पड़ता है। मन्त्रकर्ता ऋषि ने स्वयं उसका प्रयोग नहीं किया है।

उपसर्गों के इन स्वतन्त्र प्रयोगों तथा उनसे प्रकट होने वाले विशिष्ट अर्थों

को देखकर ही पतञ्जलि को भी, जो उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष के समर्थक हैं, यह कहना पड़ा कि उपसर्गों का यह स्वभाव है कि जब उनके साथ किसी क्रियावाचक शब्द का प्रयोग होता है तो वहाँ वे क्रिया विशेष को कहते हैं। परन्तु जहाँ उनके साथ तिङन्त पद का प्रयोग नहीं होता वहाँ साधन (कारक) से विशिष्ट क्रिया को कहते हैं—उपसर्गाश्च पुनर् एवम् आत्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते यत्र क्रिया विशेषम् आहुः। यत्र तु न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियाम् आहुः।

वैदिक प्रातिशाख्यकार भी संभवतः नैरुक्तों के इस वाचकता पक्ष से ही सहमत हैं, क्योंकि उपसर्गों के विषय में ऋक्-प्रातिशाख्य में 'उपसर्गा विंशतिर् अर्थवाचकाः (२/२०) तथा उपसर्गो विशेषकृत' (१२/२५) कहकर उन्हें विशिष्ट अर्थ का वाचक माना गया है।

वस्तुतः वैदिक मन्त्रों में उपसर्गों के स्वतन्त्र प्रयोगों को देखते हुए वैदिक भाषा की दृष्टि से उपसर्गों को अर्थ का वाचक मानना उचित भी प्रतीत होता है। हाँ लौकिक भाषा की दृष्टि से, जिनमें उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग कभी भी नहीं देखा जाता। वैयाकरण शाकटायन आदि का मत ग्राह्य है। परन्तु नैरुक्तों का प्रमुख सम्बन्ध केवल वैदिक भाषा से ही इसलिए रहा है। उन्होंने उपसर्गों को अर्थ का वाचक माना तथा सम्प्रति विद्यमान निरुक्त के प्रणेता आचार्य यास्क भी गार्ग्य के पक्ष से ही सहमत है। उपलक्षण के रूप में उपसर्गों के प्रधान अर्थों का प्रदर्शन करने के पश्चात् —एवम् उच्चावचान् अर्थान् प्राहुः इस वाक्य में प्राहुः शब्द यास्क को गार्ग्य के साथ सहमति को ही स्पष्ट रूप में कह रहा है। 'प्र + आहुः' अर्थात् उपसर्ग इन विविध अर्थों की अच्छी तरह प्रकृष्ट रूप में कहते हैं द्योतन मात्र नहीं करते।

उपसर्गों के कुछ प्रधान अर्थ

मूल—'आ' इत्यर्वागर्थे 'प्र' 'परा' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। 'अभि' इत्याभिमुख्यम्। 'प्रति' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। 'अति' 'सु' इत्यभिपूजितार्थे। 'निर्' 'दुर्' इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। 'नि' 'अव' इत्ति विनिग्रहार्थीयौ। 'उद्' इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। 'सम्' इत्येकीभावम्। 'वि' 'अप'

इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । 'अनु' इति सादृश्यापरभावम् । 'अपि' इति संसर्गम् । 'उप' इत्युपजनम् । 'परि' इति सर्वतोभावम् । 'अधि' इत्युपरिभावमैश्वर्यं वा । एवम् उच्चावचान् अर्थान् प्राहुः । तं उपेक्षितव्याः ।

अनुवाद—'आ' 'इधर' के अर्थ में (प्रयुक्त होता है) तथा 'प्र' और 'परा' इस ('आ') के विपरीत अर्थ (उधर) को (कहते हैं)। 'अभि' 'सामुख्य' (अर्थ) को (कहता है।) तथा 'प्रति' इस ('अभि') के विपरीत पीछे अर्थ को कहता है। 'अति' तथा 'सु' आदर, सम्मान अर्थ में (प्रयुक्त होते हैं) और 'निर्' तथा 'दुर्' अर्थ इन दोनों ('अति' तथा 'सु') के विपरीत (अनादर या अपमान) अर्थ को (कहते हैं) 'नि' तथा अव' विनिग्रह अर्थ वाले हैं तथा 'उत्' इस (विनिग्रह) के विपरीत अर्थ को कहता है। 'सम्' एकत्व (अर्थ) को (कहता है) तथा 'अनु' यह 'सादृश्य' तथा 'अपरभाव' (पीछे होने) को (कहता है)। 'उप' यह उपजन (आधिक्य) को (कहता है) 'परि' यह 'चारों ओर होने' को (कहता है)। 'अधि' यह ऊपर होना' अथवा 'ऐश्वर्य' को (कहता है)। इस रूप में (उपसर्ग) अनेक तरह के अर्थों को अच्छी तरह कहते हैं (द्योतन मात्र नहीं करते)। उन अर्थों पर ध्यान देना चाहिये।

व्याख्या—उपसर्गों के अर्थ प्रदर्शन में यास्क ने अपनी शैली के अनुसार बड़े संक्षेप से काम लिया है। यहाँ तक कि आवश्यक क्रियाओं का भी प्रयोग नहीं करना चाहा तथा उपलक्षण के रूप में उपसर्गों के बहुत प्रसिद्ध अर्थों को ही दिखाया है।

'आ' का अर्थ है अभिमुख सम्मुख या नीचे जैसे आयाहि दिवो वो रोचनाद् अधि (प्रकाशयुक्त द्युलोक से यहाँ आओ) 'प्र' तथा 'परा' उपसर्ग 'आ' के अर्थ से विपरीत—'उधर' 'दूर' तथा 'ऊपर'--अर्थ को कहते हैं। जैसे सुदेवोऽद्य प्रपतेत् (सुन्दर देव आज ऊपर उड़े) तथा परा मे यन्तिधीतयः (मरी स्तुतियाँ बहुत दूर तक जाती हैं) इसी प्रकार अन्य उपसर्गों का विविध अर्थों में प्रयोग द्रष्टव्य है।

इति प्रथमः पादः

———

द्वितीयः पादः

निपातों के विषय में विचार

मूल—अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे। अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि पदपूरणाः।

अनुवाद—अब निपातों का वर्णन किया जाता है। ये निपात, विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। कुछ (निपात) 'उपमा' अर्थ में, कुछ (निपात अर्थ 'समुच्चय' के अर्थ में तथा कुछ निपात 'पूर्ति' के लिए प्रयुक्त होते हैं।

व्याख्या—'नाम', 'आख्यात' तथा उपसर्गों की चर्चा कर चुकने के पश्चात् यास्क अब निपात विषयक विवेचन आरम्भ करते हैं। 'निपात' शब्द की निष्पत्ति 'नि' उपसर्गपूर्वक 'पत्' धातु से होगी। चूंकि ये निपात विविध अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, इसलिये इन्हें 'निपात' कहा जाता है। कुछ विद्वान् 'निपात' शब्द का अर्थ यह करते हैं कि ये शब्द भाषा में अज्ञात रूप से आ गिरे जिनके प्रकृति प्रत्यय आदि के विषय में स्पष्ट कुछ ज्ञात नहीं होता इसलिये उन्हें 'निपात' कहा गया।

'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' कहकर यास्क ने यह स्पष्ट कर दिया कि निपात भी विविध अर्थों के वाचक होते हैं। वैयाकरणों, ने कम से कम नवीन वैयाकरणों ने, निपातों को भी, उपसर्गों के समान, अर्थ का द्योतक ही माना है।

टिप्पणी—यास्क की निपात विषयक व्युत्पत्ति से तुलना करो—निपातानाम् अर्थवशान् निपातनात् (ऋ० प्रा० १२/२६) तथा वशात् प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते हि पदे (वृहद्देवता २/९३)।

अप्युपमार्थे······अपि पदपूरणाः—सामान्यतया निपात तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम वे जो 'उपमा' या जो 'सादृश्य' अर्थ को कहते हैं। दूसरे वे जो 'कर्मोपसङ्ग्रह' अर्थ वाले (अनेक अर्थों के सङ्ग्राहक या समुच्चायक) होते हैं

तथा तीसरे वे निपात हैं जिनका अपना अर्थ कोई नहीं होता—जो केवल या वाक्य की पूर्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। यास्क ने यहाँ तीनों प्रकार निपातों का निर्देश करते हुये, समुच्चय अर्थ वाले 'अपि' उपसर्ग का प्रयोग कि है जो सम्भवतः उनके समय में इस रूप में रखा जा सकता है—'निपा उपमार्थे च कर्मोपसंग्रहे च पदपूर्णाश्च भवन्ति' अर्थात् निपात 'उपमा' वाले, कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले तथा पद पूर्ति करने वाले होते हैं।

टिप्पणी—'उपमार्थः अर्थात् **उपमा एव अर्थ उपमार्थ तस्मिन् उप** अभिप्राय यह है कि उपमा, सादृश्य या तुलना रूप अर्थ को कहने के लिये। प्रकार 'कर्मोपसंग्रहार्थे' शब्द का विग्रह है। **कर्मणोः कर्मणां वा उपसंग्रहः पसंग्रह तस्मिन् कर्मोपसंग्रहार्थे**। निरुक्त में 'कर्म' शब्द का प्रयोग प्रायः अथवा 'अभिप्राय' के अर्थ में हुआ है। इसलिये 'कर्मोपसंग्रहार्थ' शब्द का अर्थोपसंग्रह' रूप अर्थ वाला। यास्क ने स्वयं 'कर्मोपसंग्रहार्थ' निपातों परिभाषा करते हुये 'कर्मोपसंग्रह' शब्द को 'अर्थोपसंग्रह परक माना है 'क संग्रहार्थ' का संक्षेप में तात्पर्य यह हुआ कि वह अर्थ जिसमें दो या दो से अ अर्थ एक साथ प्रकट होते हों, इस प्रकार का अर्थ समुच्चायक अथवा अ संग्रहके अर्थ है जिन निपातों का वे कर्मोपसंग्रहार्थीय निपात माने जाते हैं दोनों से भिन्न 'पदपूरण' निपात वे हैं जिनका कोई अर्थ नहीं होता। जै 'कम्', 'इम्', 'इद्', 'उ' इन निपातों का जहाँ अनर्थक प्रयोग देखा जा वहाँ, ऋग्वेद के छन्दोबद्ध मन्त्रों में पदपूर्ति अथवा चरणपूर्ति इनका प्र माना जाता है। परन्तु छन्द से इतर स्थलों में इनका प्रयोजन केवल वा अलंकृत करना माना जाता है। इन तीन प्रकार के निपातों की चर्चा बृहद् के निम्न श्लोक में भी की गयी है:—

कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात्।
ऊनानां पूरणार्था वा पादानाम् अपरे क्वचित्॥ (२/९

उपमार्थक निपात

मूल—तेषाम् एते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। 'इव' इति भाषा अन्वध्यायं च। **'अग्निर् इव'** (ऋ० वे० १०/८४/२) **'इन्द्र इव'** (ऋ १०/८४/१ इति।

'न' इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् । उभयम् अन्वध्यायम् । नेन्द्र देवम् अमंसत् (ऋ० वे० १०/८६/१) इति प्रतिषेधार्थीयः । पुरस्ताद उपाचरस् तस्य यत् प्रतिषेधति । 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (ऋ० वे० ८/२/१२) इति उपमार्थीयः । उपरिष्टाद् उपाचारस् तस्य येनोपमिमीते ।

'चिद्' इत्येषोऽनेककर्मा । आचार्यश् चिद् ब्रूयाद्' इति पूजायाम् । (आचार्यः कस्मात् ?) आचार्य आचारं ग्राहयति । आचिनोति अर्थान् । आचिनोति बुद्धिम् इति वा । 'दधिचित् इत्युपमार्थे कुलमाषांश् चिद् आहर' इत्यवकुत्सिते । 'कुलमाषाः' कुलेषु सीदन्ति ।

'न' इत्येषोऽनेककर्मा । 'इदं नु करिष्यति' इति हेत्वपदेशे । 'कथं नु करिष्यति' इत्यनुपृष्टे । 'नन्वेतद् अकार्षीद्' इति च । अथापि उपमार्थे भवति = 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः' (ऋ० वे० ६/२४/३) । वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः । 'वयाः' शाखा वेतेः, वातायना भवन्ति । 'शाखाः खशयाः शक्नोतेर् वा ।

अनुवाद—उन (तीन प्रकार के निपातों) में से ये चार निपात 'उपमा' अर्थ वाले हैं । 'इव' यह (निपात) भाषा (लौकिक संस्कृत) तथा वेद (दोनों) में (उपमा अर्थ वाला है) जैसे = 'अग्निर् इव' (अग्नि के समान), 'इन्द्र इव' (इन्द्र के समान) ।

'न' यह (निपात) भाषा में निषेध अर्थ वाला है । (परन्तु) वेद में (इसके) दोनों (निषेध तथा उपमा) अर्थ है । जैसे: नेन्द्रं देवम् अमसत (इन्द्र को देव नहीं माना) । यहाँ 'न' प्रतिषेध अर्थ वाला है । जब (यह 'न' निपात) प्रतिषेध करता है तब उसका (प्रतिषेध) से पहले प्रयोग किया जाता है । दुर्मदासो न सुरायाम् (सुरा-पान किये हुये लोगों के समान) यहाँ ('न', उपमा अर्थ वाला है । जिस ('न' निपात) से उपमा अर्थ कहा जाता है' उस (उपमावाचक 'न') का प्रयोग उपमान के पश्चात् किया जाता है ।

'चित्' यह (निपात) अनेक अर्थ वाला है। जैसे—'आचार्यश्' चिद् ब्रूयात् (केवल आचार्य ही इस अभिप्राय को बता सकते हैं)। यहाँ (चिद् प्रयोग) पूजा या आदर के अर्थ में हुआ है। आचार्य शब्द कैसे बना ?| आ (विद्यार्थी में) आचार (सदाचार) को धारण करता है, अर्थों (शास्त्रों के प्रायों) का संग्रह करता है तथा (शिष्य में) बुद्धि (ज्ञान-विज्ञान) का (संग्रह) करता है। 'दधिचित् (दहि के समान)। यहाँ (चित्) उपमा वाला है। 'कुलमाषांश चिद् आहर' (कुल्माषों को ही लाओ, और अधिक ला सकते हो ?)। यहाँ 'चिद्' निन्दा अर्थ वाला है। 'कुल्माष' कुलों में होते हैं या निकृष्ट माने जाते हैं।

'नु' यह (निपात भी) अनेक अर्थ वाला है। 'इदं नु करिष्यति' (चूंकि काम को करेगा इस कारण) यहाँ हेतु को कहने के लिये ('नु' का प्रयोग कि गया)। 'कथं नु करिष्यति' (अरे ? अरे वह कैसे करेगा ? यहाँ पुनः प्रश्न के लिये ('नु' का प्रयोग किया गया)। 'नन्वेतद् अकार्षीत्' ? क्या इस को पहले नहीं किया था ?) यहाँ भी (पुनः प्रश्न के अर्थ में 'नु' का प्रयोग है)। 'उपमा' का अर्थ भी 'नु' का प्रयोग होता है। जैसे—वृक्षस्य नु ते वयाः (हे बहुस्तुत ? वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी हे पुरुहूत ? (बहु द्वारा संस्तुत) वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी (सहायतायें) वयाः अर्थ है) शाखायें। 'वी' धातु से ('वयाः' शब्द बना है)। क्योंकि (शा वातायन (हवा से चलने वाली) होती हैं अथवा 'शक्' (धातु) से (शा शब्द बनाया जा सकता है)।

व्याख्या—यहाँ चार उपमार्थक निपातों की चर्चा की जा रही है। ये नि हैं 'इव', 'न', 'चित्' तथा 'नु' यद्यपि इनके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे नि हैं जिनका प्रयोग उपमा या सादृश्य अर्थ को बताने के लिये किया जाता है। —'वा' 'यथा' इत्यादि। परन्तु यहाँ उपलक्षण के रूप में केवल इन्हीं चार प्रस्तुत किया गया है। शौनक ने भी बृहद्देवता के उपमार्थक निपातों के में इन्हीं चार का उल्लेख किया है। द्र०—'इव न चिन्नु चत्वार उप भवन्ति ते' (२/९०)

इव—'इव' निपात सादृश्य या उपमा के अर्थ में बहुत अधिक प्रसिद्ध

दिक भाषा, लौकिक-संस्कृत भाषा तथा हिन्दी इत्यादि भाषाओं में भी इस निपात का सर्वाधिक प्रयोग 'उपमा' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये किया जाता है। यास्क ने इसी दृष्टि से भाषायां च अन्वध्यायं च यह कहना आवश्यक समझा। यहाँ 'भाषा' का अर्थ है लौकिक संस्कृत भाषा तथा 'अध्याय' शब्द का अर्थ है वेद। यही 'अध्याय' शब्द स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इत्यादि प्रयोगों के 'स्वाध्याय' शब्द में भी विद्यमान है। वेद के वाचक इस 'अध्याय शब्द' का सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'अनु' उपसर्ग के साथ 'अव्ययीभाव' समास किया गया। यह 'नित्य समास' है। इसलिये इसका विग्रह होगा—अध्याये इति अन्वध्यायम् (वेद में)।

टिप्पणी—वैदिक भाषा तथा अपने समय की लौकिक संस्कृत भाषा के भेद को स्पष्ट करने के लिये यास्क ने 'भाषा' तथा 'अध्याय' इन दो शब्दों का प्रयोग यहाँ किया है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में अनेक बार अपने समय में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के लिये 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। 'भाषा' शब्द के इस प्रयोग से यह स्पष्ट सूचित होता है कि इन आचार्यों के समय संस्कृत भाषा सामान्यतया बोल-चाल की भाषा थी। गोस्वामी तुलसीदास ने, अपने समय में बोली जाने वाली, हिन्दी भाषा के लिये 'भाषा' शब्द ठीक इसी रूप में प्रयोग किया है—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा—
भाषा-निबन्धनम् अतिमंजुलम् आतनोति ॥

(रामचरितमानस, मंगलाचरण श्लोक ७)

'न' निपात लौकिक संस्कृत तथा आजकल की हिन्दी इत्यादि भाषाओं में भी निषेध के अर्थ में ही प्रसिद्ध है। 'उपमा' के अर्थ में इस निपात का प्रयोग बाद की भाषाओं में नहीं दिखलाई देता। परन्तु वेद की भाषा में 'न' का अर्थ निषेध तो मिलता है साथ ही कुछ स्थलों पर इसका प्रयोग 'उपमा' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये भी हुआ है। सम्भवतः 'न' की इस उपमार्थता के कारण बाद में 'न' का एक अर्थ सादृश्य भी माना गया है। द्र०—

साहृश्यं तद्भावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

साथ ही नञ्-इव-युक्तम् अन्य सदृशाधिकरणे तथाहि अर्थगतिः यह परि भी 'नञ्' की सादृश्यार्थता के कारण ही जन्म ले सकी।

बृहद्देवताकार का कहना है कि मिताक्षर अथवा छन्दोबद्ध ग्रन्थ ऋग्वेद 'न' का उपमा अर्थ प्रयोग बहुत कम हुआ है। परन्तु निषेध के अर्थ में न अधिकतर प्रयोग हुआ है। द्र०—

उपमार्थे नकारस्तु क्वचिद् एव निपात्यते।
मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु प्रतिषेधे त्वनल्पश॥

प्रतिषेधार्थीयः—इसका विग्रह है प्रतिषेध एव अर्थः = प्रतिषेधार्थः। भवः प्रतिषेधार्थीयः। अभिप्राय यह है कि प्रतिषेध अर्थ को कहने वाला 'न' यहाँ प्रतिषेधार्थ शब्द से 'तत्रभवः' इस अर्थ में गृहादिभ्यश्च, (अष्टा० ४ १३८) सूत्र से 'छ' प्रत्यय करके 'प्रतिषेधार्थीय' शब्द बन सकता है।

निषेध अर्थ वाले 'न' के प्रयोग का उदाहरण है—नेन्द्रं देवम् अमंसत इस मन्त्रांश का अन्वय है—इन्द्रं देव न अमसत। अर्थात् इन्द्र को देव न माना। इस निषेध अर्थ वाले 'न' की पहचान निरुक्त में यह बताई गई कि 'न' का प्रयोग, जिसका प्रतिषेध करना होता है उससे पहले किया जाता है जैसे यहाँ 'अमंसत' से पहले 'न' प्रयोग हुआ है। क्योंकि मानने का ही निषेध यहाँ अभीष्ट है। 'उपचार शब्द का अर्थ है प्रयोग।

उपमा अर्थ वाले 'न' के प्रयोग का उदाहरण दुर्मदासो न सुराणाम् अर्थ सुरा पीने के पश्चात् उन्मत्त व्यक्ति के समान। 'दुर्मदः' शब्द के प्रथमा विभक्ति बहुवचन में 'दुर्मदाः' के स्थान पर 'दुर्मदासः' प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के प्रयोग प्राचीन वैदिक भाषा में अधिक मिलते हैं। द्र०—'आज्जसेर् असुक्' (अष्टा० ७।१।५०)

यास्क का कहना है कि इस उपमा अर्थ वाले 'न' की स्थिति निषेध अर्थ वाले 'न' की स्थिति से भिन्न प्रकार की है। इस 'न' का प्रयोग उपमान के पश्चात् किया जाता है जैसे—'सुरायाम् दुर्मदासः न, में उपमान भूत 'दुर्मदासः' के पश्चात् न का प्रयोग किया गया है। 'उपरिष्टात्' का अर्थ है ऊपर

आगे चलकर अर्थात् बाद में। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उपमार्थक न की यह स्थिति लौकिक संस्कृत में सर्वत्र पायी जाती है। परन्तु वैदिक मन्त्रों में इसके अपवाद भी मिल जाते हैं। जैसे—शुशुक्वान्सो न अग्नयः (ऋग्० वे० ५/८७/६) (अग्नि के समान प्रदीप्त) यहाँ उपमानभूत अग्नि के पहले ही 'न' का प्रयोग हुआ है।

चित्—'चिद् यह अनेक अर्थों वाला निपात है। इसके तीन अर्थों—आदर, 'उपमा' तथा 'निन्दा'—की दृष्टि से यहाँ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। पूजा अथवा आदर वाले 'चित्' का उदाहरण है। है—'आचार्यश् चिद् इदं ब्रूयात्' अर्थात् केवल आचार्य ही इतने बुद्धिमान् हैं कि वे इस बात को कह सकते हैं—बता सकते हैं—समझा सकते हैं—अन्य कोई भी नहीं बता सकता। यहाँ चित्' वक्ता के हृदय में आचार्य के प्रति विद्यमान आदर तथा सम्मान की भावना को प्रकट कर रहा है। यास्क ने यहाँ वैदिक उदाहरण न देकर लौकिक संस्कृत से ही उदाहरण दिया है।

आचार्य 'आचार्य' शब्द के विषय में यास्क ने तीन बड़ी सुन्दर व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि यास्क इस बात की परवाह नहीं करते कि व्याकरण की प्रक्रिया उनकी व्युत्पत्तियों का कहाँ तक साथ देती है, वे तो एकमात्र उस शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ को अपनी दृष्टि में रख कर उसके अनुसार अपनी व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। यास्क की व्युत्पत्तियों का मूल इसी दृष्टि से आँकना चाहिये।

पहली—व्युत्पत्ति है—'आचार्यः आचारं ग्राह्यति' अर्थात् आचार्य वह है जो विद्यार्थी को सदाचार की शिक्षा देता है—न केवल शिक्षा ही देता है अपितु उसमें सदाचार धारण करवाता है, उसे सदाचारी बनने के लिये प्रेरित करता है। यहाँ 'ग्राहयति' इस अर्थ में 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'चर' धातु से 'ण्यत्' जैसा कोई प्रत्यय करना होगा।

दूसरी—व्युत्पत्ति है—'अचिनोति अर्थान्' अथात् आचार्य वह है जो शिष्य की बुद्धि में विभिन्न अर्थों—शास्त्रों के रहस्यों—का सम्यक् चयन करता है। विद्यार्थी को शास्त्रों में निष्णात बनाता है। यहाँ 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'चि' धातु से किसी प्रकार आचार्य शब्द बनाना होगा।

तीसरी—व्युत्पत्ति है—'आचिनोति बुद्धिम् इति वा' अर्थात् आचार्य वह जो विद्यार्थी में विविध उत्तमोत्तम बुद्धि—ज्ञान, विज्ञान, अनुभव इत्यादि—का चयन करता है, चुन चुनकर उसे अपना ज्ञान देता है। यहाँ भी पूर्ववत् 'चि' धातु से ही आचार्य शब्द बनाना होगा। वस्तुतः इस तीसरी व्युत्पत्ति में 'आ' का अर्थ 'समुच्चय' मानना चाहिये। इन तीनों व्युत्पत्तियों में आचार्य 'शब्द' से प्रकट होने वाले अर्थ को स्पष्ट किया गया है और ये तीनों ही व्युत्पत्तियाँ मिलकर आचार्य की एक परिष्कृत परिभाषा प्रस्तुतः करती हैं।

टिप्पणी—क्षीरस्वामी ने अमरकोषोद्घाटन नामक, अमरकोष की टीका में आचार्य शब्द का अर्थ 'आचरणीय' अथवा 'सेव्य' किया है। मनुस्मृति में आचार्य की निम्न परिभाषा मिलती है—

उपनीय तु यः शिष्य वेदम् अध्यापयेत् द्विजः।
संकल्प सरहस्यं च तम् आचार्यं प्रचक्षते ॥

उपमार्थक 'चित्' का उदाहरण है 'दधिचित्' अर्थात् 'दही के समान' मट्ठा इत्यादि। दुर्गाचार्य ने 'दही के समान ओदन या भात' अर्थ किया है। यास्क ने यहाँ भी लौकिक उदाहरण ही दिया है। वस्तुतः 'इव' तथा 'न' के उदाहरणों के समान यहाँ वैदिक मन्त्रों से ही कोई उदाहरण देना चाहिये था। स्कन्द ने अपनी टीका के इस प्रसङ्ग में, अनेक वैदिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जैसे—कुमारश्चित पितरं वन्दमानः (ऋ० वे० २/३३/१२) पिता को प्रणाम करते हुए कुमार (के समान) इत्यादि।

'निन्दा' अर्थ वाले 'चित्' का उदाहरण है—'कुल्माषांश चिद् आहर' इस वाक्य का अभिप्राय है कि और कुछ तो तुम ला नहीं सकते, चलो कुल्माष ही ला दो। कोई अच्छी भोज्य वस्तु दे सकने की शक्ति तो तुम्हारे अन्दर है नहीं, इसलिये कुल्माष ही दे दो। इस प्रकार यहाँ 'चित्' निन्दा अर्थ को प्रकट करता है। 'कुल्माष' कोई कुत्सित या सामान्यतया गरीब या निम्न कोटि के मनुष्यों द्वारा भक्ष्य, निकृष्ट अन्न प्रतीत होता है।

'कुल्माष' शब्द की व्युत्पत्ति है—'कुलेषु सीदन्ति' अर्थात् कुल्माष को 'कुल्माष' इसलिये कहा जाता है कि वे धनी कुलों में पड़े-पड़े दुःखी होते हैं—

नष्ट होते हैं—खाये नहीं जाते। 'कुल्माष' की व्युत्पत्ति शवरस्वामी ने 'कुत्सितान् माषान्' किया है। वस्तुतः इस प्रकार के अत्यन्त रूढ़िभूत शब्दों की व्युत्पत्ति न तो बहुत आवश्यक है और न ही बहुत सुसंगत।

टिप्पणी—कोषों में 'कुल्माष' शब्द का अर्थ आधे पके गेहूँ, चने, इत्यादि मिलता है। कहीं-कहीं इसका अर्थ जौ भी मिलता है। द्र०—

अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः।
कुल्माषा इति ख्याताः शब्दशास्त्रेषु पण्डितैः॥

कोषकार भरत ने 'कुल्माष' का अर्थ खिचड़ी किया है। छान्दोग्य उपनिषद् (१/१०) में एक कहानी मिलती है कि एक उषस्ति चाक्रायण नामक व्यक्ति ने किसी धनी से, जो कुल्माष खा रहा था, भोजन माँगा। उस धनी ने कहा मेरे पास तो इन कुल्माषों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह सुनकर निर्धन ने कहा कि अच्छा इन कुल्माषों में से ही कुछ दे दो। इस कहानी से भी कुल्माष अन्न की निकृष्टता ज्ञात होती है।

निन्दा अर्थ वाले 'चित्' का उदाहरण भी यास्क ने लौकिक प्रयोगों से ही दिया है। 'वेदों में निन्दा अर्थ वाले चित्' के अनेक प्रयोग मिलते हैं। ऋग्वेद के एक ही मन्त्र में हीनता के द्योतक के लिये तीन बार 'चित्' का प्रयोग किया गया है। द्र०—

य उग्रेभ्यश् चिद् ओजीयान् शूरेभ्यश् चित शूरतरः।
भूरिदाभ्याम् चिन् महीयान्॥ ऋ० वे० ६/७/१०

यहाँ 'उग्रों', 'शुरों' तथा 'भूरिदाताओं' को इन्द्र से हीन बताया गया है।

'चित्' निपात 'समुच्चय' के अर्थ में भी मिलता है परन्तु उपलक्षण के रूप में इन 'पूजा' आदि अर्थों का ही यहाँ प्रदर्शन किया गया। वर्धमान ने अपनी गणरत्नमहोदधि में 'चित्' के 'साकल्य', 'अप्यर्थ', 'उपमान' तथा 'असंमति' ये चार अर्थ दिये हैं। (द्र०, पृ० २०)

अनु०—'चित्' के समान 'नु' उदाहरण—'इदं न करिष्यति' अ' अर्थात् चूंकि इस काम को करेगा इस कारण। इसका पूर्ण उदाहरण यह कि जैसे किसी ने पूछा कि आज देवदत्त सुबह क्यों खाना खा रहा है? इस प्रश्न के उत्तर में यह

कहा गया कि 'ग्रामं नु गमिष्यति' अर्थात् चूंकि वह गांव जायगा इस कारण इतने शीघ्र भोजन कर रहा है। इस रूप में 'नु' निपात यहाँ हेतु का बोधक है।

२—पुनः प्रश्न करने के अर्थ वाले 'नु' का उदाहरण है। 'कथं नु 'करिष्यति' अर्थात् वह इस काम को कैसे कर लेगा ? इस बात को इन शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है कि किसी ने किसी से पूछा कि क्या देवदत्त इस काम को कर लेगा। इसके उत्तर में सुनने वाले ने कहा कि हाँ कर लेगा, परन्तु इस उत्तर को सुनने के बाद भी प्रश्नकर्ता को यह विश्वास नहीं हुआ कि देवदत्त इस काम को कर लेगा। इसलिये वह फिर पूछता है कि 'अरे भला देवदत्त इस काम को कैसे कर लेगा ?' ('कथं नु करिष्यति') वह तो इस काम को नहीं कर सकता। पुनः प्रश्न करने के अर्थ में ही एक और उदाहरण यहाँ दिया गया— 'नन्वेतद् अकार्षीत अर्थात् क्या' उसने इस काम को नहीं किया ? यहाँ 'न' प्रतिषेध अर्थ में है तथा 'नु' पुनः प्रश्न करने के अर्थ में है। इस बात को स्पष्ट रूप से यों कहा जा सकता है कि जैसे देवदत्त अपने घर से अन्यत्र किसी गांव गया। इसके जाने के बाद किसी पड़ोसी ने आकर पूछा कि क्या देवदत्त कहीं गया हुआ है, तो उसे उत्तर मिला 'हाँ'—कुछ समय बाद वही व्यक्ति देवदत्त को गांव में ही देखता है, तो आश्चर्य के साथ वह पूछ बैठता है—क्या देव दत्त गांव में नहीं गया था ? ('ननु देवदत्तो ग्रामम् अगमत्') इसी प्रकार का अर्थ 'नन्वेतद् अकार्षीत्' का भी अभीष्ट है। 'अनुपृष्ट का अर्थ है' 'पृष्टस्य पुनर् उक्ति' दुबारा प्रश्न पूछना। स्कन्द ने अनुपृष्ट का अर्थ केवल प्रश्न किया है तथा उसी तरह इन वाक्यों की संगति लगायी है।

उपमा अर्थ वाले 'नु' का उदाहरण है—**वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यूतयो रुरुहुर् इन्द्र पूर्वीः** इस मन्त्रांश का अन्वय है—हे **पुरुहूत इन्द्र वृक्षस्य वया नु ते पूर्वो ऊतयः रुरुहुः** अर्थात् बहुतों के द्वारा पुकारे गये, हे इन्द्र वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी प्राचीन सहायतायें विविध रूपों में फैली हुई हैं—व्याप्त हैं। यास्क ने केवल **वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः** इतना ही अंश उद्धृत किया है तथा अपने शब्दों में इसका अर्थ किया है—'वृक्षस्य इव ते पुरुहूत शाखाः' अर्थात् हे पुरुहूत इन्द्र वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी (सहायताएँ), यास्क की यह

शैली है कि वे मन्त्र या व्याख्येय अंश का क्रम तोड़े बिना ही व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। इसलिये यहाँ 'नु' के स्थान पर 'इव' तथा 'वया' के स्थान पर 'शाखाः' शब्द का प्रयोग करके वे आगे बढ़ गये।

'वया' शब्द के जहाँ अनेक अर्थ हैं वहाँ 'शाखा' का भी एक अर्थ है। इस मन्त्र में 'वृक्ष' शब्द के प्रयोग से 'वया' का अर्थ शाखायें निश्चित हो जाता है। यास्क के अनुसार 'वया' शब्द 'वी' धातु से निष्पन्न है। 'वी' का अर्थ 'गति' इत्यादि। शाखाओं को 'वया' इसलिये कहा जाता है कि उनके बीच से वायु इधर-उधर आती-जाती है। ('वातायना भवन्ति')। अथवा वे स्वयं वायु से हिलती रहती हैं।

'वया' के पर्यायभूत 'शाखा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क कहते हैं— 'शाखाः खशया' अर्थात् शाखा को शाखा इसलिये कहते हैं वह आकाश में शयन करती है—रहती है। इसलिये 'खे=शयाः=खशयाः' का वर्ण विपर्यय इत्यादि होकर 'शाखा' शब्द बन गया। 'शाखा' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'शक्' धातु से की गयी। अर्थात् 'शका' से 'शाखा' बना। शाखायें फल फूल पत्ते इत्यादि तथा पक्षी इत्यादि को धारण करने में समर्थ हैं इसीलिये उन्हें 'शाखा' कहा जाता है।

टिप्पणी—उपमार्थक 'नु' का प्रयोग लौकिक संस्कृत में प्रायः नहीं मिलता। शिशुपालवध (१०/१४) के 'क्षालितं नु शमितं नु वधूनां द्रावितं नु हृदयं मधुवारैः' इस श्लोक में मल्लिनाथ ने 'नु' को उत्प्रेक्षावाचक माना है—'उत्प्रेक्षा त्रयं नु शब्दानुवृत्तेः।' किरात०, (१/१५) के 'रंजिता नु विविधास् तरु-शैला नमितं नु गगनं स्थापितं 'नु' में भी उत्प्रेक्षा मानी जाती है। वर्धमान गण-रत्न-महोदधि (पृ० ८-९) में 'ननु' के प्रश्न, 'प्रतिवचन', 'उपमान', 'वितर्क', 'उत्प्रेक्षा', 'विशद' तथा 'पदपूरण' अर्थों वाला माना है।

इस प्रकार उपमा अर्थों वाले निपातों का प्रदर्शन करते हुए 'इव', 'न', 'चित्' तथा 'नु' के अर्थों तथा उदाहरणों की चर्चा की गई। 'चित्' तथा 'नु' के अन्य अर्थ जो यहाँ दिखाये गये तथा बीच-बीच में जो रूढ़ि शब्दों के निर्वचनों का प्रदर्शन किया गया उससे इन दोनों निपातों की उपमार्थता कुछ दब सी गई है।

'कर्मोपसंग्रह' की परिभाषा

मूल—अथ यस्यागमाद् अर्थ-पृथक्त्वम् अह विज्ञायते न त्वौद्देशिकम् इव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः ।

अनुवाद—जिस निपात के आ जाने से अर्थ पृथक् रूप में तो ज्ञात होता है परन्तु वह उद्दिष्ट (साक्षात् निर्दिष्ट) अर्थ के समान नहीं होता । क्योंकि (उद्दिष्ट अर्थ में) विग्रह (रूप) की भिन्नता होती है।

व्याख्या—ऊपर इस प्रकरण के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि निपात तीन प्रकार के होते हैं जिनमें प्रथम प्रकार अर्थात् उपमा अर्थ वाले निपातों का प्रदर्शन किया जा चुका, अब दूसरे प्रकार के निपातों की चर्चा की जा रही है। इन निपातों का अर्थ 'कर्मोपसंग्रह' अथवा 'अर्थोपसंग्रह' है । अर्थात् ये निपात दूसरे पदों के अर्थों के संग्राहक होते हैं ।

'कर्मोपसंग्रह' की परिभाषा यास्क ने जिस वाक्य में दी है उसे भिन्न-भिन्न टीकाकारों और व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न रूप में समझा है । दुर्गाचार्य की व्याख्या के अनुसार वे निपात, जिनके समास के दो या अनेक पदों के मध्य में आ जाने से कथित अर्थों अथवा वस्तुओं की निश्चित रूप से भिन्नता ज्ञात हो वह 'कर्मोपसंग्रह' है । यद्यपि उन वस्तुओं की भिन्नता कही नहीं गई है परन्तु समास के विग्रह (विश्लेषण) से जानी गई है । जैसे—'देवदत्त-यज्ञदत्तौ' यह समस्त शब्द है । इसका विग्रह किया जायगा 'देवदत्तश्च-यज्ञदत्तश्च' यहाँ 'च' निपात के द्वारा विग्रह करने के कारण देवदत्त तथा यज्ञदत्त रूप अर्थों की पृथक्ता ज्ञात होती है । यह उदाहरण विरूप समास का है । स्वरूप समास का उदाहरण है—'पुरुषौ' या 'पुरुषाः' इनका विग्रह होगा 'पुरुषश्च-पुरुषश्च इति पुरुषौ' तथा 'पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषश्च इति पुरुषाः' यहाँ भी च के साथ विग्रह किये जाने के कारण पुरुष रूप अर्थों की भिन्नता ज्ञात होती है इसी तरह एकशेष का उदाहरण है "पितरौ" तथा इसका विग्रह है—'माता च पिता च' कहीं-कहीं तात्पर्य की दृष्टि से भी पृथक्ता की प्रतीति होती है जैसे—'बृहस्पतिश्च' यहाँ बृहस्पति के साथ प्रजापति जैसे किसी अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है। इस प्रकार 'च' निपात के आ जाने से, विग्रह के द्वारा पृथक् होने के कारण,

वस्तुओं या व्यक्तियों की भिन्नता ज्ञात होती है; परन्तु यह भिन्नता औद्देशिक नहीं होती । अर्थात् यह भिन्नता उस प्रकार की नहीं होती जबकि प्रत्येक वस्तु अलग-अलग पहले से ही कथित रहती है । जैसे—'गायों को, अश्वों को, पुरुषों को, पशुओं को लाओ' । इस वाक्य में प्रत्येक प्राणी को अलग अलग कहा गया है । इस तरह समास के पदों में विग्रह वाक्य में च निपात के आ जाने के कारण वस्तुओं की भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीति होती है । ऐसे निपात को 'कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले निपात मानना चाहिए ।

परन्तु दुर्गाचार्य की यह व्याख्या उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि इस प्रकरण में आगे जिन निपातों का उल्लेख किया जा रहा है, उनका समास के विग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं है । 'द्वन्द्व' समास के विग्रह मे केवल 'च' निपात का ही प्रयोग होता है । परन्तु इस 'कर्मोपसंग्रह' के प्रकरण में 'वा' 'आ' आदि का भी प्रदर्शन हुआ है जिनकी कोई संगति दुर्गाचार्य की व्याख्या के अनुसार नहीं लगती । इसीलिए आचार्य स्कन्द ने सम्भवतः इस व्याख्या को अनुचित समझते हुए, अपनी एक दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की है ।

स्कन्द की व्याख्या संक्षेप में यह है कि कुछ निपात केवल एक आश्रय में रहने वाले अर्थ के वाचक होते हैं । । जैसे 'इव' आदि । उपमानत्व रूप अर्थ के वाचक हैं जो केवल उपमान के वाचक शब्द में ही रहता है । कुछ निपात अनेक आश्रय में रहने वाले अर्थ के वाचक होते हैं । जैसे 'वा', 'च' आदि निपात । में 'वा' 'च' आदि निपात एक आश्रय के वाचक शब्द के— केवल एक आश्रय वाले अर्थ के—साथ सुसंगत न होने के कारण द्वितीय आश्रय का आक्षेप कर लेते हैं, क्योंकि द्वितीय आश्रय के बिना समुच्चय जैसे अर्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता । इस प्रकार आक्षिप्त हुआ यह द्वितीय अर्थ कहीं शब्दों के द्वारा ही कथित होता है । जैसे 'अहं च त्वं च' तथा कहीं नहीं भी कथित होता जैसे **'इन्द्रश्च विष्णोः यद् अपस्पृधेथाम्'** । परन्तु इन दोनों तरह के स्थलों में समुच्चय अर्थ वाले द्वितीय आश्रय के आक्षेपक 'च' निपात का प्रयोग होने के कारण इस 'च' को कर्मोपसंग्रह निपात माना जाता है ।

कर्म का अभिप्राय है 'अर्थ' अर्थात् द्वितीय आश्रय । वह जिसके द्वारा

उपसंगृहीत अर्थात् आक्षिप्त होता है, वह कर्मोपसंग्रह है। **कर्म उपसंग्रहो यस्य स कर्मोपसंग्रहः**। 'कर्मोपसंग्रह' शब्द की इस व्याख्या की पृष्ठभूमि में यास्क की उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ होगा—जिस निपात के प्रयोग से पृथक्भूत अर्थ अर्थात् समुच्चय आदि का द्वितीय आश्रय, प्रथम आश्रय से भिन्न रूप में ज्ञात होता ही है। अभिप्राय यह है कि, चाहे द्वितीय आश्रय शब्द द्वारा कथित हो (जैसे—'अहं च त्वं च') अथवा न कथित हो (जैसे 'इन्द्रश्च विष्णो० में') दोनों ही स्थितियों में समुच्चय के दोनों आश्रयों का ज्ञान होता ही है। परन्तु यह पृथक्भूत अर्थ अथवा द्वितीय आश्रय का जो ज्ञान होता है, वह औद्देशिक भिन्न-भिन्न अर्थों को कहा जाता है, जब जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में अर्थों का ज्ञान होता है उस रूप में यहाँ ज्ञान नहीं होता। इसका कारण यह है कि 'विग्रह' अर्थात् 'रूप' 'स्वरूप' दोनों स्थितियों में भिन्न-भिन्न होता है। जब अलग-अलग शब्दों का प्रयोग होता है तब वह द्वितीय आश्रय अभिधेय के रूप में प्रकट होता है। पर जब 'च' के द्वारा उसे कहा जाता है तब वह समुच्चय के द्वितीय आश्रय के रूप में प्रकट होता है।

स्कन्द ने अपनी व्याख्या 'अर्थपृथक्त्वम्' इस 'भाव प्रत्ययान्त' शब्द को 'तद्वान' अर्थात् 'पृथग्भूत अर्थ' को कहने के लिये प्रयुक्त माना हैं। उनके अनुसार 'अर्थपृथक्त्वम्' का अभिप्राय है 'पृथग्भूत अर्थ'। इसी को वे समुच्चय का द्वितीय आश्रय कहते हैं। उनके अनुसार 'औद्देशिक' का अर्थ है 'अभिधेय'। 'उद्देश' का अर्थ है 'शब्द'। 'उद्दिशति अर्थम् इति उपदेशः' अर्थात् जो अर्थ को कहता है। 'उद्देशे भवः औद्देशिकः' शब्द में रहने वाला अर्थात् शब्द से कथित—शब्द का अभिधेयभूत अर्थ।

'कर्मोपसंग्रह' के प्रकरण में जिन निपातों की चर्चा की हुई है। उन्हें देखने से स्कन्द की यह **व्याख्या** तथा 'कर्मोपसंग्रह' की परिभाषा सर्वथा उचित प्रतीत होती है।

टिप्पणी—प्रा० गुणे ने इस स्थल को संभवतः समझा हो नहीं क्योंकि उन्होंने 'कर्मोपसंग्रह' का अर्थ किया है 'तरह-तरह के अथवा विविध प्रकार के अर्थ'। उनका कहना है चूंकि तीन ही प्रकार के निपात यास्क ने माने हैं तथा

प्रथम प्रकार के निपातों की चर्चा इससे पहले हो चुका है इसलिये तीसरे प्रकार के अर्थात् 'पद-पूरण' निपातों की चर्चा से पहले 'त्वत्' तक जितने भी निपात प्रदर्शित हुए हैं उन सारे निपातों को यास्क ने इस 'कर्मोपसंग्रह' शब्द द्वारा समेटना चाहा है। वे यास्क की पंक्ति का अर्थ करते हैं कि 'कर्मोपसंग्रह' निपातों के द्वारा विविध अर्थों का ज्ञान होता है। परन्तु पदार्थों के पृथक्-पृथक् गिनाने के समान यह ज्ञान नहीं होता; फिर भी 'विग्रह' पृथक्ता अर्थात् निपातों के अलग-अलग प्रदर्शन के कारण, ये निपात विविध अर्थ वाले हैं इस बात का निश्चित ज्ञान होता है (द्र०—Indian Antiquary, Vol XIV PP. 159–60)

प्रो० वी० के० राजवाड़े ने 'कर्मोपसंग्रह' के अभिप्राय को तो अच्छी तरह समझा है परन्तु वे भी 'न त्वौद्देशिकम् इव विग्रहेण पृथक्त्वात्' की संगति नहीं लगा सके और संगति न लगने के कारण ही इस अंश को उन्होंने प्रक्षिप्त मानना चाहा है।

इस 'कर्मोपसंग्रह' के प्रकरण में समुच्चय अर्थ वाले 'च', 'वा', 'आ' के प्रदर्शन के उपरान्त यास्क ने बहुत से ऐसे भी निपात प्रस्तुत किये हैं जिन्हें 'कर्मोपसंग्रह' नहीं माना जा सकता। जैसे 'हि' इत्यादि जो पदार्थों के समुच्चायक न होकर उन्हें अलग अलग करने वाले हैं। प्रो० राजवाड़े का यह कथन (पृ० २३७) सर्वथा उचित है कि कर्मोपसंग्रह निपातों के प्रदर्शन के उपरान्त अन्य-अर्थ वाले निपातों का 'अपि अन्यार्थेषु' कहकर एक अलग प्रकरण आरम्भ करके उसमें इन 'हि' इत्यादि निपातों की चर्चा की जानी चाहिये थी। स्कन्द ने भी 'हि' निपात से पहले-पहले के निपातों को ही कर्मोपसंग्रहार्थीय माना है। द्र०—**एवम् एते कर्मोपसंग्रहार्थीयाः षण् णिपाता उक्ताः। इदानीं 'हि' इत्यादीनां 'स्वीम्'—पर्यन्तानां तावत् सप्तानां निपातानाम् अकर्मोपसंग्रहार्थीयानां प्रसंगेनार्था उच्यन्ते** (निरुक्त स्कन्द टीका भाग १, पृष्ठ ६१) इसका कारण यह है कि 'हि' इत्यादि निपात अनेक आश्रय में रहने वाले धर्म या अर्थ के वाचक नहीं हैं।

कर्मोपसंग्रहा य निपातः

मूल—'च' इति समुच्चयार्थ उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते। 'अहं च त्वं च वृत्रहन्' (ऋ० वे० ८/७२/५१) इति।

एतस्मिन्नेवार्थे देवेभ्यश्च पितृभ्य आ' (ऋ० वे० १६/१६/१) इति 'आकारः'।

'वा' इति विचारणार्थे। 'हन्ताहं पृथिवीम् इमां निदधनानीह वेह वा' (ऋ० वे० १०/११६/६) इति। अथापि समुच्चयार्थे भवति 'वायुर् वा त्वा मनुर् वा त्वा' (तैत्तिरीय संहिता १/७७/२) इति।

'अह' इति च 'ह' इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते 'अयम् अह इदं करोतु, अयम् 'इदम्'। 'इद ह करिष्यति, इदं न करिष्यति' इति।

अथापि 'उकार' एतस्मिन्नेवार्थे उत्तरेण। 'मृषेमे वदन्ति, सत्यम् उ ते वदन्ति' इति। अथापि पद पूरणः—इदम् उ' (ऋ० वे० ४/५/१/१), 'तद उ' (ऋ० वे० १/६२/६)।

अनुवाद—समुच्चय' अर्थ वाला 'च' (कभी कभी) दोनों (समुच्चीय-मान शब्दों) के साथ प्रयुक्त होता है जैसे अहं च त्वं च वृत्रहन् (हे वृत्रहन्ता! मैं और तुम दोनों)।

इसी (समुच्चय) अर्थ में देवेभ्यश्च पितृभ्य आ (देवताओं तथा पितरों के लिए) यहाँ 'आकार' (आ) का प्रयोग हुआ है।

'वा' निपात हन्ताहं पृथिवीम् इमां निदधानीह वेह वा (अरे! इस पृथ्वी को यहाँ उठा कर रख दूँगा या वहाँ) यहाँ सन्देह (एक प्रकार का अनिश्चय अथवा विकल्प के अर्थ में तथा वायुर वा त्वा मनुर वा त्वा (वायु और मनु तुम को) इस मन्त्रांश में समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

नियम अर्थ वाले 'अह' तथा 'हि' निपात (प्रस्तुत दो वाक्यों में से) पहले (वाक्य) के साथ प्रयुक्त होते हैं। ('अह' का उदाहरण) 'अयम्' अह इदं करोतु'

(यह ही इस काम को करें और दूसरा व्यक्ति इस दूसरे काम को करे) तथा ('ह' का उदाहरण) इदं ह करिष्यति इदं न करिष्यति (यह इसी काम को करेगा, इस दूसरे काम को नहीं)।

इसी (नियम अथवा विनिग्रह) अर्थ में 'उ' (निपात) का (प्रस्तुत दो वाक्यों में से) दूसरे वाक्य के साथ प्रयोग होता है। जैसे 'मृषेमे वदन्ति, सत्यमु उ ते वदन्ति' (ये झूठ बोलते है, केवल वे सत्य बोलते हैं)। पदपूर्ति के लिये भी ('उ' निपात) प्रयुक्त होता है। जैसे 'इदमु उ' 'तदु उ'।

व्याख्या

च—'समुच्चयार्थः शब्द का विग्रह है समुच्चय अर्थो यस्य स समुच्चयार्थः। अर्थात् 'च' का अर्थ है दो या दो ये अधिक वस्तुओं को एक साथ प्रस्तुत करना। अपनी इस समुच्चयार्थकता के कारण 'च' को कर्मोपसंग्रहार्थीय निपात माना जाता है।

'उभाभ्याम् सम्प्रयुज्यते' का अभिप्राय है कि 'च' का प्रयोग उन दोनों शब्दों के साथ किया जाता है, जिनके अर्थों का समुच्चय 'च' निपात से अभीष्ट होता है। जैसे—उदाहृत मन्त्रांश में 'अहम्' तथा 'त्वम्' दोनों के साथ 'च' का प्रयोग हुआ है। यास्क का यह कथन ऐकान्तिक है—यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र 'च' का प्रयोग दोनों शब्दों के साथ किया जाय। लौकिक संस्कृत में तो प्रायः सदा ही 'च' का प्रयोग एक बार ही होता है; वैदिक मन्त्रों में भी ऐसे अनेक स्थान मिलते हैं जहाँ 'च' का प्रयोग एक बार ही हुआ है। जैसे ऋग्वेद ६/६९/८ तथा ९/३०/४ में एक बार ही 'च' का प्रयोग किया गया है। यह आवश्यक है कि यास्क ने प्रायः दोनों ही समुच्चयीमान अर्थ वाले शब्दों के साथ 'च' का प्रयोग किया है। जैसे—विचिकित्सार्थीयश् च पदपूरणश् च तथा 'अह' इति च 'ह' इति च विनिग्रहार्थीयौ।

वा—यहाँ 'वा' के दो अर्थों विकल्प' तथा 'समुच्चय' का प्रदर्शन करते हुये दो उदाहरण दिये गये हैं। परन्तु इन अर्थों से भिन्न 'उपमान' अर्थ में भी 'वा' का प्रयोग होता है। महाभारत के उपमान के अर्थ 'वा' के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। 'अथ', 'उत', 'किम्', 'यद्' तथा 'यदि' के साथ संयुक्त होकर 'वा' कुछ अन्य निपातों की सृष्टि करता है। जैसे—'अथवा', 'उतवा' 'किंवा', 'यद्वा'

तथा 'यदिवा' वाचस्पत्यम् कोष में 'वा' के 'विकल्प', 'सादृश्य' 'अवधारण' त
'समुच्चय' ये चार अर्थ दिये गये हैं।

'अह' और 'ह'—'अह' तथा 'ह' निपात नियमार्थक हैं। 'विनिग्रह' का अ
'नियम' जैसे दो आदमियों में कार्य के विभाजन की दृष्टि से यह नियम कर
कि देवदत्त इस काम को करेगा तथा यज्ञदत्त इस काम को। ऐसे स्थलों में 'अ
का प्रयोग प्रथम वाक्य के साथ होगा। इसी तरह दो या अनेक कार्यों में ज
यह कहना हो कि यह व्यक्ति केवल इसी कार्य को करेगा—अन्य कार्य न
करेगा—तब भी पहले वाक्य के साथ 'ह' का प्रयोग किया जायेगा। उ
दोनों के उदाहरण दिये जा चुके हैं।

स्कन्द ने 'अह' का वैदिक उदाहरण—आदअह स्वधाम् अनु पुनर् गर्भत्
एरिरे (ऋ० वे० १/६/४) दिया गया है जहाँ 'अह' एव अर्थ वाला है तथा 'आ
अह' का अर्थ है 'अनन्तरम् एव' इसी प्रकार 'ह' का उदाहरण है—नाकस्य ह
वा प्रीणाति स ह देवेषु गच्छति (ऋ० वे० १/१०/५) यहाँ 'स ह' का अर्थ
'स एव'।

उ—'अह' तथा 'ह' के समान 'उ' भी नियम अर्थ वाला है। परन्तु 'उ'
का प्रयोग प्रस्तुत वाक्यों में 'अह' और 'ह' के समान पूर्व वाक्य के साथ न हो
बाद वाले वाक्य के साथ हुआ करता है।

विनिग्रह अथवा नियम अर्थ वाले 'उ' का उदाहरण है तन् उ ऋषिं
उ ब्राह्मणम् आहु' (ऋ० वे० १०/१०७/६) मन्त्र में मिलता है।

'उ' निपात का प्रयोग पद पूर्ति के लिये भी होता है। यद्यपि पद-पूर्ति
दृष्टि से प्रयुक्त होने वाले निपातों का प्रदर्शन यास्क बाद में करेंगे। यहाँ प्रसं
'उ' के पद पूरणार्थक होने वाली बात कह दी गई। 'उ' निपात का पद-पूरण
किये गये प्रयोग के उदाहरण के रूप में यास्क ने इदम् उ त्यत् पुरुतमं पुरस्
ज्योतिः (यह, वह प्रसिद्ध एवं विधिरूपा उषा प्राची दिशा में उपस्थित
तथा तद् उ प्रयक्षतमम् अस्य कर्म (इस इन्द्र का वह प्रपूज्यतम् कार्य) इन म
की ओर संकेत किया है। यास्क की दृष्टि में इन दोनों स्थलों पर 'उ' के
पद-पूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इन दोनों स्थलों में 'उ' का एक वि
अर्थ प्रतीत होता है और वह है एक प्रकार का नियम करना अथवा जोर दे

रहता । जैसे यहाँ क्रमशः यह अर्थ है कि 'यही वह प्रसिद्ध उषा' तथा इस इन्द्र वही पूज्यतम कर्म उ के प्रयोग से यहाँ के अभिप्राय में एक विशेष बल आ जाता है । इसलिये 'उ' को मैक्डानल आदि Emphatic particle मानते हैं ।

टिप्पणी—अब तक 'कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले 'च', 'वा' 'आ' 'अह' 'ह' तथा 'उ' इन छः निपातों की चर्चा हुई । 'च' आदि प्रथम तीन तो अपनी समुच्चयार्थकता के कारण स्पष्ट कर्मोपसंग्रह अर्थ वाले हैं । शेष तीन 'अह', 'ह' तथा 'उ' अपने विनिग्रह अथवा नियम रूप अर्थ के कारण 'कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले बन जाते हैं, क्योंकि जब किसी वस्तु या व्यक्ति के साथ 'एव' का अर्थ उपस्थित होगा तो वहाँ वह दूसरा अर्थ भी अवश्य उपस्थित होगा जिसकी निवृत्ति अथवा निवारण वक्ता को अभिप्रेत है ।

कुछ अन्य निपात

मूल—'हि' इत्येषोऽनेककर्मा । 'इदं हि करिष्यति' इति हेत्वपदेशे । 'कथं हि करिष्यति' इत्यनुपृष्टे । 'कथं हि व्याकरिष्यति' इत्यसूयायाम् ।

'किल' इति विद्या-प्रकर्षे । 'एवं किल' इति । अथापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्यां सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे । 'न किल एवम्' 'ननु किल एवम्' ।

'मा' इति प्रतिषेधे । 'मा' 'कार्षीः' 'मा हार्षी' इति च ।

'खलु' इति च । 'खलु कृत्वा । 'खलु कृतम्' । अथापि पदपूरणः । 'एवं खलु तद् बभूवः' इति ।

'शाश्वत्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्—शश्वद् एवम् इत्यनुपृष्टे । 'एवं शाश्वत्' इत्यस्वयंपुष्टे ।

अनुवाद—'हि' यह (निपात) अनेक अर्थों वाला है । 'इदं हि करिष्यति' (वह निश्चय ही इस कार्य को करेगा) यहाँ हेतु कहने के लिए ('हि' का प्रयोग किया गया है), 'कथं हि करिष्यति' (वह भला कैसे कर लेगा ?) यहाँ दुबारा पुनः प्रश्न करने के अर्थ में तथा 'कथं हि व्याकरिष्यति' (वह कैसे उत्तर दे देगा ?) यहाँ असूया (ईर्ष्या) के अर्थ में ('हि' का प्रयोग हुआ है ।)

'किल' यह (निपात) निश्चित ज्ञान को बताने के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे 'एवं किल' (यह बात ऐसी ही है)। इसके अतिरिक्त पुनः प्रश्न में भी 'न' 'ननु' इन दो (निपातों) के साथ (किल) प्रयुक्त होता है। जैसे 'न किलैवम्' ? 'ननु किलैवम्' ?

'मा' यह (निपात) प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—'मा कार्षीः' (मत कर), 'मा हार्षीः' (मत छीन)।

'खलु' यह (निपात) भी प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे 'खलु कृत्वा' (न करो), 'खलु कृतम्' (नहीं किया)। इसके अतिरिक्त पदपूरणार्थ भी ('खलु') प्रयुक्त होता है। जैसे—'एवं खलु तद् बभूव' (ऐसा ही हुआ)।

'शश्वत्' यह (निपात) भाषा में निश्चय अर्थ वाला है। जैसे—'शश्वद् एवम्' ? (क्या निश्चित ही ऐसा है?) यहाँ (शश्वत् का एवम् से पूर्व प्रयोग) पुनः प्रयोग करने के अर्थ में है। 'एवम् शश्वत्' (हाँ निश्चित ऐसा ही है) यहाँ ('शश्वत' का 'एवम्' के पश्चात् प्रयोग) दूसरे के पूछे जाने पर (उत्तर के रूप में) हुआ है।

व्याख्या—अब 'हि' से लेकर 'सीम्' तक ऐसे निपातों की चर्चा की गई है, जो कर्मोपसंग्रहार्थीय नहीं है। निपातों का प्रसङ्ग होने के कारण तथा उपमार्थीय एवं पदपूरणार्थक न होने के कारण इन निपातों की चर्चा सम्भवतः यहाँ आवश्यक समझा गया।

हि—'हेत्वपदेश' तथा 'अनुपृष्ट' की व्याख्या पहले 'नु' के प्रसङ्ग में की जा चुकी है। वहाँ भी इसी प्रकार के उदाहरण दिये गये हैं। 'व्याख्यान' का अर्थ राजवाड़े ने 'पूरा करना' किया है। परन्तु स्कन्द ने इसका अर्थ 'व्याख्या करना' अथवा 'समाधान देना' इत्यादि किया है। 'असूया' का अर्थ है किसी योग्यता अथवा किसी शक्ति के विषय में जानकर उसे सहन न कर पाना तथा उसकी अनावश्यक या असत्य निन्दा करना। जैसे—देवदत्त के विषय में किसी ने कहा 'अरे वह तो कल सभा में इन प्रश्नों का उत्तर देगा' इस बात को सहन न करते हुए असूयावश यज्ञदत्त कहता है कि वह मूर्ख भला इन प्रश्नों का उत्तर या समाधान कैसे दे सकता है। द्र०—

भायां प्रश्नान् व्याकरिष्यति इत्युक्तः अक्षममाणः कश्चित् आह कथं हि व्याकरिष्यति अकृतविद्यः । स्कन्दभाष्य, प्रथम भाग, पृ० ६२ ।

टिप्पणी—प्रो० राजवाड़े ने 'इदं हि करिष्यति', कथं हि करिष्यति' तथा कथं हि व्याकरिष्यति' इन तीनों वाक्यों को एक साथ रखकर 'व्याकरिष्यति' का अर्थ 'कार्य को पूरा करना' किया है और 'करिष्यति' तथा व्याकरिष्यति' के अन्तर को इसी रूप में स्पष्ट करना चाहा है। परन्तु स्कन्द ने इस वाक्य को अन्य दोनों से अलग करके इसे 'असूया' अर्थ वाले 'हि' का उदाहरण माना है।

'हेतु के कथन' के लिये 'हि' के प्रयोग की दृष्टि से स्कन्द ने इन्द्रवायू इमे सुताः उपप्रयोभिर् आगतम् । इन्दवो वाम् उशन्ति हि (ऋ० वे० १/२/४) इस वैदिक मन्त्र का उदाहरण दिया है।

किल 'विद्या प्रकर्ष' का अभिप्राय है ज्ञान की अधिकता अथवा निश्चितता । अमरकोष में 'किल' के 'वार्ता' तथा 'सम्भावना' में दो अर्थ माने गये हैं। यहाँ 'वार्ता' का भी अभिप्राय 'विद्या-प्रकर्ष' ही है परन्तु 'विद्या प्रकर्ष' के साथ-साथ 'ऐतिह्य अर्थात् प्राचीन घटना या इतिवृत्त भी 'वार्ता' का अर्थ है। जघान कंसं किल वासुदेव' इत्यादि 'किल' के उदाहरण इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

स्कन्द ने 'विद्या-प्रकर्ष' का अर्थ सम्भावनापरक किया है। द्र०—तर्हि विद्या प्रकर्षः ? अन्यस्थत्वम् । अन्यैर एतद् उपलब्धम् । मया तेभ्यः श्रुतम् । न स्वयम् उपलब्धम् इत्ययम् अर्थो विद्याप्रकर्षः (स्कन्दभाष्य, भाग पृ० ६२)।

'किल' के वैदिक प्रयोगों की दृष्टि से निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१—स्वादुष्किलायं मधुमां उतायं तीव्रः किलायं रसवां उतायाम् । ऋ० वे० ६/४७/१

२—नाबीत्वा शुत्रं न किलाविवित्से । ऋ० वे० १/३२/८

पुनः प्रश्न करने के अर्थ भी 'न' अथवा 'ननु' निपातों के साथ 'किल' का प्रयोग होता है। जैसे—क्या यह बात ऐसी नहीं है' ? यह कहने के लिये 'न

किल एवम्' तथा इसी प्रकार 'क्या यह बात ऐसी है' ? यह कहने के लिये किल एवम् ?' इत्यादि प्रयोग होते हैं ।

मा तथा खलु—'मा' निपात निषेध' अर्थ वैदिक तथा लौकिक प्रकार की संस्कृत भाषाओं में बहुत प्रसिद्ध है वैदिक प्रयोगों की दृष्टि से **वधीः पितरं मोत मातरम** (ऋ० वे० १/१०४/८) इत्यादि द्रष्टव्य है ।

खलु निपात लौकिक संस्कृत में 'निषेध' के अर्थ में प्रसिद्ध है । के सूत्र 'अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचांक्त्वा' (अष्टा० ३/४/१८) इस बात की पुष्टि होती है तथा अमरकोश में भी 'खलु' के 'निषेध', लङ्कार', 'जिज्ञासा' तथा 'अनुमत' अर्थ बताये गये हैं । यास्क ने यहाँ 'निषेध' तथा 'पदपूरण' या दूसरे शब्दों में 'वाक्यालङ्कार' अर्थ का किया है ।

परन्तु ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र—'**मित्रं कृष्णुध्वं खलु०**' (ऋ० १०/३४/१३) में 'खलु' का प्रयोग हुआ है । स्कन्द ने यहाँ 'खलु' पद-पूरण माना है । मैकडानल 'खलु' को यहाँ जोर डालने वाला (Emphatic par मानता है । द्र०—वैदिक ग्रामर (पृ० २६७) । 'प्रतिषेध' अर्थ में 'खलु' प्रयोग वेदों में मिलता है ।

शश्वत्—यास्क ने भाषा में 'शश्वत्' निपात को विचिकित्सा अर्थ माना है । उपनिषदों में 'विचिकित्सा' शब्द का प्रयोग सन्देश के अर्थ में है । द्र०—**येऽयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये** (कठोपनिषद १/२०) तथा **यदि विचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्** (तैत्तिरीयो० पृ० १/११ अमरकोश आदि में भी इसका अर्थ 'संशय' मिलता है । द्र०—**विचि तु संशयः** (अमरकोश १/५/३) । 'शश्वत्' का 'सन्देह' अर्थ में कहीं भी नहीं मिलता । परन्तु दुर्ग तथा स्कन्द का विचार है कि '**शश्वद् इति कित्सार्थीयो भाषायाम्**' इस पक्ति में 'विचिकित्सा' का अर्थ 'संशय' या न होकर 'विवेक पूर्वक अवधारण' अथवा निश्चय है । व्याकरण की प्रक्रिया अनुसार 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'कित्' धातु से 'सन्' प्रत्ययः धातु को द्वित्व कार्य तथा स्त्रीलिंग में 'टाप्' प्रत्यय करके बनेगा । यह तो ठीक है कि का अर्थ 'निश्चय' है परन्तु विचिकित्सा का अर्थ 'निश्चय' है यह बात

णीय है। यास्क ने 'शश्वत् का 'निश्चय' अर्थ समझते हुए ही उसके 'शश्वद् एवम्' इत्यादि उदाहरण दिये हैं।

देवदत्त ने यज्ञदत्त से पूछा कि क्या यह घटना इस प्रकार हुई ? उत्तर में यज्ञदत्त ने कहा कि हाँ हुई। परन्तु इस बात को अच्छी तरह जानने के लिये देवदत्त फिर यज्ञदत्त से पूछता है कि क्या सचमुच ऐसी बात हुई ? (शश्वत् एवम् ?) यह 'अनुपृष्ट' हुआ। यहाँ चूँकि पुन. प्रश्न करने के लिये 'शश्वत्' का प्रयोग किया गया है इसलिये 'शश्वत्' को 'एवम्' से पहले रखा गया है। परन्तु जब 'शश्वत्' का प्रयोग 'अनुपृष्ट' के उत्तर के रूप में किया जायेगा तब उसे 'एवम्' के पश्चात्, 'एवम् शश्वत्' इस रूप में रखा जायगा।

यास्क ने यहाँ एक विशेष बात यह कही है कि यदि 'शश्वत्' का प्रयोग प्रश्न कर्त्ता से भिन्न किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये प्रश्न ('अस्वयं पृष्ट') के उत्तर में होगा तभी 'शश्वद् एवम्') हाँ निश्चित हो ऐसी बात हुई है) का प्रयोग होगा। जैसे ऊपर के उदाहरण में देवदत्त से भिन्न किसी और व्यक्ति ने प्रश्न किया हो तभी 'शश्वद् एवम्' कहा जायेगा।

स्कन्द की टीका में 'अस्वयं दृष्टे' के स्थान पर 'अस्वयं दृष्टे' पाठ तथा उसकी व्याख्या मिलती है। स्कन्द का कहना है कि यदि उत्तर देने वाले ने स्वयं उस घटना को नहीं देखा है तभी वह 'शश्वद् एवम्' का प्रयोग करेगा। परन्तु इस व्याख्या के अनुसार 'शश्वद् एवम्' इस उत्तर में शश्वद् का निश्चित, अर्थ नहीं रह जाता अपितु उसका 'सन्देश' अर्थ हो जाता है। जो भी हो आज इतने दिनों बाद 'शश्वत्' के प्रयोग के विषय में इस प्रकार के सूक्ष्म भेद को जान पाना बहुत कठिन है।

टिप्पणी—यास्क ने 'शश्वत्' निपात का जो 'विचिकित्सा' (निश्चय) अर्थ किया है। वह यास्क-कालीन बोल-चाल की भाषा की दृष्टि से सम्भवतः ठीक होगा। परन्तु लौकिक संस्कृत में 'अनारत, निरन्तर' जैसे अर्थों में ही प्रायः 'शश्वत्, का प्रयोग देखा जाता है। द्र०-शश्वद् अनारते (अमरकोश ३/४/११)। वर्धमान ने 'शश्वत' के चार अर्थ दिये हैं—'सर्वकाल', सातत्य', 'नित्य' तथा 'सह' (गणरत्न महोदधि पृ० १३)। वेदों में भी इन्ही अर्थों में 'शश्वत्' का

प्रयोग देखा जाता है । जैसे शश्वद् इन्द्र प्रोत्प्रुथद्भिर् जिगाय (ऋ० ६/१/३०/१६)। स्कन्द ने भी अपनी टीका में वेद की दृष्टि से 'शश्वत्' का पूर्व अर्थ माना है। द्र०—वेदेषु शश्वद् इति बहूनामसु पठितम् नित्यत्वे प्रयुज्यमानं दृश्यते । (भा० पृ० ६५) ।

इतने प्रसिद्ध और स्पष्ट अर्थ को न देखकर, विचिकित्सा जैसे सन्दि शब्द के द्वारा शश्वत्' का अर्थ बतलाकर और उसे भी केवल भाषा तक सीमि करके वैदिक भाषा की दृष्टि से 'शश्वत्' के विषय में यास्क क्यों मौन रह गं यह बात समझ में नहीं आती । उपलक्षण का यह तो अभिप्राय नहीं है कि शब्द के अतिप्रसिद्ध अर्थ की ओर ध्यान ही न दिया जाय ?

इति द्वितीयः पादः

तृतीयः पादः

निश्चयार्थक 'नूनम्' निपात

मूल—'नूनम' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । उभयम् अन्वध्यायम् विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च । अगस्त्य इन्द्राय हविर् निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार । सइन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रेः ।

न नूनम् अस्ति नो श्वः, कस् तद् वेद यद् अद्भुतम् ।
अन्यस्य चित्तम् अभिसंचरेण्यम् उताधीतं विनश्यति ॥

न नूनम् अस्त्यद्यतनम् । नो एव श्वस्तनम् । अद्य अस्मिन् द्यवि । 'द्युः' इत्यहनो नामधेयम् । द्योतते इति सतः । श्वः उपाशंसनीयः कालः । ह्यो, हीनः कालः । कस्तद् वेद यद् अद्भूतम्—कस्तद् वेद, यद् अभूतम् । इदम् अपि इतरत् 'अद्भुतम् इव । अन्यस्य चित्तम् । अभिसंचरेण्यम्—अभिसंचारि । अन्यो-न आनेयः । चित्तं चेततेः । उताधीतं विनश्यति [अप्याध्यातं विनश्यति] आध्यातम्—अभिप्रेतम् ।

अनुवाद—'नूनम्' यह (निपात) भाषा में निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु वेद में निश्चयार्थक तथा पद-पूरणार्थक दोनों रूपों में इसका प्रयोग मिलता है।

अगस्त्य ने इन्द्र को हवि देने का निश्चय करके भी उसे मरुतों को देने की इच्छा की (इस पर) वह इन्द्र आकर (निम्न मन्त्र द्वारा) विलाप करने लगा।

मन्त्रान्वय—नूनं नास्ति । नः श्वः (अस्ति) । यद् अद्भुतं तद् कः वेद । अन्यस्य चित्तम् अभिसंचरेण्यं (भवति) । अधीतम् उत विनश्यति ।

मन्त्रानुवाद—(हवि) निश्चित ही (आज) नहीं है। (और) न कल (ही) है। जो हुआ नहीं है उसे कौन जानता है। दूसरे का चित्त चंचल होता है। सोचा हुआ भी नष्ट हो जाता है।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद—(हवि का भोजन) निश्चित ही आज नहीं है। और न ही कल है। 'अद्य' (अर्थात्) आज के दिन। 'द्यु' चमकते हुए दिन का नाम है। श्वः (अर्थात्) जिनके आने की आशा की जाती है ऐसा समय (आने वाला कल) 'ह्यः' (अर्थात्) बीता हुआ समय (विगत कल)। **कस् तद् वेद यद् अद्भुतम्**—(अर्थात्) उसको कौन जानता है जो (अभी) हुआ ही नहीं है ? यह दूसरा ('आश्चर्य' अर्थ वाला) 'अद्भुत्' (शब्द) भी 'न हुये' के समान ही है। दूसरे का चित्त 'अभिसंचरेण्यं' अर्थात्) अभि- संचारी (चञ्चल) होता है। 'अन्य' (शब्द का अर्थ है) न आनेय (अर्थात्) अविश्वसनीय। 'चित्त' (सोचना) से बना है। **उताधीतं विनश्यति** (का अर्थ है) (अच्छी तरह चाही हुई या सोची हुई वस्तु या बात) भी नष्ट हो जाती है। (अधीतं के नियमित रूप) आध्यात (का अर्थ है) अभिप्रेत (अर्थात्) अभीष्ट।

व्याख्या—यहाँ भी यास्क ने 'निश्चय' के पर्याय के रूप में 'विचिकित्सा' शब्द का प्रयोग किया है। 'निश्चय' अर्थ वाले 'नूनम्' निपात के उदाहरण की दृष्टि से यास्क जिस वैदिक मन्त्र को प्रस्तुत करना चाहते हैं उसे लिखने से पूर्व वे दो वाक्यों में एक आख्यायिका का उल्लेख कर रहे हैं। इस आख्या- यिका में यह कहा गया है कि अगस्त्य ऋषि ने संकल्प तो यह किया कि मैं अपनी हवि इन्द्र का दूंगा। परन्तु जब देने का समय आया तो उसने अपनी वह हवि मरुतों को दे दी। अगस्त्य के चित्त की चंचलता को देखकर इन्द्र वहाँ आकर विलाप करने लगा। उसका विलाप जिन मन्त्रों में निबद्ध है उनमें से ही एक मन्त्र यहाँ, 'नूनम्' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

'निरूप्य'—'निर्' उपसर्ग पूर्वक 'वप्' धातु से 'ल्यप्' प्रत्यय तथा 'वप्' का सम्प्रसारण। **'सम्प्रदित्साञ्चकार'** 'सम्' तथा 'प्र' उपसर्ग के साथ 'दा'

धातु के 'सन्' प्रत्यय तथा द्वित्व आदि कार्य होकर सन्नन्त् धातु 'सम्प्रदित्स्' बनी। फिर उससे लिट् लकार में 'आम्' प्रत्यय तथा कृ' धातु का अनुप्रयोग करके अन्य पुरुष एकवचन में 'सम्प्रदित्साञ्चकार' बना। 'दुर्ग'' ने इस शब्द का अर्थ सम्प्रदातुम् ऐच्छत्' (अर्थात् देना चाहा) किया है। 'स्कन्द' ने 'सम्प्र-दित्सा' का अर्थ 'सम्यक् प्रदातुम् इच्छा' करके इस शब्द का अर्थ किया है 'सम्प्रददौ' अर्थात् अगस्त्य ने 'हवि' मरुतों को दे दी। 'परिदेवयाञ्चक्रे' का अर्थ है—विलाप किया। 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'दिव' धातु से 'णिच्' प्रत्यय करके णिजन्त धातु 'परिदेव्य्' बनी। उससे लिट लकार में 'आम्' प्रत्यय तथा 'कृ' का अनुप्रयोग आत्मनेपद, अन्यपुरुष, एकवचन में 'परिदेवयाञ्चक्रे' बना 'परिदेवना' का दुर्ग ने 'क्रोधपूर्वक विलाप' अर्थ किया है।

"दुर्ग" ने इस आख्यायिका को 'निदान' अर्थात् मन्त्र की रचना का कारण माना है। 'स्कन्द' ने इसे 'इतिहास' नाम दिया है। प्रो० 'राजवाड़े' (प्र० पृ० २३९–४०) ने 'निदान' को सर्वथा असंगत एवं असम्बद्ध बतलाया है। परन्तु यह उनका एक दुस्साहस मात्र कहा जा सकता है। क्योंकि यही 'निदान' इति-हास तथा पुरावृत्त के नाम से बृहद्देवता में भी मिलता है तथा उसमें एक सूक्त से पहले के चार सूक्तों तथा इस सूक्त (ऋ० वे० १/१७०) के तीन चार मन्त्रों की दृष्टि से इस निदान का विस्तार से उल्लेख किया गया है। (द्र०—बृहद्देवता (४|४६-५३)।

यास्कीय व्याख्या की व्याख्या—मन्त्रों की व्याख्या करने में 'यास्क' की शैली यह है कि वे मन्त्र में जिन शब्दों का अध्याहार करना आवश्यक समझते हैं उन्हें दे देते हैं तथा मन्त्र के किसी कठिन शब्द के स्थान पर सरल लौकिक शब्दों का प्रयोग करते चलते हैं। मन्त्रों के शब्द-क्रम को प्रायः नहीं बदलते। बीच-बीच में मन्त्रों के शब्दों का निर्वचन, वैदिक शब्दों के पर्याय के रूप में प्रस्तुत किये गये लौकिक या सरल शब्दों का निर्वचन तथा निर्वचन के मध्य में आये कठिन या रूढ़िभूत शब्दों का निर्वचन भी करते चलते हैं। इसके अतिरिक्त समान शब्द स्वरूप वाले परन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ वाले कई शब्दों के प्रकृति, प्रत्यय का भी निर्देश प्रसंगतः कर देते हैं।

इन प्रवृत्तियों के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र के 'न नूनम् अस्ति' इस अंश के साथ 'अद्यतनम्' शब्द का अध्याहार किया गया। यह इसलिये आवश्यक था कि मन्त्र के अगले वाक्य में 'श्वः' पद विद्यमान है। 'मेक्डानल' ने 'नूनं' का अर्थ 'अब' (Now) किया है (द्र०—वैदिक ग्रामर, पृ० २३६)। मेक्डानल के अनुसार यहाँ 'अद्यतनम्' के अध्याहार की आवश्यकता नहीं हैं। चूँकि 'अद्यतनम्' में 'तन' प्रत्यय विद्यमान है, इसलिए यास्क ने 'श्वस्' के साथ भी 'तन' प्रत्यय लगाकर तथा पहले चरण में 'नूनं' के समान अर्थ वाले एव' का अध्याहार करके मन्त्र के 'नो श्वः' इस अंश की व्याख्या 'नो एव श्वस्तनम्' के 'रूप' में की। इसके बाद अपनी व्याख्या में अध्याहृत 'अद्यतनम्' शब्द 'अद्य' के निर्वचन की ओर यास्क का ध्यान गया और उसकी उन्होंने व्युत्पत्ति की 'अस्मिन् द्यवि' (आज के दिन) यहाँ 'द्यवि' 'द्य' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है। इसलिये 'द्य' शब्द का अर्थ तथा उसकी व्युत्पत्ति भी दी गयी है। 'द्य' का अर्थ है दिन क्योंकि वह प्रकाशित होता है—चमकता है। 'द्योतते इति सतः' का अर्थ है 'द्योतमानस्य' और यह 'अह्नः' का विशेषण है। इस प्रकार अन्वय हुआ—'द्योतते इति सतः अह्नः द्युः (इति) नामधेयम् अर्थात् प्रकाशमान् दिन का नाम 'द्यु' है। इस शैली में 'द्यु' शब्द में का अर्थ बताने से 'द्यु' शब्द के अर्थ के साथ-साथ यह भी ज्ञात हो गया कि 'द्यु' शब्द 'द्युत्' (दीप्तौ) से बना है। इस रूप में 'अद्य' शब्द का निर्वचन हुआ 'अस्मिन 'द्यवि' जिसका अर्थ है —'आज'।

श्वः इस शब्द का निर्वचन है 'उपाशंसनीयः' जिसका विशेष्य है 'काल' अर्थात् एक ऐसा काल, जिसकी अभी प्रतीक्षा है। यद्यपि व्याख्येय मन्त्र में 'ह्यः' पद नहीं आया है फिर भी 'श्वः' के साथ यास्क ने 'ह्यः' (बीता हुआ कल) का भी निर्वचन कर दिया क्योंकि 'श्वः' के साथ उसकी समानता है। दोनों ही शब्द 'कल' को कहते हैं।

'अद्भूतम्' इस पद का अर्थ यास्क ने 'अभूतम्' (अनुत्पन्न अथवा अकृत) किया है, तथा समान रूप वाले आश्चर्यार्थक 'अद्भूत' के साथ इसका समन्वय इस प्रकार किया है कि आश्चर्य भी अनुत्पन्न जैसा ही होता है।

उसी कार्य को अद्भुत या आश्चर्यपूर्ण कहा जाता है जो पहले कभी नहीं हुआ रहता।

अभिसंचरेण्यम्—इस पद में 'अभि', 'सम्' उपसर्गों के 'चर्' धातु से 'एन्य' प्रत्यय माना जा सकता है। पाणिनि ने एन्य' (केन्य) प्रत्यय का विधान 'तुमुन्' के अर्थ में किया है। परन्तु यहाँ 'तुमुन्' का अर्थ नहीं है। इसीलिये यास्क ने इस शब्द का अर्थ 'अभिसंचारी' अर्थात् अभिसंचरणशील-परिवर्तन-शील' या चंचल किया है।

अन्यः—इस पद की व्युत्पत्ति 'न आनेयः' दूसरे शब्दों में 'न आनेतव्यः' (जिसे अपने घर न लाया जा सके—न ठहराया जा सके) अथवा न विश्वसनीयः किया है। अर्थात् वह व्यक्ति जिसका विश्वास न किया जाये। 'दुर्ग' ने 'नानेयः' शब्द का एक और अर्थ किया है—'नाना रूप से व्यवस्थित अर्थात् 'दुष्ट कुल में उत्पन्न किसी नीच व्यक्ति का पुत्र' परन्तु यह शब्दों में खींचा-तानी मात्र है (चित् शब्द 'चित् संज्ञाने' से बना है)।

अधीतम्—यह शब्द 'आ' उपसर्ग के साथ 'ध्यै' धातु का 'क्त' प्रत्यान्त रूप है। यहाँ व्याकरण के अनुसार 'आध्यात' रूप बनना चाहिये। इसी का अनियमित रूप 'अधीत' माना गया। इसीलिये यास्क ने 'अधीतम्' के पर्याय के रूप में 'आध्यानम्' का प्रयोग किया। इस प्रसङ्ग में 'आध्यातम्' का अर्थ है अभिप्रेत अथवा वांछित।

पद-पूरणार्थक 'ननु'

मूल—

अथापि पद-पूरणः—

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयद् इन्द्र दक्षिणा मघोनी।

शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग् भगो ना बृहद वदेम विदथे सुवीराः ॥

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा। मघोनी मघवती। मघम् इत धन नामधेयम्, महतेर्

दानकर्मणः । दक्षिणा दक्षतेः समर्धयति कर्मणः । व्यृद्धं समर्धयति इति । अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशम् अभिप्रेत्य । दिग् हस्तप्रकृतिः दक्षिणः हस्तो दक्षतेर् उत्साहकर्मणः दाशतेर् वा स्याद् दानकर्मणः । हस्तो हन्ते । प्राशुर् हनने । देहि स्तोतृभ्यः कामान् । मा अस्मान् । अतिदक्षीः–मा अस्मान् अतिहाय दाः । भगो नोऽस्तु) बृहद् वदेम स्वे वेदने । भगो भजतेः । बृहद् इति महतो नामधेयम् । परिवृढं भवति । वीरवन्तः कल्याणवीरा वा । वीरो वीरयत्यमित्रान् । वेतेवा स्याद् गतिकर्मणः, वीरयतेर् वा ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त ('ननु' निपात) 'पद-पूरण' अर्थ वाला भी है।

मन्त्रान्वय—हे इन्द्र ! सा ते मघोनी दक्षिणा जरित्रे नूनं वरं प्रति दुहीयत्। स्तोतृभ्यः शिक्ष । माति धग् भगः न (अस्तु) । सुवीराः' (वयं) विदथे बृहद् वदेम।

मन्त्रानुवाद—हे इन्द्र तुम्हारी वह (प्रसिद्ध) धन वाली दक्षिणा (पुरस्कार) स्तोता के लिये आज ही (अभी) वह (अभीष्ट वस्तु) प्रदान करे । हमें छोड़कर मत दो (हमें भी दो) । हमको भी ऐश्वर्य प्राप्त हो । सुन्दर वीरों (पुत्रों) वाले (हम लोग अपने) घर (या यज्ञ) में ऊँचे स्वर से तुम्हारी स्तुति करें ।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद—वह तुम्हारी (दक्षिणा) वर अभीष्ट वस्तु को) स्तोता के लिये (प्रदान करे) वह वरणीय होता है । जरिता (का अर्थ है) गरिता (स्तोता) । मघोनी (अर्थात्) मघवती । 'मघ' यह धन का नाम है तथा 'दान' अर्थ वाली 'मह' धातु से (निष्पन्न है) । 'दक्षिणा' (शब्द) 'समृद्धि' अर्थ 'वाली 'दक्ष' धातु से (निष्पन्न है) । (क्योंकि दक्षिणा) निर्धन को समृद्ध बना देती है । अथवा दक्षिण (दिशा) की ओर आने के कारण दिशा की दृष्टि से ('दक्षिणा') शब्द बना है । (दक्षिण) 'दिशा' (को 'दक्षिण कहे जाने) का मूल (कारण) है दाहिना हाथ । 'दक्षिणः' हस्तः' यहाँ 'दक्षिण' (शब्द) 'उत्साह' अर्थ वाली 'दक्ष' अथवा 'दान' अर्थ वाली 'दाश्' (धातु) से (निष्पन्न है) । 'हस्त' (शब्द) 'हन्' धातु से (निष्पन्न है) । क्योंकि वह मारने (अथवा गति) में तेज है । स्तुति करने वाले को अभीष्ट वस्तु दो । ('मा अतिदक्' का अर्थ है) 'मा अस्मान् अतिहाय देहि' (अर्थात् हमें छोड़कर (अन्यों को) मत दो । हमें (भी

धन आदि (ऐश्वर्य) की प्राप्ति हो । (बृहद् वदेम विदथे' का अर्थ है) बृहद् वदेम स्वे वेदने' अर्थात् (हम) अपने घर (या यज्ञ) में उच्च स्वर से या (विस्तृत रूप में) बोलें (स्तुति करें) । 'भग' शब्द 'भज' (सेवायाम्) से निष्पन्न है । 'बृहत्' (शब्द:) 'महत् का पर्याय है क्योंकि वह चारों ओर बढ़ा हुआ होता है । (सुवीरा:' का अर्थ है) 'वीरवन्त.' अर्थात् वीरों (या पुत्रों) से युक्त अथवा सुन्दर या कल्याणकारी वीरों (या पुत्रों) से युक्त । 'वीर' शत्रुओं को कंपाता है इसलिये 'वि ईर्' से निष्पन्न है) अथवा 'गति' अर्थ वाले 'वी' या (चुरादिगणीय) 'वीर' (धातु) से (निष्पन्न है) ।

व्याख्या—पद पूरणार्थक 'ननु' निपात के उदाहरण के रूप में 'नूनं साते०' यह मन्त्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है तथा इसीलिये यास्क ने 'ननु' शब्द को अपनी व्याख्या में स्थान नहीं दिया । परन्तु यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि इस मन्त्र में 'नूनम्' का अर्थ यहाँ भी आज', 'अभी', इसी समय' इत्यादि न केवल सम्भव है अपितु सर्वथा उचित है और इसलिये आवश्यक भी है क्योंकि 'नूनम्' का इस प्रकार से अर्थ करने में मन्त्रार्थ में एक विशेष प्रभाव आ जाता है । Geldner ने यहां 'नूनम्' का अर्थ 'अत्र' ही किया है ।

यास्कीय व्याख्या की व्याख्या

प्रतिदुहियत्—'प्रति' उपसर्ग पूर्वक दुह्' (आत्मनेपदी) धातु के 'लिङ्' लकार अन्य पुरुष एक वचन का रूप है । "यास्क" ने उसके स्थान पर लोट्' लकार के 'प्रतिदुग्धाम्' रूप का प्रयोग किया है वैदिक भाषा में यह आवश्यक नहीं है कि क्रियापद से अव्यवहित पूर्व में ही उपसर्गों का प्रयोग हो । यह नियम केवल लौकिक संस्कृत में ही पाया जाता है । वेदों में से तो उपसर्गों का क्रियापद से बहुत पहले अथवा बहुत बाद में भी प्रयोग मिलता है । यहाँ 'प्रति' तथा 'दुहीयत्' दोनों पदों के बीच पर्याप्त व्यवधान है परन्तु अर्थ करने में दोनों एक साथ सम्बद्ध हो जायेंगे । वैदिक मन्त्रों में मिलने वाले उपसर्गों तथा क्रियापदों की इसकी व्यवहित स्थिति की सूचना पाणिनि ने अपने 'छन्दसि परेऽपि' तथा 'व्यवहिताश्च' (अष्टा० १/४/८१, ८२) इन दो सूत्रों द्वारा दी है ।

वर—इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यह कहा गया कि वर को 'वर'

दानकर्मणः । दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः । व्यृद्धं समर्धयति इति । अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशम् अभिप्रेत्य । दिग् हस्तप्रकृतिः दक्षिणः हस्तो दक्षतेर् उत्साहकर्मणः दाशतेर् वा स्याद् दानकर्मणः । हस्तो हन्ते । प्राशुर् हनने । देहि स्तोतृभ्यः कामान् । मा अस्मान् । अतिदह्णीः–मा अस्मान् अतिहाय दाः । भगो नोऽस्तु) बृहद् वदेम स्वे वेदने । भगो भजतेः । बृहद् इति महतो नामधेयम् । परिवृढं भवति । वीरवन्तः कल्याणवीरा वा । वीरो वीरयत्यमित्रान् । वेतेवा स्याद गतिकर्मणः, वीरयतेर् वा ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त ('ननु' निपात) 'पद-पूरण' अर्थ वाला भी है ।

मन्त्रान्वय—हे इन्द्र ! सा ते मघोनी दक्षिणा जरित्रे नूनं वरं प्रति दुहीयत् । स्तोतृभ्यः शिक्ष । मातिधग् भगः न (अस्तु) । सुवीराः' (वयं) विदथे बृहद् वदेम ।

मन्त्रानुवाद—हे इन्द्र तुम्हारी वह (प्रसिद्ध) धन वाली दक्षिणा (पुरस्कार) स्तोता के लिये आज ही (अभी) वह (अभीष्ट वस्तु) प्रदान करे । हमें छोड़कर मत दो (हमें भी दो) । हमको भी ऐश्वर्य प्राप्त हो । सुन्दर वीरों (पुत्रों) वाले (हम लोग अपने) घर (या यज्ञ) में ऊँचे स्वर से तुम्हारी स्तुति करें ।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद—वह तुम्हारी (दक्षिणा) वर अभीष्ट वस्तु को) स्तोता के लिये (प्रदान करे) वह वरणीय होता है । जरिता (का अर्थ है) गरिता (स्तोता) । मघोनी (अर्थात्) मघवती । 'मघ' यह धन का नाम है तथा 'दान' अर्थ वाली 'मह' धातु से (निष्पन्न है) । 'दक्षिणा' (शब्द) 'समृद्धि' अर्थ 'वाली 'दक्ष' धातु से (निष्पन्न है) । (क्योंकि दक्षिणा) निर्धन को समृद्ध बना देती है । अथवा दक्षिण (दिशा) की ओर आने के कारण दिशा की दृष्टि से ('दक्षिणा') शब्द बना है । (दक्षिण) 'दिशा' (को 'दक्षिण कहे जाने) का मूल (कारण) है दाहिना हाथ । 'दक्षिणः' हस्तः' यहाँ 'दक्षिण' (शब्द) 'उत्साह' अर्थ वाली 'दक्ष' अथवा 'दान' अर्थ वाली 'दाश्' (धातु) से (निष्पन्न है) । 'हस्त' (शब्द) 'हन्' धातु से (निष्पन्न है) । क्योंकि वह मारने (अथवा गति) में तेज है । स्तुति करने वाले को अभीष्ट वस्तु दो । ('मा अतिक्रम्' का अर्थ है) 'मा अस्मान् अतिहाय देहि' (अर्थात् हमें छोड़कर (अन्यों को) मत दो । हमें (भी

धन आदि (ऐश्वर्य) की प्राप्ति हो। (बृहद् वदेम विदथे' का अर्थ है) बृहद् वदेम स्वे वेदने' अर्थात् (हम) अपने घर (या यज्ञ) में उच्च स्वर से या (विस्तृत रूप में) बोलें (स्तुति करें)। 'भग' शब्द 'भज' (सेवायाम्) से निष्पन्न है। 'बृहत्' (शब्द) 'महत् का पर्याय है क्योंकि वह चारों ओर बढ़ा हुआ होता है। (सुवीराः' का अर्थ है) 'वीरवन्त.' अर्थात् वीरों (या पुत्रों) से युक्त अथवा सुन्दर या कल्याणकारी वीरों (या पुत्रों) से युक्त। 'वीर' शत्रुओं को कंपाता है इसलिये 'वि ईर्' से निष्पन्न है) अथवा 'गति' अर्थ वाले 'वी' या (चुरादिगणीय) 'वीर' (धातु) से (निष्पन्न है)।

व्याख्या—पद पूरणार्थक 'ननु' निपात के उदाहरण के रूप में 'नूनं साते०' यह मन्त्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है तथा इसीलिये यास्क ने 'ननु' शब्द को अपनी व्याख्या में स्थान नहीं दिया। परन्तु यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि इस मन्त्र में 'नूनम्' का अर्थ यहाँ भी 'आज', 'अभी', इसी समय' इत्यादि न केवल सम्भव है अपितु सर्वथा उचित है और इसलिये आवश्यक भी है क्योंकि 'नूनम्' का इस प्रकार से अर्थ करने में मन्त्रार्थ में एक विशेष प्रभाव आ जाता है। Geldner ने यहाँ 'नूनम्' का अर्थ 'अत्र' ही किया है।

यास्कीय व्याख्या की व्याख्या

प्रतिदुहियत्—'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'दुह्' (आत्मनेपदी) धातु के 'लिङ्' लकार अन्य पुरुष एक वचन का रूप है। "यास्क" ने उसके स्थान पर 'लोट्' लकार के 'प्रतिदुग्धाम्' रूप का प्रयोग किया है वैदिक भाषा में यह आवश्यक नहीं है कि क्रियापद से अव्यवहित पूर्व में ही उपसर्गों का प्रयोग हो। यह नियम केवल लौकिक संस्कृत में ही पाया जाता है। वेदों में से तो उपसर्गों का क्रियापद से बहुत पहले अथवा बहुत बाद में भी प्रयोग मिलता है। यहाँ 'प्रति' तथा 'दुहीयत्' दोनों पदों के बीच पर्याप्त व्यवधान है परन्तु अर्थ करने में दोनों एक साथ सम्बद्ध हो जायेंगे। वैदिक मन्त्रों में मिलने वाले उपसर्गों तथा क्रियापदों की इसकी व्यवहित स्थिति की सूचना पाणिनि ने अपने 'छन्दसि परेऽपि' तथा 'व्यवहिताश्च' (अष्टा० १/४/८१, ८२) इन दो सूत्रों द्वारा दी है।

वर—इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यह कहा गया कि वर को 'वर'

इसलिये कहा जाता है कि वह वरणीय, स्वीकरणीय अथवा चुनने योग्य होता है। "स्कन्द" ने इस 'वर' का अर्थ प्रार्थित या अभिलषित वस्तु किया है।

जरित्रे—'जरिता' शब्द के चतुर्थी विभक्ति एक वचन में 'जरित्रे' बना है। 'जरिता' शब्द यास्क की दृष्टि से 'गरिता' शब्द से वर्णविपर्यय ('ग' का ज') होकर बना है। 'जृ' धातु लौकिक संस्कृत में वृद्ध होने (वयो हानौ) के अर्थ में प्रसिद्ध है। सम्भवतः इसीलिये यास्क ने 'जरिता' शब्द की निष्पत्ति 'जृ' से न मानकर 'गृ' से मानी। 'गृ' धातु पाणिनीय धातु पाठ में 'शब्द' अर्थ में पठित है इसलिये 'गरिता' का अर्थ स्तोता हो सकता है। परन्तु 'जरिता' शब्द 'को' 'गृ' धातु से निष्पन्न मानने की अपेक्षा, सीधे जृ' धातु से ही निष्पन्न मानना चाहिये। ऋग्वेद में 'जृ' धातु 'वृद्धावस्था' तथा 'स्तुति' दोनों ही अर्थों में प्रचलित है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में 'जरितृ' अनेकों बार 'स्तोता' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे एतद् वचो जरितर् मऽपि मृष्ठाः' (ऋ० वेद ३/३३/८) इत्यादि।

मघोनी—मघ' शब्द से 'वतुप्' प्रत्यय तथा स्त्रीलिङ्ग में 'ईकार' करके लौकिक संस्कृत में 'मघवती' रूप बनेगा। पर वैदिक भाषा में 'मघवती' के स्थान पर 'मघोनी' प्रयोग मिलता है। यास्क ने 'मघ' शब्द को 'दान' अर्थ वाली 'मंह्' धातु से निष्पन्न माना है। पाणिनि धातु पाठ में 'मंह्' धातु वृद्धि' अर्थ में मिलती है पर 'दान' अर्थ में नहीं। परन्तु ऋग्वेद में दान र्थक 'मंह' धातु का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है। जैसे—'स्तोतृभ्यो, मंहते मघम्' (ऋ० वे० १।११/३)।

दक्षिणा—'समृद्ध करने' अथवा समृद्ध बनाने' अर्थ वाली 'दक्ष' धातु से 'दक्षिणा' शब्द बनेगा। इस 'दक्ष्' धातु के 'आदक्षते', 'दक्षमाणा', 'ददक्षे' इत्यादि प्रयोग वेदों में मिलते हैं। 'दक्ष्' धातु से 'दक्षिण' शब्द को निष्पन्न मानने का कारण यह है कि (प्रचुर) 'दक्षिणा' निर्धन को भी समृद्ध बना देती है। 'दक्षिणा' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि दक्षिण दिशा से सम्बन्ध होने के कारण दक्षिण को 'दक्षिणा' कहा जाने लगा। दक्षिणा' में दी जाने वाली गायें यज्ञवेदि के बायें तरफ से दक्षिण दिशा को ओर लाकर फिर ऋत्विज आदि को दान

रूप में दी जाती हैं। इसलिये दक्षिण दिशा की ओर जाने के कारण 'गौ' इत्यादि को 'दक्षिणा' कहा जाने लगा।

इसी प्रसंग में 'यास्क' ने दक्षिण दिशा को 'दक्षिण' कहे जाने का भी कारण बताया है और वह यह है कि पूर्वाभिमुख स्थित प्रजापति के दाहिने हाथ की तरफ होने के कारण इस दिशा को 'दक्षिण' दिशा कहा जाने लगा। कोई भी व्यक्ति पूरब की ओर मुख करके खड़ा हो जाय तो उसके दक्षिण हाथ की ओर ही दक्षिण दिशा पड़ती है। (दक्षिण:) हस्त: प्रकृतिर् यस्य 'असौ' इस प्रकार का 'बहुव्रीहि' समास सम्बन्धी विग्रह करके तथा 'दिक्' को 'हस्त प्रकृति:' को विशेषण मानकर यह अर्थ प्रकट किया गया। यहीं इस प्रश्न पर भी विचार किया गया कि दाहिने हाथ को दक्षिण क्यों कहा जाता है। यास्क का कहना है कि 'हस्त के लिये जिस 'दक्षिण' शब्द का प्रयोग होगा है उसे 'उत्साह' अर्थ वाले 'दक्ष्' धातु से निष्पन्न मानना चाहिये, क्योंकि दाहिने हाथ से ही सभी उत्साह-पूर्ण या शक्ति सापेक्ष कार्य किये जाते हैं। पाणिनीय धातु से 'उत्साह' अर्थ वाली दक्ष्' धातु नहीं मिलती। वहाँ 'दक्ष् वृद्धौ शीघ्रार्थे च' इस रूप में यह धातु पठित है। यास्क ने 'दक्ष्' के विकल्प के रूप में, 'दान' अर्थ वाली 'दाश्' धातु से इस 'दक्षिण' शब्द को बनाया है, क्योंकि दान देने का कार्य दाहिने हाथ से किया जाता है। यास्क यहीं नहीं रुके। उन्होंने 'हस्त' शब्द की व्युत्पत्ति भी प्रस्तुत की तथा यह कहा कि 'हस्त' शब्द 'हन्' धातु से बनगा। यहाँ 'हन्' धातु के अभीष्ट अर्थ की ओर उन्होंने संकेत नहीं किया। 'हन्' के दो अर्थ हैं 'हिंसा' तथा 'गति' (हन् हिंसागत्यो') । इसलिये 'प्रांशुः हनने' के दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। अर्थात् हाथ को 'हस्त' इसलिये कहते हैं कि 'मारने' अथवा 'गति करने' में दाहिना हाथ बहुत तेज है।

शिक्ष—यह लोट लकार मध्यम पुरुष एकवचन का प्रयोग है। 'शिक्ष' के स्थान पर छान्दस दीर्घ होकर 'शिक्षा' बन गया है। "यास्क" ने 'शिक्षा' का अर्थ 'देहि' करके 'देहि स्तोतृभ्य:' के साथ 'का मान्' पद का अध्याहार किया है। 'शिक्ष' धातु मूल धातु न होकर सम्भवत: 'देने' अर्थ वाली 'शक्' धातु के सन्नन्त रूप से बनी हुई है। यह 'शिक्ष' धातु वेद में अनेक बार परस्मैपदी धातु के रूप 'देने' अर्थ के लिये प्रयुक्त हुई है। सम्भवत: बाद में लौकिक संस्कृत में

आकर यह धातु केवल 'शिक्षा देने' के अर्थ में सीमित हो गयी । इसीलिए पाणिनि ने भी 'शिक्ष' का अर्थ 'विद्योपादाने किया है ।

मा अति धक्—इस वाक्य का अर्थ पहले यास्क ने 'मा अस्मान् अतिदंहीः' किया तथा अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा 'मा अस्मान् अतिहाय दाः' अर्थात् हमें छोड़कर मत दो । 'अतिधक्' प्रयोग 'अति' उपसर्ग पूर्वक 'दह' धातु के लोट लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन का रूप है । यास्क ने 'मातिधक्' की व्याख्या के रूप में जो 'मातिदंहिः' तथा 'माऽस्मान् अतिहाय दाः' कहा है उससे यह प्रतीत होता है कि वे 'धक्' को दानार्थक 'दंह' धातु से निष्पन्न मानते हैं । परन्तु 'दान' अर्थ वाली 'दह' धातु न तो वेद में और न लोक में कहीं प्रयुक्त नहीं है । 'दुर्ग' तथा 'स्कन्द' ने 'मातिदं हीं' की चर्चा ही नहीं की है। स्कन्द ने 'दंह' को दानार्थक मान कर इस स्थल की व्याख्या कर दी है। द्र०—**धग् 'इति पदं, देहर' दानार्थस्य रूपम् । मा अस्मान् अतिहाय दाः प्रथमम् अस्मभ्य देहि पश्चाद् अन्येभ्य इत्यर्थः** (स्कन्दभाष्य, भाग १, पृ०

टिप्पणी— 'नूनं सा ते० 'यह मंत्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल में सात प्रयुक्त हुआ है । यहाँ 'अतिधक्' का अर्थ वेंकटमाधव' ने 'मा अस्मान् अधाक्षीः' (हमें मत जलाओ) किया है तथा इसे अन्य पुरुष, एकवचन का रूप माना है । 'सायण' ने सम्भवतः यास्क के अनुकरण पर, अतिधक्' को दानार्थक 'दंह' धातु का रूप मानकर 'हमें छोड़कर मत दो' यह अर्थ किया है। विकल्प के रूप में 'मा अधाक्षीः' अर्थ भी कर दिया है । एक अन्य मा परिवक्तम् उत नाऽधिक्तम् (ऋ० वे० १/१८३/४) में भी यही धातु लकार के द्विवचन में प्रयुक्त हुई है । यहाँ भी सायण ने 'मा अस्मान् क्रम्य अन्यस्मै दत्तम्' अर्थ किया है । यों 'धक्' प्रयोग 'दंध' (दधि सेकाराद् वर्जने च) धातु से बनाना अधिक उचित प्रतीत होता है । इसी से यास्क का 'दंहीः' प्रयोग भी सम्भवतः सम्बद्ध हो ।

'भगो नः'—इस अंश के साथ यास्क ने 'अस्तु' इस क्रियापद का अध्याहार किया है । 'भग' शब्द 'भज् सेवायाम्' से निष्पन्न हो गया ।

'विदथे'—इस शब्द का यास्क अर्थ करते हैं 'स्वे वेदने' अर्थात् घर में । दुर्ग तथा स्कन्द ने वेदने' का उल्लेख अपनी टीका में नहीं

है। दुर्ग 'विदथे' का अर्थ 'यज्ञ' अथवा 'घर' करता है। स्कन्ध ने केवल 'यज्ञ' अर्थ किया है। 'विदथे' शब्द 'विध्' (पूजा अथवा स्तुति करना इत्यादि) या 'विद्' धातु से विद्वानों ने बताया है। यास्क 'विदथे' का अर्थ 'वेदने' कह कर उसे संभवत: 'विद्' से निष्पन्न मानते हैं। 'बृहत्' शब्द यास्क के अनुसार 'वृद्धि' अर्थ वाले 'बृह्' धातु से बनेगा। तथा 'बृहत्' 'महत्' का पर्याय है क्योंकि 'बृहत्' चारों ओर बढ़ा हुआ होता है।

सुवीरा:—यास्क ने 'सुवीरा:' का अर्थ पहले 'वीरवन्त:' किया है जिसका अभिप्राय है 'सन्तान या वीरों से युक्त'। उसके बाद इस शब्द का दूसरा अर्थ 'कल्याणवीरा:' किया जिसका अभिप्राय है कल्याणकारी पुत्रों या वीरों से युक्त। यहाँ प्रसङ्गत: 'वीर' शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। पहली व्युत्पत्ति है—'वीरयति अमित्रान्' अर्थात् 'वीर' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'ईर्' धातु से बना क्योंकि 'वीर' शत्रुओं को अनेक रूपों में कंपा देता है (विविधम् ईरयति), पीछे धकेल देता है या छिन्न-भिन्न कर देता है। दूसरी व्युत्पत्ति है। वेतेर् वा स्याद् गतिकर्मण:' अर्थात्' शब्द 'गति' अर्थ वाली 'वी' धातु से 'र' प्रत्यय करके बनेगा। 'वीर' युद्ध-क्षेत्र में विविध रूपों में गति-गमन करता है या शत्रु के अभिमुख जाता है इसलिये उसे 'वीर' कहा जाता है। तीसरी व्युत्पत्ति है—'वीरयतर्वा' अर्थात् 'वीर' शब्द चुरादिगणीय 'वीर' (विक्रान्तौ) धातु से निष्पन्न होगा क्योंकि 'वीर' अनेक पराक्रमयुक्त कार्य करता है।

यहाँ यास्क ने 'नूनम्' निश्चयार्थक तथा पदपूरणार्थक माना है। 'वर्धमान' ने 'नूनम्' के 'तर्क' 'निश्चय' तथा 'उत्प्रेक्षा' अर्थ माने हैं।

सीम्

मूल—

'सीम्' इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा।

प्रसीम् आदित्यो असृजत् (ऋ० वे० २/२८/४)

'प्रासृजत्' इति वा। प्रासृजत् सर्वतः इति वा।

अनुवाद—'सीम्' यह (निपात) 'परिग्रह' (सर्वत्र) अर्थ वाला है अथवा पदपूरणार्थक है। जैसे प्रसीम् आदित्यो 'असृजत्'। सीम् को पद-पूरणार्थक

मानते हुए उस मंत्रांश का अर्थ होगा) आदित्य ने (नदियों को) तेजी से बहा (यदि सीम् को परिग्रहार्थीय माना जाय तो इस अंश का अर्थ होगा) आदि ने (नदियों को) चारों ओर तेजी से बहाया।

व्याख्या—'यास्क' का विचार है कि 'सीम्' निपात का अर्थ या तो 'सर्व या 'सर्वतः' होता है अथवा उसे सर्वथा अनर्थक मानकर उसका प्रयोग के पद-पूर्ति के लिए माना जाये। अपनी इस धारणा के अनुसार 'प्रसी आदित्योऽसृजत्' इस मन्त्रांश के उन्होंने दो अर्थ किये, पहला यह कि आदि ने तेजी से बहाया। यहाँ 'सीम्' को अनर्थक समझकर उसे केवल पद-पूर्ति लिए माना गया। दूसरा अर्थ यह किया कि आदित्य ने चारों ओर तेजी नदियों को बहने दिया। इस अर्थ में 'सीम्' को 'परिग्रह' अर्थात् 'सर्वत्र' चारो ओर अर्थ वाला माना है।

टिप्पणी—इस 'सीम्' निपात का प्रयोग केवल ऋग्वेद में ही मिलता 'मेकडानल' का विचार है कि यह 'स' सर्वनाम द्वितीया विभक्ति एकवचन रूप है। जिस प्रकार 'सीम्' का सम्बन्ध 'क' सर्वनाम से है, उसी प्रकार का सम्बन्ध 'स' सर्वनाम से है। इसकी स्थिति प्रायः उपसर्ग और क्रिया के म देखी जाती है। जैसे—**परिसीं नयन्ति** अथवा यहाँ उद्धृत **प्रसीम् आदित्योऽसृ** इत्यादि। इस रूप में यह 'सीम्' ऐसी वस्तु या व्यक्ति को कहता है जिस निर्देश पहले हो चुका हो अथवा तत्काल बाद में किया जाने वाला **प्रसीम् आदित्योऽसृजत्** में 'सीम्' नदियों को संकेतित कर रहा है। जि उल्लेख मन्त्र के दूसरे चरण 'सिंधवः' शब्द द्वारा हुआ है। इसी प्रकार सस **सीं परावतः** (ऋ० वे० ४/३०/११) में 'सीम्' उषा का निर्देश कर रहा कभी-कभी 'सीम्' 'सब कुछ' का अर्थ देता है, जैसे **यत् सीम् आगश च शिश्रयस् तत्** (हम लोगों ने जो कुछ भी पाप किया है वह सब दूर कर इन प्रयोगों से यह भी पता लगता है कि सामान्यतया द्वितीया विभक्ति के में अन्य पुरुषों के सभी लिङ्गों तथा वचनों में 'सीम्' का प्रयोग हुआ है। प कहीं भी ऐसा प्रयोग नहीं मिलता जहाँ 'सीम्' केवल पद-पूर्ति के लिए ही प्र हुआ हो।

इस प्रकार 'हि' से लेकर 'सीम्' तक इन सात निपातों का जो यद्यपि कर्मोपसंग्रह अर्थ वाले नहीं हैं, अर्थ प्रसंगतः दिखलाया गया।

सीमतः

मूल—

वि सीमतः सुरुचो वेन आवः (अथर्व० ४/१/१) इति च। व्यावृणोत् सर्वतः आदित्यः। 'सुरुचः' आदित्यरश्मयः, सुरोचनात्। अपि वा, 'सीम्' इत्येतद् अनर्थकम् उपबन्धम् आददीत पञ्चमीकर्माणम्। सीम्नः सीमतः सीमातः मर्यादातः। सीमा मर्यादा, विषीव्यति, देशौ इति।'

अनुवाद—विसीमतः सुरुचो वेन आवः यहाँ ('सीमतः भी) परिग्रहार्थीय अथवा पद-पूरणार्थक है। (इसका अर्थ है) आदित्य ने प्रशस्त दीप्ति वाली रश्मियों को सब ओर उन्मुक्त कर दिया। 'सुरुचः' (शब्द का अर्थ है) आदित्य की रश्मियाँ क्योंकि वे अच्छी तरह प्रकाशित होती हैं।

अथवा ('सीमतः' शब्द में 'सीम्' को प्रातिपदिक मानकर यह माना जाय कि) 'सीम्' (शब्द) ने (प्रायः) पञ्चमी अर्थ वाले, (पर यहाँ) अनर्थक (स्वार्थ में) 'तस्' प्रत्यय को अपने साथ युक्त कर लिया है। इस दृष्टि से 'सीमन्तः' का पर्याय 'सीम्नः' है या (दूसरे शब्दों में) 'सीमतः' अथवा 'मर्यादातः' 'सीमा' मर्यादा को कहते हैं क्योंकि 'सीमा' दो देशों को अलग करती है।

व्याख्या—'सीमतः' निपात का 'यास्क' ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, इसलिये यहाँ 'वि सीमतः सुरुचो वेन आवः' के साथ प्रयुक्त इति 'च' का अर्थ विवादास्पद प्रतीत होता है। 'दुर्ग' ने 'इति च' से यह अर्थ निकाला है कि यास्क 'सीम्' निपात का ही एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। द्र०—सीमतः सुरुचो वेन आवः इति च द्वितीयम् उदाहरणम् (दुर्गभाष्य आनन्दाश्रम-संस्करण, पृ० ५२) दुर्ग के अनुसार इस मन्त्रांश में भी 'सीम्' निपात का प्रयोग मानते हुए 'सीमतः' शब्द को 'सीम् + अतः' इस रूप में अलग-अलग करना होगा। तथा 'सीम्' को परिग्रह अर्थ वाला मानते हुए और 'अतः' का अर्थ 'अस्मात् स्थानात्' करके उपर्युक्त मन्त्रांश का अर्थ यह करना होगा कि 'आदित्य

ने इस स्थान से (किरणों के मूल स्थान से) किरणों को सभी दिशाओं की ओर उन्मुक्त किया।' और यदि 'सीम्' को केवल पद पूरणार्थ माना गया तो मन्त्रांश का अर्थ होगा आदित्य ने इस स्थान से किरणों को उन्मुक्त किया'। व्यावः 'वि' तथा आङ् उपसर्गों के साथ 'वृ' धातु के 'लङ् लकार का वैदिक रूप है 'वृ' का अर्थ है 'ढकना' परन्तु 'वि' और 'आ' के साथ प्रयुक्त होने के कारण 'व्यावः' का अर्थ होगा अच्छी तरह उन्मुक्त कर देना अथवा अनावृत कर देना

इस रूप में, दुर्ग के अनुसार यह मानना चाहिये कि 'इति च' कहते हुए यास्क की धारणा यह है कि 'सीमतः' यह शब्द 'सीम्' तथा अतः इन दो निपातों से बना हुआ है तथा 'सीम्' का वही परिग्रह या पद-पूरण अर्थ है यह दूसरी बात है 'सीम्' को पद-पूरण मानकर इस मन्त्रांश की दूसरी व्याख्या 'यास्क' ने नहीं की है। जिस प्रकार 'प्रसीम् आदित्योऽसृजत्' की यास्क ने व्याख्यायें की उसी तरह यहाँ भी, व्यवृणोद् आदित्यः व्यवृणोत् सर्वतः आदि इति वा इस रूप में दो व्याख्यायें की जानी चाहिये थीं। परन्तु 'सीमतः' 'सीम्' तथा 'अतस्' इन दो निपातों की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि 'सीमतः' शब्द में 'तः' उदात्त है। यदि 'सीम्+अतस्' होता तो 'सीम्' अनुदात्त तथा 'अतस्' के आद्युदात्त होने के कारण 'सीमतः' पद मध्योदात्त होता। इसके अतिरिक्त पदपाठ में 'सीमतः' को एक पद माना गया है दो नहीं

इसलिये 'इतिच' से सन्तुष्ट न होकर 'अपि वा०' इत्यादि पंक्तियों में 'यास्क' एक दूसरा पक्ष रखा जिसमें 'सीम्' इस प्रातिपदिक शब्द के साथ अन्य उपलब्ध ('तस्' प्रत्यय) की कल्पना करके 'सीमतः' के शब्द की निष्पत्ति की गयी तथा 'सीमतः' से पर्याय रूप में 'सीम्नः' शब्द को प्रस्तुत किया गया। प्रकार 'सीमन्' से पञ्चमी विभक्ति के एक वचन में 'सीम्नः' प्रयोग बनता उसी प्रकार उसी अर्थ के वाचक 'सीम' शब्द से पञ्चमी विभक्ति के अर्थ 'तस्' प्रत्यय आया हुआ है। अतः दोनों शब्दों का अर्थ एक है। 'सीमतः' और अधिक स्पष्ट करने के लिये 'यास्क' ने दो और लौकिक-प्रयोग 'सीमातः' तथा 'मर्यादातः' को प्रदर्शित किया है। सीमन् तथा 'सीमा' में केवल इतना ही है कि एक पुल्लिङ्ग है तो दूसरा स्त्रीलिङ्ग और पहले

अपेक्षा दूसरा अधिक प्रसिद्ध है। 'सीमा' का ही लगभग दूसरा पर्याय 'मर्यादा' है। अतः उसके साथ भी 'तस्' प्रत्यय लगाकर यास्क ने इसे भी प्रस्तुत किया।

'स्कन्द' ने 'सीमतः' शब्द विषयक प्रकरण का उपक्रम करते हुये यह कहा है कि 'सीमतः' को 'नाम' शब्द माना जाय या निपात। इस विषय की विवेचना के लिये यास्क ने इस प्रकरण का आरम्भ किया है तथा 'सीमतः' को निपात मानकर 'वि सीमत सुरुचोवेन आव' इस मन्त्र को उद्धृत किया है। 'इति च' का अर्थ स्कन्द के अनुसार, यह है कि यह एक दूसरा 'सीमतः' निपात भी या तो परिग्रहार्थीय है या पदपूर्णार्थीय है। परन्तु स्कन्द का यह कथन इसलिये असंगत है कि 'सीमतः' है 'नाम' (प्रातिपदिक) होने की तो बात नहीं उठती क्योंकि 'अभितः' आदि के समान वह तो सदा ही निपात है। चाहे 'सिम् + अतस्' सीमतः शब्द बनाया जाय या 'सीम + तस् से दोनों ही स्थितियें में निपात ही मानना होगा। 'नाम' नहीं। वस्तुतः प्रश्न यह है कि 'सीमतः' इस निपात में 'सीम्' इस निपात की सत्ता मानी जाय या 'सीम्' इस 'नाम' शब्द की ? कुछ लोग जो 'सीमतः' में 'सीम्' निपात मानते थे, सम्भवतः उनकी दृष्टि यास्क ने 'इति च' कहा है। परन्तु इस मत के अनौचित्य को जिनका प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है, देखते हुए यास्क ने दूसरे पक्ष की 'अपि वा० इत्यादि के द्वारा विस्तार से स्थापना की। स्वयं स्कन्द ने भी 'अपि वा०' इत्यादि की संगति लगाते हुए तथ्य का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि 'सीमतः' में 'सीम्' यह

१—डॉ० लक्ष्मण स्वरूप ने यहाँ के इस पाठ को नीचे के पाठभेदों में स्थान दिया है तथा ऊपर ग्रन्थ भाग में 'अपि' वा 'सीम्' इत्यनेन् 'नाम' पदम् इत्यादि पाठ स्वीकार किया है। परन्तु ग्रन्थभाग का यह पाठ सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि 'सीम्' तो निश्चित रूप से निपात है ही—उसमें संदेह के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इसलिए इस प्रकरण की संगति तथा स्वारस्य की दृष्टि से अपि वा सीम्' इत्येतन् 'नाम' पदम, पाठ ही ठीक है। निरुक्त में भी 'सीम्' तो इत्येन्द अनर्थकम्······पञ्चमीकर्माणम्' पाठ से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

निपात न होकर सीम्, यह नाम पद है, इस बात को यास्क की ये पंक्ति स्पष्ट कर रही हैं। द्र०—"अपि वा सीमित्येतन् नामपदं न निपात इत्याचष्टे 'सीम्' इत्येतत् प्रातिपदिकम् ...आददीत पञ्चमी कर्माणम्। (स्कन्दभाष्य भाग १, पृ० ७१)।

एक प्रश्न यहाँ विचारणीय यह है कि यास्क ने 'सीमत:' में 'तस् प्रत्यय' को अनर्थक क्यों माना? 'सीमत' में 'सीम' नाम मानते हुए तथा 'सीम' 'सीमातः' मर्यादातः' इन प्रयोगों को 'सीमत:' की तुलना से प्रस्तुत करते सीमत: के 'तस्' को किस प्रकार अनर्थक माना जा सकता है—यह बात समझ में नहीं आती। स्कन्द का यह कथन बहुत युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता कि 'तस्' प्रत्यय को पञ्चम्यर्थक कह दिया गया तथा 'पञ्चमी' के अतिरिक्त 'तस्' का दूसरा कोई अर्थ नहीं है इसलिए इस दृष्टि से 'तस्' प्रत्यय अनर्थक है। इसके विपरीत यह भी तो कहा जा सकता है कि जब प्रत्यय को 'पञ्चमीकर्म' (पञ्चम्यर्थक) कहा गया तो फिर वह अनर्थक कैसे हैं? यह तो 'वदतो व्याघात' दोष है। यह तो हो सकता है कि यदि 'सीम्' से 'सीमत:' बनाया जाय तो 'सीम्' का यास्क के अनुसार, अपना ही अर्थ 'परिग्रह' (सर्वत:) है जैसा 'प्रसीम् आदित्योऽसृजत्' इस मंत्रांश की व्याख्या से स्पष्ट है। इसलिये स्थिति में, 'तस्' को अनर्थक माना जा सकता है। परन्तु जहाँ प्रत्यय की अनर्थकता की बात कही गयी है, वहाँ 'सीमत:' में 'सीम्' नाम माना जा रहा जिसका अर्थ 'परिग्रह' न होकर 'सीमा' है।

प्रसंगत: 'सीमा' शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ भी यहाँ यास्क ने स्पष्ट दिया है। 'सीमा' मर्यादा को कहते हैं क्योंकि वह देशों, प्रान्तों, ग्रामों इत्यादि को एक दूसरे से अलग करती है। 'सीमा' शब्द यास्क की दृष्टि से 'वि' उपसर्ग के साथ 'सीव्' धातु से बना है। 'सीव्' का अर्थ है सीना परन्तु 'वि' उपसर्ग संयुक्त होने के कारण उनका अर्थ होगा 'सिले हुए को उधेड़ना 'अलग करना' इत्यादि।

टिप्पणी—'सीमत:' के बारे में यहाँ जो कुछ कहा गया —वि सीमत:... विषीव्यति देशों—उस पूरे अंश को राजवाड़े ने निरुक्त का मौलिक भाग न मानकर उसे प्रक्षिप्त माना है तथा इसका कारण यह दिया है कि एक शब्द

ही दो उदाहरण देना यास्क की शैली नहीं है। इसके अतिरिक्त यह अंश स्वयं में बहुत असम्बद्ध है। (द्र०—पृ० २४५) परन्तु ये कारण बहुत महत्त्व नहीं रखते कि 'उ' निपात की पद-पूर्णार्थकता की दृष्टि से यास्क ने 'इदम् उ तद् उ' ये दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जहाँ तक असंगति और असम्बद्धता का प्रश्न है थोड़ी कठिनाई अवश्य उपस्थित होती है पर यह कहना उचित नहीं है कि उसका समाधान हो ही नहीं सकता, क्योंकि स्कन्द ने अपनी टीका में इस स्थल की अच्छी संगति लगाई है। सम्भवतः इस टीका को न देखने के कारण राजवाड़े ने इस स्थल को प्रक्षिप्त कहने का दुस्साहस किया।

'त्व' सर्वनाम

मूल—

'त्व' इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्। अर्धनाम इत्येके।

ऋचां त्वः पोषम् आस्ते पुपुष्वान्

गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्

यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः।) (ऋ० वे० १०/७१/११)

इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगम् आचष्टे। ऋचाम् एकः पोषम् आस्ते पुपुष्वान् होता। ऋग् अर्चनी। गायत्रम् एको गायति शक्वरीषु-उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेः। (तद् यद् आभिर् वृत्रम् अशकद् हन्तुम् तच् छक्वरीणां शक्वरीत्वम् इति विज्ञायते। ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः। सर्वं वेदितुम् अर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। ब्रह्मा परिवृढं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः अध्वर्युः। अध्वर्युर् अध्वरयुः। अध्वरं युनक्तिः। अध्वरस्य नेता। अध्वरं कामयते इति वा। अपि वाऽधीयाने युर् उपबन्धः। अध्वरः इति यज्ञनाम। ध्वरतिर् हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः।

अनुवाद—'त्व' विनिग्रह (नियमन) अर्थ वाला अनुदात्त सर्वनाम है। कुछ विद्वान् इसे 'आधे' अर्थ का वाचक मानते हैं। विनिग्रह अर्थ वाले 'त्व' का उदाहरण है—'ऋचां त्वः पोषम्।

मन्त्रान्वयः—त्वः ऋचां पोषं पुपुष्वान् आस्ते। त्वः शक्वरीषु गायत्रं गायति। उ त्वः ब्रह्मा जातविद्यां वदति। उ त्वः यज्ञस्य मात्रां विमिमीते।

मन्त्रानुवाद—(यज्ञ में) एक ('होता' नाम ऋत्विज) ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण में लगा हुआ है। एक (उद्गाता नामक ऋत्विज) 'शक्वरी' ऋचाओं पर 'गायत्र' (नाम साम) का गान करता है। एक 'ब्रह्मा' (नामक ऋत्विज) प्रत्येक अवसर पर विशेष ज्ञान को प्रकट करता है। (दूसरा ऋत्विज 'अध्वर्यु') के सम्पूर्ण क्रिया कलाप को करता है।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद—(ऋचां त्व०) इस मन्त्र के द्वारा (वेद) ऋत्विजों के कार्य की व्यवस्था बताता है। (एक) अर्थात् 'होता' ऋचाओं का उच्चारण करता है। 'ऋक्' (का अर्थ है) अर्चनी (जिसके द्वारा अर्चन-स्तुति) की जाय। एक उद्गाता 'शक्वरी' ऋचाओं पर गायत्र' (नामक साम) गाता है 'गायत्र' (शब्द) स्तुति अर्थ वाले 'गै' (स्तुतौ) धातु से निष्पन्न होगा। 'शक्वरी' 'कुछ' ऋचाओं का नाम है तथा 'शक्' 'धातु' से बना है। 'ब्राह्मण ग्रन्थों से, यह ज्ञात होता है कि इन ऋचाओं के द्वारा 'इन्द्र' वृत्र को मारने में समर्थ हुआ। यह 'शक्वरी' ऋचाओं का शक्वरीत्व है। एक 'ऋत्विज' 'ब्रह्मा' अवसर-अवसर पर अपने ज्ञान को प्रकट करता है। 'ब्रह्मा' सब विद्याओं का ज्ञाता है—सब कुछ जान सकता है। 'ब्रह्मा' शब्द 'बृह' धातु से बनेगा क्योंकि ज्ञान के द्वारा बहुत बढ़ा हुआ होता है। 'ब्रह्म' (परमब्रह्म या वेद) सबसे बढ़ा हुआ होता है। एक (ऋत्विज) अध्वर्यु है यज्ञ की इति कर्तव्यता (सम्पूर्ण क्रियाकलाप) को मापता है (पूर्ण करता है)। 'अध्वर्यु' शब्द वस्तुतः 'ऊध्वरयुः' है (जिसकी चार व्युत्पत्तियाँ सम्भव हैं)। १—'अध्वरं युनक्ति'—यज्ञ का संयोजक। २—'अध्वरस्य नेता'—यज्ञ का नेतृत्व अथवा सम्पादन करने वाला। ३—अध्वरं कामयते'—यज्ञ की जो कामना करता है। ४—अथवा यज्ञ के अध्ययन करने के अर्थ में (अध्वर शब्द से) 'यु' प्रत्यय (लगाया गया)। 'अध्वर' शब्द 'यज्ञ'

का पर्याय है। 'ध्वृ' (धातु) 'हिंसा' अर्थ वाली है उस (हिंसा) का (यज्ञ में) निषेध होता है।

व्याख्या—'त्व' शब्द के विषय में भी यास्क ने दो मत प्रस्तुत किये हैं। कुछ विद्वान् 'त्व' को सर्वनाम मानते हैं तो कुछ निपात। जो लोग 'त्व' को निपात मानते हैं उनकी दृष्टि से ही यास्क ने 'त्व' को, निपात विषयक चर्चा के इस प्रसंग में, यहाँ प्रस्तुत किया। परन्तु स्वयं यास्क 'त्व' को निपात न मानकर सर्वनाम मानते हैं क्योंकि यहाँ यास्क ने 'त्व' को स्पष्ट शब्दों में 'सर्वनाम' कहा है तथा आगे 'त्व' को निपात मानने के सिद्धान्त का खण्डन भी किया है।

'त्व' का अर्थ यास्क ने विनिग्रह अर्थात् कुछ इस प्रकार का नियम या व्यवस्था करना कि यह इस काम को करेगा। तथा दूसरा इस दूसरे काम को करेगा। सरल शब्दो में 'त्व' का अर्थ है 'एक' या 'कुछ'। यहाँ यास्क ने यह भी कहा है कि कुछ विद्वान् 'त्व' का अर्थ 'आधा' मानते हैं। स्वयं यास्क ने भी निरुक्त तीसरे अध्याय में 'त्व' तथा नेम को अर्ध का वाचक माना है। द्र०— 'त्व नेम इत्यर्धस्य' (निरुक्त ३/२०)

टिप्पणी—वस्तुतः 'त्व' का अर्थ 'समुदाय में से कुछ या एक व्यक्ति या वस्तु' होता है। इस रूप में विनिग्रह, (पृथक् करना, या नियमन करना) अर्थ तो तब भी होता है जब 'त्व' का अर्थ 'आधा' या 'कुछ' माना जाता है। जैसे—पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति (ऋ० वे० १/१४७/२)। 'अर्ध-वाचक 'त्व' के उदाहरण के रूप में यास्क ने इसी मन्त्र को उद्धृत किया है। दुर्ग आदि कुछ विद्वान् यास्क के अनुकरण पर, यहाँ आधे लोग' ('त्व' इति एकम् अधम्) करते हैं। परन्तु सायण ने यहाँ भी 'त्व' का अर्थ 'एकः' ही किया है। Geldner भी यहाँ 'त्व' का अर्थ one (एक) करता है। द्र०—'One speaks with dislike (पीयति) another speaks with praise (अनुगृहणाति)। इस रूप में यह स्पष्ट है कि 'त्व' का व्यापक अर्थ विनिग्रह ही है—'अर्ध', 'एक' या 'कुछ' इत्यादि अर्थ तो प्रसङ्गानुसार, उस नियम या व्यवस्था को प्रस्तुत करने के लिये, मान लिये जाते हैं। इसलिये 'त्व' के विषय में यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि "त्व" को कुछ लोग अर्थ का वाचक मानते हैं" (अर्ध-

नाम इत्येके) और न ही तृतीयाऽध्याय में 'त्वा नेम इत्यर्धस्य' यह कहने की ही आवश्यकता है। मेक्डानल भी 'त्व' को Demonstrative Pronoun मानता है।

यह सर्वनाम केवल ऋग्वेद में ही मिलता है। अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता में भी एक बार यह सर्वनाम प्रयुक्त हुआ। यहाँ इसका अभिप्राय है 'एक', 'बहुत', 'अथवा दो या बहुतों में से एक'। जब 'त्व' की पुनरावृत्ति होती है तो उस पुनरावृत्त 'त्व' का अभिप्राय होता है—'दूसरा व्यक्ति या वस्तु'।

यास्कीय व्याख्या की व्याख्या—'विनिग्रह' अर्थ वाले 'त्व' के उदाहरण के रूप में यहाँ 'ऋचां त्वः पोषम' मन्त्र प्रस्तुत किया गया है तथा यह कहा गया है कि इस मन्त्र के द्वारा वेद यज्ञ में ब्रह्मा इत्यादि चार ऋत्विजों के भिन्न-भिन्न कर्मों की व्यवस्था करता है। 'विनियोग' का अर्थ है यज्ञ-विषयक 'व्यवस्था'। यहाँ 'आचष्टे' का कर्त्ता वेद को माना जा सकता है। स्पष्ट है कि यास्क ने इस मन्त्र को यज्ञपरक मान कर इसकी व्याख्या विशुद्ध याज्ञिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत की है।

मन्त्र के प्रथम चरण में 'होता' के कर्म की व्यवस्था बतायी गयी है। 'त्वः' अर्थात् एक ऋत्विक्—'होता'—ऋचाओं अर्थात् ऋग्वेद के मन्त्रों के दोष को पुष्ट करता रहता है। 'ऋक्' शब्द 'अर्च्' (स्तुतौ) धातु से बनेगा। 'ऋक्' का अर्थ है 'अर्चनी' जिससे स्तुति की जाय। 'अर्च्यतेऽनया इति अर्चनी 'इस' व्युत्पत्ति के अनुसार 'अर्च्' धातु से 'करण' में 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय तथा स्त्री-लिंग में 'ङीष' (ई) प्रत्यय करके 'अर्चनी' शब्द बनेगा। इस रूप में 'ऋक्' तथा 'अर्चनी' शब्द समानार्थक हैं। 'पोषम् पुपुष्वान् आस्ते' यहाँ 'पोषम्' (पुष् + णवुल्) का अर्थ है 'पुष्टि' तथा उसका प्रासंगिक अर्थ है 'उच्चारण'। इसी प्रकार 'पुपुष्वान् (पुष् + क्वसु, धातु को द्वित्व, प्रथमा विभक्ति एकवचन) का अर्थ है पुष्ट करता हुआ अर्थात् उच्चारण करता हुआ अथवा स्कन्द के अनुसार ऋचाओं का यथाविधि कर्म में प्रयोग करता हुआ। यज्ञकर्म में ऋचाओं का पाठ या उच्चारण 'होता' ही करता है—इस तरह की व्यवस्था शतपथ (११/४/२/७) तथा ऐतरेय (२५/८) में भी मिलती है।

द्वितीय चरण में 'उद्गाता' के कार्य की व्यवस्था है। एक दूसरा 'ऋत्विक-शक्वरी' नामक ऋचाओं पर 'गायत्र' साम का गान करता है। 'गायत्र' शब्द 'स्तुति' अर्थ वाले 'गै' धातु से औणादिक प्रत्यय करके निष्पन्न माना गया है। 'गायत्र' एक साम-विशेष का नाम है। इसी प्रकार 'शक्वरी' शब्द 'शक्' धातु से 'औणादिक वनिप्' स्त्री-लिंग में 'र् का आगम और 'इ' प्रत्यय होकर निष्पन्न माना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी 'शक्वरी' शब्द की व्युत्पत्ति 'शक्' धातु से मानी गई है। ब्राह्मणों में यह कहा गया है कि चूंकि इन ऋचाओं से इन्द्र वृत्र को मार सका इसलिये इन ऋचाओं का नाम 'शक्वरी' पड़ गया। द्र०—**एताभिर् वै इन्द्रो वृत्रम् अशकद् हन्तुम्। तद् यद् आभिर् वृत्रम् अशकद हन्तुं तस्मात् शक्वर्यः** (कौषीतकी ब्रा० २३०/२) तथा **यद् इमान् लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वा इदं सर्वशक्नोद् यद् इद किंच तद् छक्वर्योऽभवस्तच् छक्वरीणां शक्वरीत्वम्** (ऐतरेय २२/२)। यही सायणभाष्य के एक स्थल से पता लगता है कि **विदा मघवन्** इत्यादि नव ऋचाओं को, जिनका एक सामान्य नाम 'महानाम्नी' ऋचायें भी हैं, 'शक्वर' साम से गाया जाता है। सम्भवतः इसी कारण इन 'महानाम्नी' ऋचाओं को 'शक्वरी' भी कहा जाने लगा। यहाँ मन्त्र में, यास्क की व्याख्या के अनुसार, 'शक्वरी' ऋचाओं को 'गायत्र' साम पर गाने का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण [२५/८] में कहा है—**साम्ना उद्गीथम्** अर्थात् साम-गान 'उद्गाता' का कार्य है।

तीसरे चरण में 'ब्रह्म' के कार्य की व्याख्या है। यज्ञ में जब-जब किसी 'विधि' आदि के विषय में कोई विवादास्पद प्रसंग उपस्थित होता या कोई निर्णय देने की आवश्यकता पड़े तब-तब 'ब्रह्मा' का यह कर्तव्य होता है कि उन विवादों का समाधान ब्रह्मा करे तथा अपना निर्णय दे। इस प्रकार के विभिन्न अवसरों पर 'ब्रह्मा' अपनी विशिष्ट विद्या एवं ज्ञान को प्रकट करता है। मन्त्र के 'जात विद्याम' शब्द का अर्थ यास्क ने 'जाते-जाते विद्याम्' किया है। 'जाते-जाते' अर्थात् जब-जब कोई अवसर उपस्थित हो। 'दुर्ग' तथा 'स्कन्द' ने जाते-जाते का अर्थ किया है 'जाते-जाते प्रायश्चित्तेः' अर्थात् जब कोई विधि अपूर्ण रह गयी हो, अनुचित रूप से की गई हो या इसी तरह का

कोई और दोष या अपराध हो गया हो तो 'ब्रह्मा' यह बताता है कि इस दोष के निवारण के लिये यह प्रायश्चित करना चाहिये। 'ब्रह्मा' के वैशिष्टय को बताते हुए यास्क ने यह कहा है कि 'ब्रह्मा' सर्वविद्य होता है—सभी विद्याओं (वेदों तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञानों) का जानने वाला होता है तथा जिस बात को नहीं जानता उसे भी अपनी प्रतिभा के द्वारा जानने की योग्यता रखता है। अन्य ऋत्विजों का ज्ञान एक-एक वेद तक सीमित होता है—'होता' को केवल ऋग्वेद का ज्ञान होता है, 'अध्वर्यु' को यजुर्वेद तथा 'उद्गाता' को सामवेद का। परन्तु ब्रह्मा को इन तीनों वेदों का ज्ञान होता है इसलिये उन्हें 'त्रयीविद्य' भी कहा गया है। ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' के लिये यह आवश्यक माना गया था कि वह सबसे अधिक ज्ञानी हो तथा वेदों और शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता हो। इसलिये शतपथ-ब्राह्मण (११/४/२/७) में यह कहा गया '**अथ केन ब्रह्मत्वम् इति ? अनया त्रय्या विद्यया इति**' इसी प्रकार का कथन ऐतरेय ब्राह्मण (२५/८) में भी मिलता है।

'ब्रह्मा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क ने यह कहा कि 'ब्रह्मा' 'श्रुत' अर्थात् ज्ञान के द्वारा बहुत आगे बढ़ा हुआ होता है (परिवृढः श्रुततः)। 'ब्रह्मा' शब्द के समान ही एक दूसरा नपुंसकलिंग ब्रह्मन् शब्द है जिसका अर्थ होता है—'परम विधाता प्रभु' अथवा 'वेद'। उसकी दृष्टि से व्युत्पत्ति करते हुए यास्क ने कहा कि ब्रह्मन् को 'ब्रह्मन्' इसलिए कहा जाता है कि वह सबसे आगे, सबसे बढ़ा हुआ, सबसे श्रेष्ठ होता है (ब्रह्म परिवृढ सर्वतः) इन व्युत्पत्तियों से यह भी स्पष्ट होता है कि 'ब्रह्मा' शब्द 'बृह्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करके निष्पन्न होगा। 'परिवृढ' शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'बृह्' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके बना है।

मन्त्र के चौथे चरण में चौथे ऋत्विक्—'अध्वर्यु' के कार्य की व्यवस्था है। यज्ञ करते हुए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, उन सबका प्रबन्ध 'अध्वर्यु' ही करता है। इसीलिए यज्ञ से सम्बद्ध सभी क्रियाकलापों तथा वस्तुओं के लिये यहाँ मन्त्र में यज्ञस्य मात्राम् शब्द का प्रयोग किया गया। 'विमिमीते' शब्द का अर्थ है 'बनाता है—सम्पादन करता है। ह७—यज्ञो यज्ञ

मीयते अभिषवग्रहणाविक्रया क्रियया तां मात्रां यज्ञ शरीरम्·················
विमिमीते-अत्यर्थं निर्मिमीते (सायण भाष्य·····························)

यहाँ मन्त्र में 'अध्वर्यु' शब्द यद्यपि प्रयुक्त नहीं हुआ है फिर भी यास्क ने विशेष विस्तार के साथ इस शब्द का निर्वचन किया है। पहले तो 'अध्वर्यु' शब्द को 'अध्वरयु' शब्द के द्वारा, दोनों को समानार्थक बताते हुए, स्पष्ट किया गया। उसके बाद 'अध्वरयु' शब्द की चार व्युत्पत्तियाँ दी गई। पहली—अध्वरं युनक्ति, अर्थात् अध्वर्यु को 'अध्वर्यु' इसलिए कहा जाता है कि वह 'अध्वर अर्थात् यज्ञ की संयोजना अथवा व्यवस्था करता है। इस प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार 'अध्वर' शब्द तथा 'युज्' धातु से अध्वरयु बनेगा। दूसरी व्युत्पत्ति है—'अध्वरं नयति' अर्थात् यज्ञ का नेता। यज्ञ के विविध कार्यकलापों का सम्पादन करने वाला। अर्थ की दृष्टि से प्रथम और द्वितीय व्युत्पत्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं है परन्तु शब्द निष्पादन की दृष्टि से अन्तर अवश्य है। इस दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार जैसा कि स्कन्द का कहना है, 'अध्वर' शब्द तथा 'नी' धातु (जिसमें 'णिच्' का अर्थ अन्तर्भाव है) से 'अध्वर्यु' शब्द बन सकेगा। तीसरी व्युत्पत्ति है **'अध्वरं कामयते'** अर्थात् जो यज्ञ के सम्पादन की इच्छा करता है। यहाँ इच्छा में 'अध्वर' शब्द से 'क्यच्' प्रत्यय, 'अध्वर' के अन्तिम वर्ण अ का लोप तथा 'उ' प्रत्यय करके 'अध्वर्यु' शब्द बनेगा। द्र०—'कव्यध्वर-पृतनस्यर्चि लोपः' (अष्टा० ७/४/३९) तथा **'क्यच्छन्दसि'** (अष्टा० ३/२/१७०)। चौथी व्युत्पत्ति है "(अध्वरम्) अधीयाने 'यु' प्रत्ययः" अर्थात् जो 'अध्वर' (यज्ञ) से सम्बद्ध वेद (यजुर्वेद) का अध्ययन करता है उसे कहने के लिये तद्धित 'यु' प्रत्यय करके 'अध्वर्यु' शब्द बनेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्ययन करने के अर्थ में 'यु' प्रत्यय का विधान करने वाला सूत्र उस समय के व्याकरण में विद्यमान था। पाणिनि ने 'तदधीते तद् वेद' (अष्टा० ४/२/५९) सूत्र के अधिकार 'अध्ययन' के अर्थ में विभिन्न प्रत्ययों का विधान तो किया है पर वहाँ 'यु' प्रत्यय का उल्लेख नहीं मिलता।

'अध्वर्यु' शब्द के निर्वचन के प्रसंग में यास्क ने **'अध्वर'** के निर्वचन पर भी विचार किया है तथा यह कहा है कि 'अध्वर' शब्द यज्ञ का पर्याय है। यज्ञ को 'अध्वर' इसलिये कहा जाता है कि उसमें हिंसा नहीं होती—हिंसा का निषेध

होता है। 'हिंसा' अर्थ वाले 'ध्वृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय करके 'ध्वर' शब्द, तथा उसके साथ 'नञ्' समास करके 'अध्वर' शब्द बनेगा। इस रूप में 'अध्वर' शब्द की व्युत्पत्ति होगी—'**अविद्यमानो ध्वरो (हिंसा) यस्मिन् सोऽध्वरः**'। यहाँ यास्क ने 'ध्वृ' धातु को हिंसार्थक माना है तथा निघण्टु में 'वध' अर्थ वाली धातुओं में 'ध्वर' का भी पाठ है परन्तु पाणिनीय धातु पाठ में 'ध्वृ' का अर्थ है 'मूर्च्छन' अर्थात् ठगना, प्रवंचना करना। इसी से आजकल का प्रसिद्ध 'धूर्त' शब्द निष्पन्न है।

टिप्पणी—'अध्वर' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क ने यह माना है कि यज्ञ में हिंसा नहीं होती। परन्तु यज्ञ सम्बन्धी विविध विधानों के विधायक ब्राह्मण तथा श्रौत आदि ग्रन्थ अनेक भागों में पशु हिंसा तथा यहाँ तक कि मानव हिंसा का भी विधान करते हैं। परन्तु इन हिंसापूर्ण विधि-विधानों का समाधान यास्क तथा उनके टीकाकार यह करते हैं कि यज्ञ में हवि के रूप में जो पशु आदि की हिंसा की जाती है वह उनकी हिंसा नहीं है अपितु यह तो एक प्रकार से, उन पशु आदि पर उपकार है। क्योंकि यज्ञार्थ उनका वध करके उन्हें स्वर्ग पहुँचाया जाता है। स्वयं संहिताओं में भी इस आशय के वाक्य मिलते हैं कि यज्ञ में वध किये पशु आदि वस्तुतः मरते नहीं अपितु कल्याणकारी मार्ग से देवलोक को प्राप्त होते हैं। द्र०—**न वा एतन् म्रियसे नोत रिष्यति। देवम् इद् एषि पथिभिः शिवेभिः। यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतः तत्र त्वा देवः सविता दधातु** (मैत्रायणी संहिता १/२/११५)। इस प्रकार के आम्नाय वचनों **अर्थात् वेद-वाक्यों के आधार** पर यज्ञीय हिंसा को हिंसा नहीं माना जा सकता द्र०—**आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतीयेत्** (निरुक्त १/१७) सम्भवतः इस आशय को मीमांसकों ने **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** इस परिभाषा मे व्यक्त किया है।

इस रूप में **ऋचां त्वः पोषम्०** इस मन्त्र में चार बार 'त्व' शब्द का प्रयोग हुआ है जो, यास्क की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार, चारों ऋत्विजों के भिन्न भिन्न कार्यों के निर्देश के लिये किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'त्व' का अर्थ नियमन करना है।

'त्व' को निपात मानने के सिद्धान्त का खण्डन

मूल—

निपात इत्येके । तत् कथम् अनुदात्त प्रकृति नाम स्यात् ? दृष्टव्ययं तु भवति उत त्वं सख्ये स्थिरपीतम् आहुः (ऋ० वे० १०/७१/५) इति द्वितीयायाम् उतो त्वस्मै तन्वं ? विसस्रे (ऋ० वे० १०/७१/४) इति चतुर्थ्याम् । अथापि प्रथमा बहुवचने: ।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।

आदध्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः [सखायः] । अक्षिः चष्टेः । अनक्तेर् इत्याग्रायणः । 'तस्माद् एते व्यक्ततरे इव भवतः' इति ह विज्ञायते । कर्णः कृतन्तेः । निकृत्तद्वारो भवति । ऋच्छतेर् इत्याग्रायणः । ऋच्छन्तीव, खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते । मनसां प्रजवेषु असमाः बभूवुः । आस्यदघ्नाः अपरे । उपकक्षदघ्ना अपरे । आस्यम अस्यतेः । आस्यन्दते एतत् अन्नम् इति वा । दघ्नम् दध्यतेः स्रवतिकर्मणः । दस्यतेर्वा स्यात् विदस्ततरं भवति । प्रस्नेयाः ह्रदा इव एके प्रस्नेया ददृशिरे । स्नानार्हाः । ह्रदो ह्लादतेः शब्दकर्मणः । ह्लादनेर् वा स्यात् शीतीभावकर्मणः ।

अनुवाद—('त्व') निपात है ऐसा कुछ लोगों का मत है । (परन्तु 'त्व' निपात न होकर सर्वनाम है क्योंकि) यदि ऐसा न होता (निपात होता) तो 'त्व' अनुदात्त स्वर वाला कैसे होता ? ('त्व' शब्द के रूप का) परिवर्तन (भी) तो देखा जाता है । जैसे—उत त्व सख्ये स्थिर पीतम् आहुः (और कुछ को ज्ञान के विषय में प्रौढ़ अभ्यास वाला मानते हैं) यहाँ द्वितीय विभक्ति में 'उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे (और किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिये शरीर को अनावृत कर देती है) यहाँ चतुर्थी (विभक्ति) में ('त्व') का प्रयोग हुआ है । इसके अति-

रिक्त प्रथमा विभक्ति में भी ('त्व' के) प्रयोग मिलते हैं। जैसे—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः०।

मन्त्रान्वय—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः मनोजवेषु असमा बभूवुः उ आदघ्नासः (ह्रदा इव, उत्वे) उपकक्षासः (ह्रदा इव), उत्वे स्नात्वा ह्रदा ददृश्रे।

मन्त्रानुवाद—(समान) आँख वाले तथा (समान) कान वाले और समान इन्द्रिय (अथवा 'नाम') वाले (व्यक्ति भी) मन की गतियों में समान नहीं होते कुछ मुख तक (जल वाले तालाबों के समान और कुछ) काँख के समीप त (जल वाले तालाब के समान) और कुछ (अच्छी तरह) स्नान करने यो (जल वाले) तालाब के समान दिखाई देते हैं।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद—(समान) आँख वाले, कान वाले तथा सम इन्द्रिय वाले। 'अक्षि' शब्द 'चक्षु' धातु से निष्पन्न होगा। अञ्ज् (प्रका होना या करना) से ('अक्षि' शब्द) बनेगा आग्रायण (आचार्य) मानते (ब्राह्मण ग्रन्थों) से यह पता लगता है कि "इस कारण ये (आँखें अन्य अङ्गों अपेक्षा) अधिक व्यक्त सी होती हैं।" 'कर्ण' (शब्द) 'कृन्त' (कृती छेदने) से निष्पन्न हुआ है क्योंकि कान कटे हुए द्वार वाला होता है। 'ऋच्छ' (धा से (कर्ण शब्द) बनेगा ऐसा आग्रायण मानते हैं। (ब्राह्मण ग्रन्थों से) यह होता है कि 'दोनों कानों के दोनों आकाश (बिल) मानो ऊपर की ओर गये हैं (ऊपर की ओर स्थित हैं)।

(परन्तु) मन, बुद्धि तथा अहङ्कार की वेगों (स्थितियों) में वे (समान आँ कान तथा नाक वाले व्यक्ति भी) असम होते हैं। (जिस प्रकार समान रूप नाम वाले भी) कुछ तालाब मुख तक (जल वाले) होते हैं। कुछ (तालाब) तक (जल वाले) होते हैं। 'आस्य' शब्द 'अस' (क्षेपणे) से बनेगा अथवा 'स प्रस्रवणे' से 'आस्य' शब्द बनाया जा सकता है क्योंकि अन्न मुख में जाकर हो जाता है। 'दघ्न' शब्द 'स्रवण' अर्थ वाली 'दध्' (धातु) से बन सकता अथवा 'दस्' (दसु उपक्षेय धातु) से ('दघ्न' शब्द) बन सकता है, क्योंकि (परिमाण अपने से बड़े परिमाण की अपेक्षा) क्षीणतर होता है। ('स्नात्वाः' अर्थ है) 'प्रस्नेयाः' (अच्छी तरह से स्नान करने योग्य)। कुछ लोग नहाने

तालाब के समान दिखाई देते हैं। (प्रस्नेयाः का अर्थ है) 'स्नानार्हाः'। 'ह्रद' (शब्द) 'शब्द करना' अर्थ वाली 'ह्राद' (धातु) अथवा 'शीतल होना' अर्थ वाले 'ह्राद' (धातु) से बनेगा।

व्याख्या—'त्व' नाम (सर्वनाम) है निपात नहीं—

निरुक्त के इस स्थल से यह पता लगता है कि कुछ विद्वान् 'त्व' को निपात मानते थे। यह स्पष्ट है कि ये विद्वान् कौन थे। यहाँ यास्क इन विद्वानों के मत का संकेत करके उनका खण्डन करने की दो युक्तियाँ देते हैं।

पहली युक्ति यह है कि 'त्व' सदा ही अनुदात्त स्वर वाला मिलता है। यदि यह निपात होता तो निपाता आद्युदाताः (निपात आद्युदात होते हैं) इस फिट् सूत्र (८०) के अनुसार इस 'त्व' को भी उदात्त होना चाहिये था। दूसरी युक्ति यह है कि 'त्व' का भिन्न-भिन्न लिङ्गों तथा भिन्न-भिन्न विभक्तियों में रूप-परिवर्तन देखा जाता है। जैसे पुल्लिग 'त्व' के प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'त्वः' बहुवचन में 'त्वे' द्वितीया विभक्ति एकवचन में 'त्वम्', तृतीया विभक्ति एकवचन में 'त्वेन' तथा चतुर्थी विभक्ति एकवचन में 'त्वस्मै' प्रयोग मिलते हैं। इस प्रकार स्त्रीलिंग 'त्व' के प्रथमा एकवचन में 'त्वा' चतुर्थी एकवचन में 'त्वस्मै' प्रयोग मिलते हैं तथा नपुंसकलिंग वाले त्वत् का प्रयोग ब्राह्मणों में मिलता है। यास्क ने, उपलक्षण के रूप में पुल्लिग 'त्व' के द्वितीया तथा चतुर्थी विभक्तियों के एकवचन और प्रथमा विभक्ति के एकवचन तथा बहुवचन के प्रयोग, बिना किसी क्रम के, प्रस्तुत किये हैं। इन विविध रूपों में परिवर्तित होने के कारण 'त्व' को निपात नहीं माना जा सकता क्योंकि निपात सदा ही अपरिवर्तित रूप वाले होते हैं। इसलिये निपातों का एक दूसरा नाम 'अव्यय' भी है। अव्ययों के स्वरूप तथा 'अव्यय' नाम की सार्थकता निम्न कारिका में स्पष्ट हो गई है—

> सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
>
> वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तद् अव्ययम्।

टिप्पणी—यहाँ यास्क ने 'तत्' कथम् अनुदात्त प्रकृति नाम स्यात्। इस वाक्य से 'त्व' को निपात मानने वाले विद्वानों पर पहला आक्षेप किया तथा 'दृष्टव्ययं'

तु के द्वारा दूसरा। प्रथम आक्षेप में इस पंक्ति में विद्यमान 'नाम' शब्द वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त मानना चाहिए न कि प्रातिपदिक अर्थ वाले 'ना शब्द के रूप में। दूसरे आक्षेप में दृष्टव्ययम्' शब्द 'त्वपदम्' का विशेषण दृष्ट: व्यय: (परिवर्तन विकारो वा) यस्य तत् दृष्टव्ययं इस विग्रह के अनु इस वाक्य का अर्थ है कि 'त्व' शब्द के रूप में परिवर्तन देखा जाता है। 'तु' को पहले आक्षेप या हेतु की दृष्टि से समुच्चय (च) का वाचक मा चाहिये।

"स्कन्द माहेश्वर" ने अपनी टीका में तत् कथम् अनुदात्तप्रकृति स्यात्? इस वाक्य की जो व्याख्या की है उसके अनुसार इस वाक्य में नि वादियों की ओर से 'त्व' को 'नाम' (प्रातिपदिक) मानने वालों पर यह आ किया गया है कि अनुदात्त स्वर वाला 'त्व' शब्द 'नाम' अर्थात् प्रातिप कैसे हो सकता है। 'प्रातिपदिक' शब्द तो 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फिट् सूत्र १) नियम से अन्तोदात्त होना चाहिये। वे इस वाक्य में प्रयुक्त 'नाम' शब्द 'प्रातिपदिक' अर्थ का वाचक मानते हैं तथा 'दृष्टव्ययं तु भवति में विद्य 'तु' को पक्ष-व्यावृत्ति का सूचक मानते हैं। परन्तु यदि यह व्याख्या मानी ग तो इसका यह अर्थ हुआ कि निपातवादियों के इस आक्षेप को, कि 'अनुदा स्वर वाला 'त्व' नाम (प्रातिपदिक) कैसे हो सकता है?' सुनकर बिना उस उत्तर दिये ही यास्क ने 'दृष्टव्ययं तु भवति' यह अपनी बात कह दी। इसलि यह व्याख्या उचित नहीं प्रतीत होती।

'त्व' शब्द सर्वनाम है या दूसरे शब्दों में 'नाम' पद है। परन्तु 'नाम' होते हुए भी अनुदात्त स्वर वाला है। और न केवल 'त्व' अनुदात्त स्वर वा है अपितु त्व', 'त्वम्', 'सम' तथा 'सिम' शब्द भी ऐसे हैं जो 'नाम' और साथ ही अनुदात्त भी। इसीलिए फिट् सूत्रकार शन्तनु 'फिषोऽन्त उदा अर्थात् 'नाम' या प्रातिपदिक शब्द अन्तोदात्त होते हैं। यह नियम बनाकर उसके अपवाद के रूप में 'त्वत् त्व-नेम-सम-सिमेत्यनुच्चानि' (फिट् सूत्र यह सूत्र बनाया जिसमें 'त्व' आदि नाम पदों की अनुदात्तता को स्वीकार कि गया है। इसके अतिरिक्त शन्तनु का यह सूत्र इस बात की भी स्पष्ट सूच रहा है कि 'त्व' निपात न होकर सर्वनाम है क्योंकि 'त्व' को 'नेम'

सर्वनाम पदों के साथ सूत्र में प्रयुक्त किया गया है। पाणिनीय गणपाठ के सर्वादिगण में भी, जिसमें सर्वनाम शब्दों का संग्रह किया गया है, 'त्व' तथा उसके बाद 'त्वत्' 'नेम', 'सम', 'सिम' इत्यादि शब्दों का पाठ मिलता है। अतः इससे भी 'त्व' के सर्वनाम होने की पुष्टि होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यास्क 'त्व' को 'नाम' (सर्वनाम) मानते हैं निपात नहीं—और वही मत युक्तियुक्त है। समझ में नहीं आता कि बृहद्देवताकार शौनक ने किस प्रकार यह कहने का दुस्साहस किया कि यास्क को 'त्व' पद की 'जाति' का पता नहीं लग सका। द्र०—पदजातिर् अविज्ञाता त्वः दे (बृहद्देवता (२/११४) क्या शौनक 'त्व' को निपात मानने वाले विद्वानों में हैं? यदि ऐसा है तो स्वयं उनका मत ही भ्रमपूर्ण है। और यदि वे यह समझ रहे हैं कि यास्क ने 'त्व' को निपात माना है और यह यास्क की भूल है तो भी उन्हीं को भ्रान्त माना जायेगा—यास्क को नहीं।

यास्कीय व्यवस्था की व्याख्या—मन्त्र के 'अक्षण्वन्तः' शब्द के स्थान पर; से सरल करने के लिये, यास्क ने अपनी व्याख्या में 'अक्षिमन्तः' शब्द का प्रयोग किया है। ऋग्वेद में 'अक्षन्' तथा 'अक्षि' दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग है। लौकिक संस्कृत में 'अक्षन्' शब्द प्रयुक्त तो नहीं हुआ है पर 'अक्षि' शब्द विभक्ति रूपों में 'अक्षन्' शब्द अनेक बार प्रयुक्त दिखाई देता है। द्र०—अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णाम् अनङ् उदात्तः (अष्टा० ७/१/७५)। 'अक्षण्वता' यह प्रयोग 'अक्षन्' के बाद शब्द से मतुप् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। इसलिये पदपाठ में 'अक्षन्' के बाद अवग्रह देखा जाता है पाणिनि ने सम्भवतः 'अक्षन्' मानते हुए भी 'णत्व' आदि व्याकरणशास्त्रीय कार्यों की दृष्टि से 'अनो' (अष्टा० ८/२/१६) सूत्र के द्वारा 'न्' को 'अन्' का अंश न मानकर 'मतुप्' अंश मान लिया है।

'अक्षि' शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने 'चक्ष्' (देखना) धातु से की है। यास्क प्राचीन आचार्य आग्रायण ने 'अञ्ज्' (प्रकाशित होना या करना) धातु से 'अक्षि' शब्द की निष्पत्ति मानी थी। ब्राह्मणग्रन्थकारों को भी 'अञ्ज्' धातु से 'अक्षि' शब्द बनाना अभीष्ट था। इसी दृष्टि से यास्क ने किसी ब्राह्मण का

—तस्माद् एते व्यक्ततरे इव भवत: यह वाक्य उद्धृत किया है। जिसमें कहा गया है कि आँखे अधिक व्यक्त सी होती हैं। महाभाष्य में पतञ्जलि ने दो स्थानों पर 'अक्षि' शब्द की व्युत्पत्ति की है। एक स्थान पर 'अश्' धातु से द्र०—अश्नोतेर् अयम् औणादिकः करणसाधनः 'सि' प्रत्ययः। अश्नुते इत्यक्षि (महाभाष्य ३/२/११५) तथा दूसरे स्थान पर 'अञ्ज्' धातु से द्र०—अञ्जेरञ्जनम्। अञ्जनं च प्रकाशम् 'अङ्क्तेऽक्षिणी' इत्युच्यते (महाभाष्य ८/२/४८) उणादिकोश (३/.५६) में 'अश्' धातु से 'अक्षि' शब्द बनाया गया है।

'कर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने 'छेदने' या 'काटने' अर्थ वाले (कृती छेदने) धातु से की है तथा हेतु यह दिया है कि कान का द्वार कटा होता है (निकृतद्वारो भवति)। यहाँ भी आग्रायण की व्युत्पत्ति यास्क से भिन्न है। आग्रायण 'कर्णं' को 'ऋच्छ' (गतौ) धातु से निष्पन्न मानते हैं। ग्रन्थकारों को भी 'ऋच्छ्' धातु से ही 'कर्ण' शब्द बनाना अभीष्ट था। दृष्टि से ऋच्छन्ति इव खे उदगन्ताम् यह उद्धरण किसी ब्राह्मण-ग्रन्थ से गया है। यह वाक्य बहुत अस्पष्ट है। 'दुर्ग' ने इस वाक्य की जो व्याख्या उसका अभिप्राय यह है कि आकाश में अभिव्यक्त शब्द कानों की ओर (ऋच्छन्तो इव एतौ कर्णौ खेऽभिव्यक्ता शब्दाः) तथा कान उन शब्दों को करने के लिये शरीर में ऊपर की ओर गये हुये होते हैं। (एतावपि च उ प्रत्युद्च्छत् इव ग्रहणाय)। परन्तु इस व्याख्या में ऊपर से अनेक अध्याहार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस व्याख्या के अनुसार 'ऋ क्रिया से कर्त्ता 'शब्द' बनते हैं न कि 'कर्णं'। जब कि अभीष्ट यह है कि इस ऋच्छन्ति' क्रिया के कर्त्ता हों। क्योंकि 'कर्ण' को 'ऋच्छ्' व्युत्पन्न मानने में इस ब्राह्मण वाक्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कि है। साथ ही इस व्याख्या में 'खे' शब्द को 'सप्तमी' का एकवचन मान तथा ऐसा मानने पर 'खे' शब्द की 'प्रगृह्य' संज्ञा न होने के कारण गन्तम्' यह सन्धिरहित पाठ साधु नहीं माना जा सकता।

इसीलिये, इन आपत्तियों के कारण, इस व्याख्या को अरुचिकर स्कन्द ने इस वाक्य की दूसरी व्याख्या की है। स्कन्द-व्याख्या के

'ऋच्छन्ति' तथा 'खे' ये दोनों शब्द क्रमशः 'ऋच्छत् (ऋच्छ + शतृ) तथा 'खम्' (कर्ण विवर) इन नपुंसकलिंग वाले शब्दों के प्रथमा विभक्ति द्विवचन के रूप हैं। यहाँ 'खे' का अर्थ है दोनों कानों के दोनों द्वार या विवर। इस प्रकार वाक्य का अभिप्राय यह हुआ कि जाते हुए से कानों के दोनों बिल शरीर के ऊपरी भाग में जाकर स्थित हैं। इस तरह कानों का 'ऋच्छति' क्रिया से सीधा सम्बन्ध हो जाता है। व्याख्या के अनुसार यहाँ ऋच्छन्ति इव खे उद्गन्ताम् यह सन्धिरहित पाठ मानना होगा क्योंकि द्विवचनान्त 'ऋच्छन्ती' की प्रगृह्य संज्ञा हो जाने से 'ऋच्छन्ती' तथा 'इव' में सन्धि नहीं हो सकेगी।

'सखायः' शब्द को सम्भवतः सरल समझ कर यास्क ने उसकी कोई व्याख्या नहीं की है। 'सखा' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—समान इन्द्रिय वाले' तथा 'समान नाम वाले'। यहाँ दूसरा अर्थ ज्यादा सुसंगत प्रतीत होता है 'समानं ख्यानं येषाम्' इस विग्रह के अनुसार 'सखा' शब्द दूसरे अर्थ को प्रकट करेगा। यास्क ने आगे (निरुक्त ७/३०) 'सखा' शब्द का अर्थ 'सामानख्यानाः' किया है। 'ख्यायते अनेन इति ख्यानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कारण में 'ल्युट्' प्रत्यय मानकर 'समानख्यानाः' का अर्थ होगा वे लोग जिनका समान अर्थात् एक नाम है। जैसे—मानव समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति का एक नाम 'मानव' है। विद्यार्थी वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति का नाम विद्यार्थी है। टीकाकारों ने 'ख्यान' का अर्थ 'ज्ञान' भी किया है। इस दृष्टि से 'ख्यानः' का अर्थ होगा सामान्य ज्ञान की दृष्टि से सर्वथा समान होते हुए भी।

'मनोजवेषु' का अर्थ यास्क ने 'मनसां प्रजवेषु' किया है। 'मनोजवेषु' शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास है। अतः इस शब्द का विग्रह होगा—'मनसां जवेषु'। यास्क ने 'जव' शब्द के स्थान पर 'प्रजव' शब्द का प्रयोग अधिक उचित समझा। यहाँ मन्त्र का अभिप्राय यह है कि आँख, कान आदि इन्द्रियों के सर्वथा समान होते हुए तथा 'मानव', 'विद्यार्थी' आदि नामों अथवा सामान्य ज्ञान या व्यवहार की दृष्टि से समान होते हुए भी मन बुद्धि आदि की शक्तियों की दृष्टि से व्यक्तियों में पर्याप्त विषमता पायी जाती है। 'जवे' शब्द में 'वेग', 'गति', शक्ति', 'तीव्रता' 'तीक्ष्णता' इत्यादि अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं। 'जव' शब्द के स्थान पर यास्क ने 'प्रजव' शब्द का जो प्रयोग किया है वह

प्रसंग की दृष्टि से उचित ही है। क्योंकि जहाँ तक मन की सामान्य गति की बात है उस दृष्टि से तो सभी मनुष्य या विद्यार्थी आदि समान होते हैं परन्तु 'प्रजव' अर्थात् विशिष्ट गति, शक्ति, प्रतिभा, ज्ञान इत्यादि की दृष्टि से अनेक व्यक्ति में पर्याप्त अन्तर होता है। इस प्रकार का अन्तर सर्वथा स्वाभाविक है। सर्वथा समान रूप से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों में से कुछ तो बताई हुई बात को समझ पाते हैं पर कुछ नहीं। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—**समानम् ईहमानानां च धीयानानां च केचिद् अर्थैर् युज्यन्ते अपरे न** (महाभाष्य द्वितीयाह्निक–५)।

मन्त्र के उत्तरार्ध में मन की प्रकृष्ट गति की दृष्टि से मनुष्यों के तीन विभागों की कल्पना की गई है—कुछ अधिक ज्ञान वाले तथा कुछ बहुत अधिक ज्ञान वाले माने गये। पहले प्रकार के लोगों की तुलना उन तालाबों से की गई जिनमें यदि स्नान किया जाय तो उनका पानी मुख तक ही आ पाता है अर्थात् जिनमें मनुष्य के मुख के परिमाण तक ही पानी भरा रहता है। दूसरे प्रकार के लोगों की तुलना उन तालाबों से की गई जिनमें पानी केवल कांख तक ही आ पाता है तथा तीसरी प्रकार के ज्ञानी मनुष्यों की तुलना उन तालाबों से की गई जिनमें अच्छी तरह तैर कर स्नान किया जा सकता है।

आदघ्नासः—'आदघ्न' शब्द के बहुवचन के रूप में, 'आदघ्नाः' के स्थान पर आदघ्नासः का प्रयोग होता है। इस तरह के अनेक प्रयोग वेद में मिलते हैं जैसे 'जनाः' के स्थान पर 'जनासः', 'सोम्याः' के स्थान पर 'सोम्यासः' इत्यादि। ऐसे प्रयोगों की सिद्धि के लिये ही पाणिनि ने 'आज्जसेरसुक्' (अष्टा ७/१/५०) सूत्र की रचना की। 'आदघ्न' शब्द को यास्क ने 'आ+दघ्न' इन दो शब्दों से बना हुआ माना है। यह आ उपसर्ग न होकर मुख का वाचक 'आम्' (आस्य) शब्द का संक्षिप्त रूप है। 'दघ्न' शब्द परिमाण का वाचक है तथा 'दध्' धातु से निष्पन्न माना गया है। इस रूप में यास्क ने 'आदघ्नासः' का 'आस्यदघ्नाः', अर्थ किया है, जिनका अभिप्राय है कि कुछ तालाब मुख रूप परिमाण तक जल वाले हैं, जिनमें स्नान करने में विशेष आनन्द नहीं आता। 'आस्य' शब्द को यास्क ने 'अस्' (क्षेपणे) धातु से (ण्यत्) प्रत्यय करके अथवा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'स्यन्द' (प्रस्रवणे) धातु से निष्पन्न

माना है। दूसरी व्युत्पत्ति (आस्यन्दते एनद् अन्नम् इति वा) का अर्थ यह है कि मुख में आकर अन्न गीला होता है या अन्न को पाकर मुख गीला होता है। अतः आ + स्यन्द् 'आस्य' शब्द निष्पन्द माना जा सकता है। 'दघ्न' शब्द की सिद्धि 'बहने' अर्थ वाली 'दघ्' धातु अथवा 'क्षीण होना' अर्थ वाली 'दस्' धातु से की गई है। यहाँ भी दूसरी व्युत्पत्ति—'विदस्ततरं भवति' में यह कहा गया कि परिमाण को 'दघ्न' इसलिये कहा जाता है कि वह बड़े परिमाण की अपेक्षा, 'विदस्ततर' अर्थात् विशेष रूप में क्षीणतर (न्यूनतर) होता है। अथवा वह चारों ओर से कटा हुआ या सीमित होता है। 'दघ्न' शब्द को, 'जाना' 'प्राप्त होना' अथवा 'पहुँचना' अर्थ वाली 'दघ्' धातु से 'न' प्रत्यय करके निष्पन्न मानना अधिक स्वाभाविक है। निघण्टु में गत्यर्थक धातुओं में 'दघ्' धातु भी पठित है। पाणिनि ने 'दघ्न' को स्वतन्त्र शब्द न मानकर व्याकरण की प्रक्रिया की सुविधा की दृष्टि से इसे प्रत्यय मान लिया है। द्र०—'प्रमाणेद्वयसज्-दघ्नच्-मात्रचः' (अष्टा० ४।२/३७) 'दघ्न' शब्द के समस्त प्रयोग के रूप में, अथवा पाणिनि के अनुसार 'दघ्नच्' प्रत्यय से सम्बद्ध, अनेक शब्दकोषों में मिलते हैं जैसे—सअदघ्न, उरुदघ्न, काष्ठदघ्न' गुल्फदघ्न, जानुदघ्न, नाभिदघ्न स्तनदघ्न इत्यादि। इनमें से कुछ शब्दों का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण में मिलता है।

उपकक्षासः—यह शब्द भी 'उपकक्ष' शब्द के प्रथमा विभक्ति बहुवचन के रूप में 'उपकक्षाः' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। 'उपकक्ष' शब्द का अर्थ है 'कक्ष' (काँख) के समीप—'कक्षस्य समीपम् उपकक्षम्। अर्थात् कुछ तालाब या नदियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें बहुत ही थोड़ा पानी होता है तथा नहाने वाले की काँख तक ही पानी आता है। इस कारण नहाने वाला असंतुष्ट ही रह जाता है। यास्क ने 'आस्यदघ्नाः' के अनुकरण पर 'उपकक्ष' शब्द के साथ भी 'दघ्न' का प्रयोग कर दिया है जो अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ 'उप' उपसर्ग के साथ समास होने के कारण परिमाण अर्थ स्वतः प्रकट हो जाता है।

स्नात्वाः—'स्नात्व' शब्द के बहुवचन के रूप में 'स्नात्वाः' का प्रयोग हुआ है। 'स्नान करना', 'पवित्र होना' इत्यादि अर्थ वाली 'ष्णा' (स्ना) धातु से

'त्व' प्रत्यय करके 'स्नात्व शब्द' बना है। यहाँ 'त्व' प्रत्यय 'अर्ह' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह 'त्व' प्रत्यय 'तव्य' अथवा 'अनीय' के समान ही है। इसलिये 'स्नात्व' का अर्थ है 'स्नातव्य' या 'स्नानीय' अथवा स्थान के योग्य। 'स्नात्वा' शब्द 'हृदा:' (तालाबों) का विशेषण है, इसलिये 'स्नात्वा: हृदा:' का अर्थ हुआ वे तालाब जिसमें पर्याप्त जल है, जो काफी गहरे हैं और जिनमें खूब तैर कर पूरे आनन्द के साथ स्नान आदि किया जा सकता है। यास्क ने 'स्नात्वा:' को स्पष्ट करने के लिये 'प्रस्नेया:' शब्द का प्रयोग किया है। 'प्रस्नेया:' शब्द 'प्रस्नेय' का बहुवचन है। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'स्ना' धातु से 'योग्य' अथवा 'अर्ह' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करके 'प्रस्नेय' शब्द बनेगा। जैसे—'दा' से 'देय' 'पा' से 'पेय' इत्यादि। अत: 'प्रस्नेया' का भी अर्थ है 'स्नान के योग्य'। यास्क ने स्वयं 'प्रस्नेया:' को और अधिक स्पष्ट करने के लिये उसके पर्याय के रूप में 'स्नानार्हा:' इस सरल शब्द को प्रस्तुत किया है।

दद्दृश्रे—'दृश्' (देखना) धातु के लिङ् लकार, अन्य पुरुष, बहुवचन का प्राचीन वैदिक रूप 'ददृश्रे' है। बाद में इसके स्थान पर 'ददृशिरे' प्रयोग मिलता है। इसीलिये यास्क ने मन्त्र के 'ददृश्रे' पद को 'ददृशिरे' शब्द से स्पष्ट किया।

ह्रदा:—'ह्रदा' शब्द का अर्थ है तालाब, नाला, छोटी नदी। यास्क ने 'शब्द करना अर्थ वाली 'ह्राद्' धातु अथवा 'शीतल होना' अर्थ 'ह्लाद्' धातु से 'ह्रद' शब्द को निष्पन्न माना है, क्योंकि इसमें स्नान आदि के कारण या जल-जन्तुओं के कारण एक विशेष प्रकार की आवाज होती रहती है अथवा वे सदा शीतल रहते हैं। पाणिनीय धातु पाठ के 'ह्राद्' धातु का अर्थ—अव्यक्त शब्द करना' तथा 'ह्लाद्' का अर्थ सुखी होना माना गया है।

इस व्याख्या में ज्ञानियों की तीन कोटियाँ की गईं—प्रथम, मध्यम तथा उत्तम। मध्यम कोटि में आने वालों को 'आस्यदघ्ना अपरे' कहा गया। यहाँ 'अपरे' का अर्थ है कुछ लोग और 'आस्यदघ्ना:' का अर्थ है—'आस्यदघ्ना' 'ह्रदा इव'—मुख तक जल वाले तालाबों के समान। प्रथम कोटि वाले लोगों को 'उपकक्षदघ्ना' (ह्रदा एव) 'अपरे' कहा गया, जिसका अर्थ है—कुछ लो

काँख तक जल वाले तालाबों के समान होते हैं तथा तीसरी कोटि, जो असाधारण ज्ञानियों की कोटि है, में आने वाले महान् मनीषियों और ज्ञानियों के लिए 'एके प्रस्नेया ह्रदाइव' कहा गया है। अर्थात् जिसमें ज्ञान का एक ऐसा अथाह-सागर हिलोरें लेता है, जिसमें जिज्ञासु जन असीम आनन्द प्राप्त करते हैं।

त्वत्

मूल—अथापि समुच्चयार्थे भवति-**पर्याया इव, त्वद् आश्विनम्** (कौषीतकी ब्राह्मण १७/४) आश्विनं च पर्यायाश्चेति।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त (एक अन्य 'नाम' अथवा सर्वनाम त्वत् भी) समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—पर्याया इव त्वद् आश्विनम् **(अर्थात् आश्विन और पर्याय)।**

व्याख्या—'त्व' तथा 'त्वत्' ये दोनों ही शब्द 'सर्वनाम' के रूप में संभवतः प्राचीन वैदिक भाषा में प्रयुक्त होते रहे हैं। यास्क ने ऊपर 'त्व' के विषय में जो बातें कहीं हैं उनका सम्बन्ध 'त्वत्' के साथ भी मानना चाहिये। 'त्व' तथा 'त्वत्' की इस अभिन्न रूपता को बताने के लिये ही सम्भवतः यास्क ने 'त्व' की चर्चा के पश्चात् 'त्वत्' का नाम लिखे बिना ही 'त्वत्' तथा उसके अर्थ और उदाहरण का निर्देश किया। इन दोनों शब्दों की 'सर्वनामता' शन्तनु रचित फिट् सूत्र 'त्वत्-त्व-नेम सम-सिमेत्यनुच्चानि' से भी, जिसमें कुछ 'नाम' शब्दों का स्वरविधान किया है, प्रमाणित होती है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। पाणिनीय गणपाठ के 'सर्वादिगण' से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

'त्वत्' का अर्थ यास्क ने 'समुच्चय' माना है तथा उसके उदाहरण के रूप में **पर्याया इव त्वद् आश्विनम्** इस ब्राह्मण वाक्य को प्रस्तुत करके उसका अर्थ किया है 'पर्याय और आश्विन'। ब्राह्मण वाक्य के क्रम को उलट कर 'आश्विन और पर्याय' इस रूप में अर्थ क्यों किया गया यह समझ में नहीं आता जब कि यास्क मन्त्रों के क्रम में आवश्यक परिवर्तन भी नहीं करते। यास्क के अनुसार **पर्याया इव त्वद् आश्विनम्** इस वाक्य में 'इव' पद अनर्थक अथवा वाक्यालंकार

के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण उनकी व्याख्या में 'इव' पद अनुपलब्ध है। 'त्वत्' के अर्थ 'समुच्चय' का ही यास्क ने दो बार प्रयोग किया है क्योंकि संभवतः प्राचीन काल में ऐसी शैली थी जिसे 'च' इति समुच्चयार्थ उभाभ्यां प्रयुज्यते' इस वाक्य के द्वारा पहले कह आये हैं।

टिप्पणी—'समुच्चय' अर्थ वाले 'त्वत्' के उदाहरण के रूप में यास्क ने कौषीतकी ब्राह्मण के जिस वाक्य को प्रस्तुत किया है वहाँ 'त्वत्' का अर्थ 'समुच्चय' न होकर 'एक' या 'अन्य' है। 'पर्याय' कुछ सूक्तों के उस संग्रह को कहते हैं। जिसका पाठ 'होता' रात्रि में कहता है तथा 'आश्विन' कुछ सूक्तों के, उस दूसरे संग्रह को कहा जाता है जिसका पाठ, 'पर्याय' नामक सूक्त-सग्रह के पश्चात् स्वयं 'होता' ही करता है। द्र०—ऐतरेय ब्रा० (१६/६ तथा १७/१-५)

कौषीतकी ब्राह्मण के उस प्रसंग में, जहाँ से यास्क ने उपर्युक्त वाक्य प्रस्तुत किया है, इस विषय पर विचार किया गया है 'पर्याय' मन्त्रों के समान ही 'आश्विन' मन्त्रों का भी पाठ किया या उससे भिन्न रूप में? बात यह है कि रात्रि को तीन सम प्रहरों में बाटकर 'पर्याय' नामक सूक्त-संग्रह की सम्पूर्ण ऋचाओं में से एक तिहाई भाग का रात्रि के पहले प्रहर में तथा दूसरे तथा तीसरे भाग का क्रमशः रात्रि के दूसरे और तीसरे भाग में 'होता' पाठ करता है। इस तरह 'पर्याय' (क्रम) के रूप में पाठ किये जाने के कारण ही इस संग्रह को 'पर्याय' कहा जाता है। इस संग्रह में अभिप्रेत ऋचायें 'गायत्री' छन्द वाली हैं जिनमें तीन-तीन चरण होते हैं। इन तीन चरण वाले 'गायत्री' छन्द से निबद्ध मन्त्रों को, यज्ञ की विधि के अनुसार 'अनुष्टुप्' छन्द में परिणत कर दिया जाता है, जिसमें चार-चार चरण होते हैं और यह इस रूप में किया जाता है कि प्रथम प्रहर में पाठ किये जाने वाले मन्त्रों के प्रथम चरण की पुनरावृत्ति कर दी जाती है जैसे—

पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं सनश्रुतम् इन्द्र इति ब्रवीतन ॥

इस मन्त्र में प्रथम चरण 'पुरुहूतं पुरुष्टुतम्' की पुनः आवृत्ति करके इसका पाठ किया जायेगा। इस तरह चार चरण हो जाने के कारण यह 'गायत्री' छन्द 'अनुष्टुप्' के रूप में परिणत हो जायेगा। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय प्रहर

में उच्चार्यमाण मन्त्रों के क्रमशः द्वितीय तथा तृतीय चरण की पुनरावृत्ति की जायगी। परन्तु 'आश्विनी' नामक सूक्त-संग्रह, जिसमें एक हजार ऋचाओं का संग्रह अभिप्रेत है, के मन्त्रों के पाठ में इस प्रकार की, चरण सम्बन्धी, कोई पुनरावृत्ति नहीं की जाती। स्पष्ट है कि इन दोनों प्रकार के संग्रह का पाठ भिन्न-भिन्न रूप में किया जायगा। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है 'पर्यायों' के समान ही 'अश्विन' मन्त्रों का भी पाठ किया जाना चाहिये। अर्थात्—'आश्विन' मन्त्रों के उच्चारण में भी मन्त्रों के चरणों की आवृत्ति, 'पर्याय' मन्त्रों के समान होनी ही चाहिये इस मत को ही **'पर्याय' इव त्वद आश्विनम्** इस वाक्य में प्रस्तुत किया गया है। इस रूप में न तो 'इव' निपात ही अनर्थक या वाक्य-पूरण के लिये प्रयुक्त है और न 'त्वत्' का अर्थ 'समुच्चय' ही है। द्र०—प्रो० राजवाड़े, पृ० २५१–५२)।

'समुच्चय' के अर्थ वाले 'त्वत्' के उदाहरण के लिये **प्रजायं मृत्यवे त्वत् पुनर् मार्ताण्डम् आभरत्** (ऋ० व० १०/७२/९) मन्त्र द्रष्टव्य है क्योंकि इसका अर्थ किया जाता है "(अदिति ने)" प्रजाओं का उत्पत्ति तथा उनके विनाश के लिये पुनः 'मार्तण्ड' का धारण किया।"

'पद-पूरण' निपातों की परिभाषा

मूल—अथ ये प्रवृत्ते अर्थे अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषुवाक्यपूरणाः आगच्छन्ति, पद-पूरणास्ते मिताक्षरेषु। अनर्थकाः। 'कम्', ईम् इद्, 'उ' इति।

अनुवाद—(विवक्षित) अर्थ के परिसमाप्त (पूर्णतया प्रकट) हो जाने पर गद्यात्मक ग्रन्थों में वाक्य-पूरण के रूप में जो कम् 'ईम्', 'उ' निपात प्रयुक्त होते हैं वे (ही) अनर्थक (निपात) छन्दोबद्ध ग्रन्थों में 'पद-पूरण' (माने जाते) हैं।

व्याख्या—'पद पूरण' निपातों की परिभाषा करते हुए यास्क ने यह कहा है कि 'पद-पूरण' निपात वे हैं जिनका प्रयोग छन्दोबद्ध ग्रन्थों में केवल छन्द या चरण की पूर्ति के लिये तथा गद्यात्मक शैली में लिखे गये ग्रन्थों में वाक्य को अलङ्कृत करने के लिये किया जाता है। स्पष्ट है कि चाहे इनका प्रयोग छन्द की दृष्टि से या चरण की पूर्ति के लिये, किया जाय अथवा गद्य शैली की रचना में वाक्य को अलङ्कृत करने के लिये, दोनों ही स्थितियों में ये निपात सर्वथा अनर्थक होते हैं। इसी बात को बताने के लिये, यास्क ने अपनी परिभाषा

के अन्त में पुनः 'अनर्थकाः' शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि 'प्रवृत्तेऽर्थे (अर्थ पूर्णतः प्रकट हो जाने पर) इस अंश से भी निपातों की अनर्थकता का ज्ञान हो जाता है इसलिये पुनः 'अनर्थकाः' कहने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

ऐसे भी कुछ निपात हैं जो कुछ प्रयोगों में किसी विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत करते हैं पर कुछ प्रयोगों में सर्वथा अनर्थक प्रतीत होते हैं। इसलिये दुर्ग का यह विचार है कि जहाँ तक सम्भव हो निपातों का अर्थ जानने का प्रयास करना चाहिये—यदि किसी का भी पता न लगे तो उसे 'पद-पूरण' मान लेना चाहिये।

'पद-पूरण' निपातों में उपलक्षण के रूप में यास्क ने केवल चार निपातों का ही नाम लिया है। इसलिये इस श्रेणी में 'वै', 'खलु', 'किल' इत्यादि अन्य निपातों का भी अन्तर्भाव मान लिया जाना चाहिये जिनका प्रयोग 'पद-पूरण' के रूप में हुआ है। उ' निपात के 'पद-पूरण' होने की बात स्वयं यास्क ही, पहले, 'उ' के प्रसंग में, कह आये हैं इसलिये उनके स्थान पर किसी अन्य निपात का नाम लेना सम्भवतः अधिक उचित होता।

पद-पूरण निपातों के उदाहरण

मूल—

निष्ट्वक्त्रासश् चिद इन नरो भूरितोका वृकाद इव।
विभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्॥

शिशिरं जीवनाय। शिशिरं शृणातेः शम्नातेर् वा। एम् एनं सृजता सुते (ऋ० वे० १/९/२) आ सृजत एन सुते। तम् इद् वर्धन्तु नो गिरः (ऋ० वे० ८/९२/२१) तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः। अयम् उ ते समतसि (ऋ० वे० १/३०/४)। अयं ते समतसि। 'इवो'ऽपि दृश्यते—'सुविदुर इव' (काठक संहिता ८/३), सुविज्ञायेते इव (काठक संहिता ६/२)

अनुवाद--('कम्' का उदाहरण—निष्ट्वक्त्रास:'०—वस्त्र रहित तथा बहुत सन्तान वाले मनुष्य (ही) भेड़िये से डरते हुए के समान चिल्लाते हैं कि शिशिर (ऋतु) जीवन के लिये (सुखदायी) है। शिशिर (ऋतु) जीने के लिये है। 'शिशिर' (शब्द) 'शृ' या 'शम्' (धातु) से बनेगा। ('ईम' का उदाहरण)—एम् एनं सृजता सुते' छान लिये जाने पर सोम को बहने दो। ('इत्' का उदाहरण है) 'तम्' इद् वर्धन्तु, नो गिर:'—हमारी स्तुतियां उसको (ही) 'अयम् उ ते समतसि'—यह (ही वह सोम) तुम्हारे लिये है (जिसके प्रति तुम) अच्छी तरह जाते हो। 'इव' (निपात) भी (पद-पूरण के रूप में प्रयुक्त) दिखाई देता है। जैसे—'सुविदुर् इव'—उन्होंने जाना, 'सुविज्ञायेते इव' अच्छी तरह जाने जाते हैं।

व्याख्या—

कम्—इस निपात के उदाहरण के रूप में यास्क ने जो श्लोक प्रस्तुत किया है उसका केवल शिशिरं जीवनाय 'कम्' इतना अंश ही उदाहरण के लिये पर्याप्त है। व्याख्या में यास्क ने इतने ही अंश की व्याख्या की है। सम्भव है मूल निरुक्त में इतना ही पाठ हो। 'जीवनाय' के समान, चतुर्थ्यन्त शब्दों के साथ अनेक बार 'कम्' निपात का प्रयोग मिलता है। जैसे—आवि: तन्वं कृणोषु दृशे कम् (ऋ० वे० १/१२/११३), पिबा सोमं मदाय 'कम्' इत्यादि। इन सभी स्थलों में 'कम्' का अर्थ 'वस्तुत:' 'सम्यक्', या 'अच्छी प्रकार' भी किया जा सकता है। जहाँ 'नु', 'सु',आदि निपातों के साथ 'कम्' का प्रयोग होता है, वहाँ अवश्य वह अनर्थक होकर पद-पूरण बन जाता है।

ईम्—यह निपात भी अनेकत्र 'एनम्' अर्थात् 'इसको' या 'इनको' जैसे अर्थों को प्रकट करता है। इसका सम्बन्ध 'इदम्' (इ) से कथंचित् स्थापित किया जा सकता है। परन्तु अनेक प्रयोगों में अनर्थक भी दिखाई देता है। जैसा—एम् एनं सृजता सुते इस प्रयोग में 'ईम्' तथा 'एनम्' दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ। इसलिये ऐसे स्थलों में 'ईम्' को अनर्थक ही मानना होगा।

इत्—अनेक स्थलों पर 'इत्' का प्रयोग 'एवं' या केवल के अर्थ में हुआ है। यहाँ तम् इद् वर्धन्तु नो गिर: इस मन्त्र में भी 'तम् इत्' का अर्थ 'उसको

ही' या 'केवल उसी को' अर्थ प्रतीत होता है। पता नहीं क्यों यास्क ने यहां 'इत्' को पद-पूरण मान लिया है।

उ—**अयम् उ ते समतसि** इस मंत्रांश का पूरा अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि **यं सोमं प्रति त्व सम् अतसि स एव अयं सोमः** अर्थात् जिस सोम के लिए तुम निरन्तर या अच्छी तरह जाते हो—जो तुम्हें बहुत प्रिय है—वही यह सोम है। यहां 'उ' का अर्थ भी 'एव' प्रतीत होता है।

इव—'पद-पूरण' निपातों की चर्चा के इस प्रसंग में यास्क ने 'इव' का भी नाम लिया है। ऊपर 'पर्याया इव त्वद् आश्विनम्' इस वाक्यांश की यास्ककृत व्याख्या—'अश्विनं च पर्यायाश्च' में 'इव को अनर्थक एवं पद-पूरणार्थक माना गया है। इसलिये वहां 'इव' का कोई अर्थ नहीं किया गया—परन्तु वहीं टिप्पणी में स्पष्ट किया जा चुका है कि 'इव' अनर्थक न होकर 'सादृश्य अर्थ वाला है। यहां 'इव' के जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें भी 'इव' अनर्थक नहीं प्रतीत होता। 'इव' का जो पहला उदाहरण 'सुविदुर् इव' दिया गया है, वह काठक संहिता में दो स्थलों पर मिलता है। पहला स्थल है—**न वै सुविदुर इव ब्राह्मणा नक्षत्रं मीमांसन्ते इव हि उदितेन पुण्याहम्** (काठक संहिता ८/३) यहां यह बात दी गई है कि एक विशिष्ट नक्षत्र में यजमान अग्निहोत्र करे। परन्तु निश्चित रूप से नक्षत्रों का ज्ञान ब्राह्मणों को भी नहीं हो पाता इसलिये वे यह निर्णय देते हैं कि सूर्योदय के समय यज्ञ करना चाहिये। इसीप्रकार दूसरे स्थल—**न वै सुविदुर इव मनुष्या यज्ञे तस्मान् न सर्व इव ऋध्नोति** (काठक सहिता ८|१२)—में भी यह अभिप्राय प्रतीत होता है चूंकि यज्ञ करने वाला मनुष्य यज्ञ सम्बन्धी विविध विद्वानो को पूर्ण रूप से नहीं जानता और इस कारण उन्हें यथोचित रूप में नहीं कर पाता, इसीलिये उसे पूरा फल नहीं मिलता। यहां प्रथम स्थल पर 'इव' के प्रयोग से यह बात प्रकट होती है कि वक्ता न तो यह कहना चाहता है कि ब्राह्मणों को नक्षत्रों का ज्ञान नहीं है और न ही यह कहना चाहता है कि ब्राह्मणों को नक्षत्रों का पूर्ण ज्ञान है। इस द्विविधात्मक स्थिति को बताने के लिये ही वह 'इव' का प्रयोग करता है। इसी प्रकार दूसरे स्थल में भी वक्ता की स्थिति द्विविधात्मक है। वह यह मानता कि यज्ञ करने वाला सारी विधियों को पूर्णतया नहीं

जानता और साथ ही वह यह भी नहीं मानता कि यजमान को विधियों का पूर्ण ज्ञान है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों को नक्षत्रों का तथा यजमान को विधि-विधानों का जो ज्ञान है वह पूर्ण ज्ञान से कुछ कम है।

इसी तरह पुरुषश्च नक्तं प्रत्यञ्चौ न सुविज्ञायेते इव (काठक संहिता ६/२) इस वाक्य में 'सुविज्ञायते इव' का प्रयोग मिलता है। इसका भाव यह है कि रात में चलने वाला कोई प्राणी स्पष्ट नहीं दिखाई देता चाहे वह आदमी हो या घोड़ा या कोई और प्राणी। यहाँ शाब्दिक अर्थ यह है कि रात्रि में चलते हुए पुरुष तथा घोड़ा मानों अच्छी तरह नहीं जाने जाते। अर्थात् थोड़ा बहुत तो उसका ज्ञान होता है पर पूरा नहीं। इसलिये यहाँ भी 'इव' को सर्वथा अनर्थक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के प्रयोगों ने ही बाद में 'क्रियोत्प्रेक्षाऽलंकार' को जन्म दिया जहाँ क्रिया के साथ 'इव' का प्रयोग होता है।

केवल प्रश्नवाचक सर्वनामों तथा क्रिया-विशेषणों के साथ प्रयुक्त 'इव' अनर्थक प्रतीत होता है तथा वहाँ 'इव' को वाक्यालङ्कार या वाक्य पूरण के रूप में प्रयुक्त माना जा सकता है। जैसे—'किम् इव' ?, 'कथम् इव' ?, 'क्वेव ?' इत्यादि। इनके अतिरिक्त ऐसा कोई प्रयोग नहीं दिखाई देता जहाँ 'इव' सर्वथा अनर्थक होकर 'पदपूरण' के रूप में प्रयुक्त हुआ।

नपात के समुदाय

मूल—

अथापि 'न' इत्येष इत् इत्येतेन सम्प्रयुज्यते 'परिभये'।

(यथा)—हविर्भिर् एके स्वर इत सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।

शचीर् मदन्त उत दक्षिणाभिर् नेज् जिह्मया यन्त्यो नरकं पताम॥ इति

(ऋ० वे० खिल १०/१०६/१)

नरके न्यरकं नीचैर् गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानम् अल्पम् अप्यस्तीति वा।

अथापि 'न च' इत्येष 'इत' इत्येतेन सम्प्रयुज्यते अनुपृष्टे। 'न चेत् सुरां पिबन्ति' इति। सुरा सुनोतेः। एवम् उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति। ते उपेक्षितव्याः।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त 'परिभये' (अत्यधिक भय) के अर्थ में 'इत्' के साथ 'न' का प्रयोग होता है। जैसे—'हविर्भिर् एके०'

मन्त्रान्वय—एके हविर्भिः इतः स्वः सचन्ते। एके स्वनेषु सोमान् सुन्व (इतः स्वः सचन्ते)। (एके) दक्षिणाभिः, शचीः मदन्तः (इतः स्वः सचन्ते) जिह्मायन्त्यः वयं नेत् नरकं पताम।

मन्त्रानुवाद—कुछ लोग हवियों के द्वारा यहाँ से स्वर्ग को जाते हैं, कुछ सवनों में सोम का अभिषव करके (यहाँ से स्वर्ग को जाते हैं) तथा कुछ दक्षिणाओं से (दैवी) शक्तियों को प्रसन्न करते हुये (यहाँ से स्वर्ग को जाते हैं) कुटिल आचरण करती हुई हम (स्त्रियाँ) कहीं नरक में न गिरें।

'नरक' शब्द 'नि + अरक' से बना है। (इसका अर्थ है) नीचे जाना (अथवा 'न + र + कम्' इन तीन शब्दों से नरक बना है जिसका अर्थ है) इसमें आनन्ददायक स्थान थोड़ा सा भी नहीं है।

इसी तरह 'इत्' के साथ 'न' और 'च' का भी प्रयोग दुबारा पूछने के अर्थ में होता है। जैसे—'न चेत् सुरां पिबन्ति' (अर्थात्) 'यदि वे सुरा नहीं पीते होंगे तब' 'सुरा' (शब्द) 'सृ' (धातु) से बनेगा। इसी प्रकार (निपात) भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। इनके विषय में अच्छी तरह विचार करना चाहिये।

व्याख्या—पद-पूरण निपातों की चर्चा के पश्चात् यास्क ने यहाँ दो निपातों की ओर भी संकेत किया जो दो या दो से अधिक निपातों के मेल से बने हैं। ये निपात हैं 'नेत्' तथा 'न चेत्'। उपलक्षण के रूप में केवल इन निपातों का उल्लेख करके यास्क ने यह बताना चाहा कि इस प्रकार के ऐसे निपात हैं जो विभिन्न निपातों के समुदाय से बने हैं तथा भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं। जैसे कदाचित्' 'नहवै', 'यद्यपि', 'अथवा' इत्यादि। भिन्न निपातों से मिलकर बने होने पर भी भाषा में इनकी स्वतन्त्र सत्ता है तथा ये अपने विशिष्ट अर्थों को प्रकट करते हैं।

नेत्—यहाँ 'नेत्' का जो उदाहरण दिया गया उसमें कहने वाले के हृदय में विद्यमान तीव्रतम भय की प्रतीति 'नेत्' से होती है। यहाँ भी मेक्षजिह्मायन्त्यः नरकं पताम इतना अंश ही उदाहरण के रूप में यहाँ पर्याप्त है। सम

इतना अंश निरुक्त में यहाँ उद्धृत भी रहा होगा क्योंकि निरुक्त में इतने ही अंश की व्याख्या की गयी है। इस व्याख्या में भी केवल 'नरक शब्द की व्युत्पत्ति पर ही विचार किया गया है। 'नरक' शब्द 'नि + अरक' से बना है जिसका अर्थ है 'नीचे जाना' (निकृष्ट अवस्था को प्राप्त होना)। अथवा 'न', 'र' तथा 'कम्' इन तीन शब्दों से 'नरक' बनता है। इस दृष्टि से 'नरक' शब्द का अर्थ है इस (नरक) में थोड़ा सा भी रमणीय या आनन्ददायक स्थान नहीं है।

न चेत् - इसके अतिरिक्त 'न' 'च' तथा 'इत्' निपातों के मिलने से 'न चेत्' निपात बना है। इसका प्रयोग 'अनुप्रश्न' के अर्थ में होता है। 'अनुप्रश्न' का अर्थ ऊपर किया जा चुका है। इस निपात के उदाहरण के रूप में यास्क ने लौकिक प्रयोगों में एक वाक्य प्रस्तुत किया है—'न चेत् सुरां पिबन्ति'। इस वाक्य का दुर्ग ने यह अर्थ निकाला है कि यह वाक्य पुनः प्रश्न के उत्तर के रूप में है। किसी ने पूछा कि क्या वृषल वहाँ हैं? (तिष्ठन्ति वृषलाः?)। दूसरे ने उत्तर दिया 'हाँ हैं' (तिष्ठन्ति)। फिर पहले ने पूछा कि 'यदि हैं तो आते क्यों नहीं?' (यदि तिष्ठन्ति किमर्थं नागच्छन्ति)। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि 'यदि वे शराब नहीं पीते होंगे तो आवेंगे' (न चेत् सुरां पिबन्ति'—आगमिष्यन्ति)।

टिप्पणी—इस प्रकार निपातों की चर्चा समाप्त हुई। निपातों का त्रिविध वर्गीकरण करके भी यास्क ने उनके प्रदर्शन में इन त्रिविध निपातों का परस्पर संमिश्रण कर दिया है। तथा इन तीनों प्रकार के निपातों से भिन्न निपातों को भी इनमें ही मिला दिया। संक्षेप में निम्न निपातों की चर्चा निरुक्त के इस प्रकरण में की गयी। 'इव', 'न', 'चित्' तथा 'नु' ये उपमार्थीय निपात हैं। 'च', 'आ' तथा 'वा' कर्मोपसंग्रहार्थीय हैं। 'हि', 'किल' न 'किल', 'ननु', 'मा', 'खलु', 'शश्वत्', 'नूनम्' तथा 'सीम्' भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं तथा 'कर्मोपसंग्रहार्थीय निपातों से भिन्न हैं। 'सीमतः' 'त्व' तथा 'त्वत्' निपात न होकर नाम है। 'सीमतः' तो नाम है परन्तु 'त्व' और 'त्वत्' सर्वनाम हैं। 'कम्', 'ईम्', 'इत्', 'उ', 'इव', पदपूरण निपात हैं। 'नेत्' तथा 'न चेद्' दो या दो से अधिक निपातों के मिलने से बने हुये हैं।

॥ इति तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

शब्दों को धातुज मानने के विषय में दो मत

मूल—इतिमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च । तत्र 'नामान्याख्यातजानि' इति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्च । 'न सर्वाणि' इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके ।

अनुवाद—इस सूत्र में पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात इन भेदों की क्रम से की गई चर्चा समाप्त हुई । इनमें (सभी) नाम धातु से उत्पन्न हुए है । यह (वैयाकरणों में) शाकटायन तथा निरुक्त के आचार्यों के सिद्धान्त है । (परन्तु नैरुक्तों में) गार्ग्य तथा (शाकटायन के अतिरिक्त) कुछ वैयाकरणों का यह मत है कि सभी नाम धातु से उत्पन्न नहीं हैं (अपितु कुछ थोड़े से ही धातुज हैं)।

व्याख्या—निरुक्त तथा व्याकरण शास्त्र के प्रमुख आचार्यों में बहुत प्राचीनकाल से 'शब्दों के धातुज' सिद्धान्त को लेकर विवाद चला आ रहा है । गार्ग्य को छोड़कर प्रायः सभी नैरुक्त आचार्य तथा प्रसिद्ध वैयाकरण शाकटायन यह मानते थे कि सभी शब्द धातुओं से बने हुए हैं-उनका मूल न कोई धातु ही है । पातञ्जल महाभाष्य से उद्धृत निम्न कारिका में भी सिद्धान्त की इस स्थिति का उल्लेख मिलता है :—

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शाकटस्य च तोकम् (३/३

दूसरी और नैरुक्त में गार्ग्य तथा कुछ व्याकरण के विद्वानों का यह कि सभी शब्दों को धातुज नहीं माना जा सकता—केवल कुछ थोड़े से शब्दों को ही धातु से उत्पन्न माना जा सकता है ।

यास्क की संक्षिप्त शब्दावली दोनों वादों के प्रमुख आचार्यों तथा अनुयायियों का स्पष्ट संकेत दे रही है । प्रथम वाद के पोषक हैं शाकटायन तथा प्रायः निरुक्त सम्प्रदाय के सभी आचार्य । 'नैरुक्त-समय'

'वैयाकरणानां चैके' का अभिप्राय यही है कि यदि प्रथम सिद्धान्त नैरुक्तों का है तो द्वितीय सिद्धान्त वैयाकरणों का। परन्तु प्रथम सिद्धान्त के पोषक शाकटायन भी हैं जो नैरुक्त सम्प्रदाय के विद्वान् नहीं हैं, यदि ऐसा होता तो अलग से उनका नाम लेने की आवश्यकता न होती। इसी प्रकार द्वितीय सिद्धान्त के पोषक गार्ग्य भी हैं जो सम्भवतः, व्याकरण-सम्प्रदाय के विद्वान् होते तो 'वैयाकरणानां चैके' में ही उनका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

टिप्पणी—यों तो वैयाकरण तथा नैरुक्त के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। यह मानना कि शाकटायन निरुक्त शास्त्र के विद्वान् नहीं थे या गार्ग्य व्याकरण के विद्वान् नहीं थे, एक बड़ी असंगत-सी बात होगी। क्योंकि यास्क ने शाकटायन का नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ तीन बार लिया है, इसी प्रकार गार्ग्य व्याकरण के बहुत अच्छे ज्ञाता एवं आचार्य थे—यह इसी बात से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में चार बार (६/३/६०; ७/१/७४; ७/३/९९; ८/३/२०) इस आचार्य के मत का उल्लेख किया हैं। यहाँ वैयाकरण तथा नैरुक्त नाम सम्भवतः उस सम्प्रदाय-विशेष में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण पड़ गया है।

वैयाकरणों की परम्परा में प्रतिष्ठित, यास्क की अपेक्षा अर्वाचीन; आचार्य पाणिनि भी सम्भवतः सभी शब्दों को धातुज नहीं मानते। यद्यपि इस आचार्य ने अपने को किसी विवाद में उलझाना नहीं चाहा है—सर्वत्र मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। इसलिये इस विवाद में भी न तो वे शाकटायन के ही पक्के अनुयायी प्रतीत होते हैं और न गार्ग्य के ही। इसीलिए पाणिनीय व्याकरण में रूढ़ि शब्दों की सिद्धि करने वाले उणादिकोश के सूत्रों से निष्पन्न शब्दों को यथावसर व्युत्पन्न (धातुज) और अव्युत्पन्न (अधातुज) दोनों प्रकार का माना गया है। यही कारण है कि उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि तथा उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि ये दोनों ही परिभाषायें बन ले सकीं। द्र०—परिभाषेन्दुशेखर (कारिका २२ तथा उसकी व्याख्या)। फिर भी पाणिनि का झुकाव उसी द्वितीय पक्ष की ओर प्रतीत होता है जो यास्क के समय में भी शाकटायन को छोड़कर अन्य सभी वैयाकरणों को अभिप्रेत रहा।

इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट है कि आचार्य यास्क भी नैरुक्त होने के कारण प्रथम पक्ष के ही अनुयायी हैं तथा सभी शब्दों को धातु से निष्पन्न मानते हैं। इसलिये स्वाभिमत धातुज सिद्धान्त के पोषण के लिये यह आवश्यक है कि गार्ग्य तथा वैयाकरणों के अभिमत सिद्धान्त तथा उसके प्रतिपादन एवं पोषण के लिये प्रस्तुत किये गये हेतुओं का उल्लेख करके उनका खण्डन किया जाये। इसी दृष्टि से यहाँ गार्ग्य के मत का स्वरूप तथा उनके हेतुओं को यास्क ने पहले प्रस्तुत किया है।

गार्ग्य का मत और उसकी युक्तियाँ

मूल—तद् यत्र स्वरसंस्कारो समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेण अन्वितौ स्याताम्। संविज्ञातानि तानि। यथा—'गौ', 'अश्वः', 'पुरुषः', 'हस्ती' इति।

अथ चेत् सर्वाणि नामानि आख्यातजानि स्युर् यः कश्च तत् कर्म कुर्यात् सर्वं तत सत्त्वं तथा आचक्षीरन्। यः कश्च अध्वानम् अश्नुवीत 'अश्वः' स वचनीयः स्यात्। यत् किंचित् तृन्द्यात् 'तृणम्' तत्।

अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युर् यावद्भिर् भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यः नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं स्थूणा 'दरशया' वा 'आसंजनी' च स्यात्।

अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कार यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः, तथैतान्याचक्षीरन्। पुरुषं 'पुरिशयः' इत्याचक्षीरन्। 'अष्टा' इत्यश्वम्। 'तर्दनम्' इति तृणम्।

अथापि निस्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति प्रथनात् 'पृथिवी' इत्याहुः। क एनाम् अप्रथयिष्यत् किम आधारश्चेति।

अथ अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्द्धान् संचस्कार शाकटायनः। एते कारितम् यकारादि चान्तकरम्। अस्तेः शुद्धं सकरादि च।

अथापि 'सत्त्वपूर्वो भावः' इत्याहुः । अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते इति ।

अनुवाद—गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरणों के मत में केवल वे शब्द धातुज हैं) जिनमें स्वर (उदात्त आदि) तथा संस्कार (व्याकरणशास्त्रीय प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग) सुसंगत हों और प्रादेशिक गुण (प्रमुख क्रिया के वाचक धातु अथवा शब्दार्थ में विद्यमान क्रिया) से सयुक्त हों। (इनके विपरीत) 'गौः' 'अश्वः', 'पुरुषः', 'हस्ती' इत्यादि (शब्द) रूढ़ि हैं।

यदि सभी नाम धातुज हों तो कोई भी उस कर्म को करे उस सब (प्राणी अथवा) वस्तु को उसी नाम से कहा जाता है (जैसे) जो कोई भी मार्ग को व्याप्त करे उसे 'अश्व' तथा जो कुछ भी (वस्तु) चुभे उसे 'तृण' कहा जाना चाहिये।

तथा, यदि सभी नाम धातुज हों तो जिन-जिन क्रियाओं से (वस्तु या प्राणी) सम्बन्ध हों उन सब क्रियाओं के आधार पर (उस-उस वस्तु या प्राणियों का) नाम पड़ना चाहिये। ऐसा होने पर स्थूणा (खम्भे) को 'दरशया' (बिल में सोने वाली) तथा 'आसंजनी' (शहतीर या छत को धारण करने वाली) भी कहा जाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इन नामों का जो व्याकरण से सिद्ध एवं कर्म (क्रिया) के आधार पर होने वाला प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग है और जिस रूप में ये नाम स्पष्ट अर्थ वाले हों उस रूप में इन नाम[illegible] प्रयोग किया जाना चाहिये था, (जैसे) पुरुष को 'परिशय', अश्व को 'अष्टा' तथा तृण को 'तर्दन' कहा जाना चाहिये था।

इसी प्रकार ('पृथिवी' इत्यादि शब्दों के) प्रयोग (व्यवहार) के प्रसिद्ध हो जाने पर (सभी शब्दों को धातुज मानने वाले विद्वान्) यह विचार करते हैं कि फैली हुई होने के कारण पृथिवी को 'पृथिवी' कहते हैं। (भला इनसे कोई पूछे) इस (पृथिवी) को किसने तथा कहाँ खड़े होकर फैलाया।

और (इस सिद्धान्त के प्रबल पोषक आचार्य) शाकटायन ने (शब्द के) अर्थ से (स्वर तथा संस्कार के (अन्वित सुसंगत) न होने तथा प्रादेशिक विकार

(प्रमुख क्रिया के वाचक धातु अथवा शब्द के अर्थ में विद्यमान क्रिया) के न होने पर (भी) विख्यात (आख्यात) पदों से ('सत्य') पद (शब्द) के आधे-आधे (दोनों) भागों को बनाया है। (जैसे 'इ' ('इण्' धातु) के णिजन्त (आययति रूप में) यकारादि (य) को अन्त में करना तथा 'अस्' (धातु) के शुद्ध ('शतृ' प्रत्ययान्त) सकारादि (सत्) रूप को आदि में करना।

इसी तरह (इस सिद्धान्त में एक और दोष यह है कि) यह माना गया है कि पहले (वस्तु या प्राणी की) सत्ता और उसके पश्चात् (उस वस्तु या प्राणी के द्वारा की जाने वाली क्रिया होती है। इसलिये बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान (वस्तु या प्राणी) का नाम नहीं पड़ सकता।

व्याख्या—यद् यत्र……पुरुषो हस्तीति—इन पंक्तियों में कहा गया है कि गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरणों के अनुसार केवल वे शब्द धातुज अथवा यौगिक हैं जिनमें शब्द के उदात्त आदि स्वर तथा उनका संस्कार, अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय का विभाग जिसके द्वारा शब्द की सिद्धि अथवा संस्कार किया जाता है, दोनों समर्थ हों—व्याकरणशास्त्र में विहित नियमों के सर्वथा अनुसार हों, उनमें सुसंगत हों। इसके अतिरिक्त ये स्वर तथा संस्कार उस विशिष्ट क्रिया को भी कह रहे हों जो शब्द के अभिधेयभूत वस्तु आदि में प्रमुख रूप से रहती है।

यहाँ प्रादेशिकेन गुणेन' ये दोनों शब्द विचारणीय हैं। दुर्ग के अनुसार प्रदेश का अर्थ है वह क्रिया जो शब्द के अभिधेयभूत प्रत्यय में व्यवस्थित रहती है और जिसके कारण वस्तु विशेष के लिये शब्द विशेष का प्रयोग किया जाता है। इस 'प्रदेश' अर्थात् क्रिया का अभिधायक या वाचक, जो धातु, वह हुआ 'प्रादेशिक गुण' ऐसे 'प्रादेशिक गुण' अर्थात् धातु से स्वर और संस्कार अन्वित होने चाहिएँ। अभिप्राय यह है कि शब्द में वह धातु विद्यमान हो जो शब्द के अभिधेयभूत वस्तु में रहने वाली विशिष्ट क्रिया को कह सके। दुर्ग की एक-दूसरी व्याख्या के अनुसार 'प्रदेश' का अर्थ है 'नाम' या प्रातिपदिक 'शब्द' या 'प्रादेशिक गुण' का अर्थ है वह क्रिया जो उस अर्थ के शब्द में रहती है। इस क्रिया से जिन शब्दों के स्वर और संस्कार अन्वित होते हैं अर्थात् उसे प्रकट करते हैं वे शब्द धातुज है।

दूसरे टीकाकार स्कन्द के अनुसार 'प्रदेश' का अभिप्राय है शब्द का 'अर्थ'। इस अर्थ या अभिधेयभूत वस्तु में रहने वाली क्रिया है—'प्रादेशिक गुण'। इस तरह 'प्रादेशिक गुणेन' का अर्थ हुआ—'अर्थ में विद्यमान विशिष्ट क्रिया'। इस विशिष्ट क्रिया से स्वर तथा संस्कार समन्वित हों अर्थात् स्वर और प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाग से उस विशिष्ट क्रिया की प्रतीति हो रही हो जो उस अभिधेयभूत अर्थ में प्रधान रूप से रहा करती है। इस रूप में दुर्ग तथा स्कन्द दोनों टीकाकारों ने अपनी व्याख्या में लगभग एक ही बात को भिन्न-भिन्न पद्धति से कहा है।

वस्तुत: यहाँ आख्यातज (धातुज) शब्दों की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। ये विशेषतायें जिनमें पायी जाती हैं उन शब्दों को ही गार्ग्य आदि धातुज मानना चाहते हैं। पहली विशेषता यह है कि शब्द का स्वर व्याकरण के नियमों के अनुकूल हो। दूसरी यह कि शब्द में जिस प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना की गई है वह भी व्याकरण के नियमों के अनुकूल हों तथा तीसरी यह कि स्वर तथा संस्कार उस प्रधानभूत क्रिया को कह रहे हों जो उस शब्द के अर्थभूत वस्तु या द्रव्य में हो। ये तीनों विशेषताएँ जिनमें नहीं मिलती वे धातुज नहीं हैं, रूढ़ि अथवा निरुक्त के शब्द में संविज्ञात' हैं। जैसे—'गो:', 'अश्व:', 'पुरुष:', 'हस्ती', इत्यादि।

टिप्पणी—'तद् यत्र०' इस वाक्य में 'अन्वितौ स्याताम्' के बाद संविज्ञा-तानि तानि' पाठ मिलता है। 'अन्वितौ स्याताम्' इस अंश तक जिन विशेषताओं का उल्लेख है वे 'धातुज' शब्दों की विशेषताएं हैं और जैसा कि वाक्य की स्थिति है उसके अनुसार 'तानि' का सम्बन्ध 'अन्वितौ स्याताम्' से किया जाना चाहिए। अर्थात् **यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम् तानि संविज्ञातानि स्युः** इस रूप में वाक्य का अन्वय किया जा सकता है। परन्तु 'संविज्ञात' शब्द का अर्थ है प्रसिद्ध या रूढि और 'संविज्ञातानि तानि' के बाद "यथा 'गौ:' 'अश्व:' 'पुरुष:' हस्ती" इति पाठ मिलता है जिसमें 'संविज्ञात' के उदाहरण के रूप में 'गो:' इत्यादि शब्द प्रस्तुत किए गए हैं, जिन्हें कभी भी गार्ग्य और उनके अनुयायी 'धातुज' नहीं मान सकते। अत: यदि 'गो:' आदि शब्दों को 'संविज्ञात' का उदाहरण माना जाता है तो 'संविज्ञात' शब्द का अर्थ रूढ़ि

ही करना होगा। और 'संविज्ञात' शब्द को अर्थ 'रूढ़ि' करने पर उससे 'तद् यत्र०' आदि के द्वारा पहले कथित, तीन विशेषताओं का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि वे विशेषताएं 'रूढ़ि' शब्दों की न होकर केवल 'धातुज' शब्दों की हैं। यदि यह कहा जाय कि 'संविज्ञात' का अर्थ 'आख्यातज' है और 'गौः' आदि शब्द 'आख्यातज' के उदाहरण के रूप में ही प्रस्तुत किए गए हैं तो यह गार्ग्य के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत होगा। क्योंकि यदि 'गौः' जैसे शब्दों को भी गार्ग्य आदि आख्यातज मान लें तो फिर वे 'अधातुज' किसे मानेंगे—फिर तो सभी शब्द 'धातुज' हो जायेंगे।

इन विभिन्न कठिनाइयों को देखते हुए इस वाक्य के अर्थ को सुसंगत करने के लिए विद्वानों ने अध्याहार की सहायता ली है। दुर्ग ने इस वाक्य की दो व्याख्याएं कीं। पहली में वह 'संविज्ञातानि' का अर्थ करता है—सम्यक् विज्ञातानि—ऐकमत्येन विज्ञातानि इत्यर्थः तेषु तावत् अविप्रतिपत्तिर् एव अस्माकम् आख्यातजानि तानि अर्थात् जिन शब्दों में स्वर और संस्कार समर्थ हों तथा अभिधेयस्थ क्रिया का वाचक धातु विद्यमान हो, वे शब्द सर्वसम्मति से आख्यातज हैं। ऐसे शब्दों में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। जैसे—'कर्त्ता' 'कारकः' इत्यादि शब्द। इसके बाद अर्थात् 'संविज्ञातानि' के बाद यह 'न पुनः' इन दोनों शब्दों का अध्याहार करके उनके साथ 'यथा—गौः' 'अश्वः' को सम्बद्ध करके पूरे वाक्य की संगति लगाने का प्रयास करता है।

दुर्ग ने अपनी दूसरी व्याख्या में 'संविज्ञात' शब्द को 'संविज्ञान' का पर्याय मानते हुये उसे 'रूढि' का वाचक माना है और यह कहा है कि यास्क ने निरुक्त में दो स्थलों पर 'संविज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है तथा दोनों स्थलों पर 'संविज्ञान' का अर्थ है 'रूढि' 'प्रसिद्धि' अथवा 'परम्परा से प्राप्त'। इस रूप में इस दूसरी व्याख्या में 'संविज्ञातानि तानि' इस अंश को 'यथा—गौरश्व०' से सम्बद्ध कर दिया गया है। तथा 'तद् यत्र······स्याताम्' को 'आख्यातज' शब्दों की परिभाषा मानते हुए उसके साथ 'तद् आख्यातजम्' इन दो शब्दों का अध्याहार करके पूर्वार्ध की संगति लगाई गई है।

स्कन्द ने दुर्ग की प्रथम व्याख्या को माना है तथा 'न पुनः' के स्थान पर 'न तु' का अध्याहार करके 'संविज्ञातानि' तक एक वाक्य तथा '(न तु)' यथा 'गौरश्वः' तक दूसरा वाक्य माना है।

प्रो० मैक्समूलर ने निरुक्त के इस पूरे वाक्य को एक माना है तथा 'संविज्ञात' शब्द का अर्थ किया है—'आख्यातज के रूप में एकमत से 'स्वीकृत' और—'गौ:' आदि को आख्यातज का उदाहरण माना है। (द्र०—प्रो० राजवाड़े पृ० २५७) स्पष्ट है कि मैक्समूलर ने इस पंक्ति के आशय को समझा ही नहीं।

प्रो० रॉथ ने 'प्रादेशिक' का अर्थ (Explanatory roots) अभिधेयस्थ क्रिया को वाचक धातु करते हुए दुर्ग की द्वितीय व्याख्या को स्वीकार किया है।

प्रो० गुणे ने 'स्याताम्' तथा संविज्ञातानि तानि' के बीच कुछ शब्दों को त्रुटित माना है तथा यह कहा है कि पूर्वपक्ष के हेतुओं का खण्डन करते हुए यास्क ने इन हेतुओं के कुछ अंशों को भी उत्तर पक्ष में वहाँ-वहाँ उद्धृत किया है। जहाँ यास्क ने इस हेतु का खण्डन करने के लिये इसका उल्लेख किया है। वहाँ, 'स्याताम्' के पश्चात् सर्वं तत् प्रादेशिकम्' इतने शब्द और मिलते हैं। गुणे के अनुसार ये ही वे शब्द हैं जो यहाँ प्रमादवश छूट गये हैं। प्रादेशिकम् का अर्थ है—आख्यातज। इसलिये यदि इस पाठ को 'संविज्ञातानि तानि' से पहले मान लिया जाय तो सारी कठिनाई हल हो जाती है, क्योंकि तब 'संविज्ञातानि तानि' से लेकर 'हस्ती' तक एक वाक्य मानकर इस स्थल की पूरी संगति लग जाती है। प्रो० गुणे की यह बात कुछ ठीक प्रतीत होती है क्योंकि यास्क ने सर्वत्र पूर्वपक्ष की बात को उद्धृत करके और उसके बाद 'इति' का प्रयोग करके फिर उसका खण्डन किया है। यह स्थिति इस विवाद में तथा मन्त्रों की सार्थकता के विवाद में दोनों स्थलों पर बड़े रूप में देखी जा सकती है।

डा० स्वरूप का यह कहना है कि 'तद् यत्र···स्याताम्' यहाँ 'स्याताम्' के पश्चात् पूर्ण विराम मानना चाहिये तथा इस वाक्य को पहले वाक्य 'न सर्वाणि···एके' से सम्बद्ध करके यह अर्थ करना चाहिये कि गार्ग्य तथा, शाकटायन के अतिरिक्त, वैयाकरण की दृष्टि में सभी शब्द धातुज नहीं हैं अपितु केवल वे शब्द धातुज हैं जिनमें स्वर और संस्कार व्याकरण के अनुकूल हों तथा अभिधेय में विद्यमान मूल धातु से युक्त हों। इसके विपरीत जो शब्द है जैसे—'गौ', 'अश्व' आदि, वे 'संविज्ञात' अर्थात् रूढि' हों।

प्रो० राजवाड़े (पृ० २५८) ने 'अन्विती' शब्द के स्थान पर 'अनन्विती' की कल्पना करके पूरे वाक्य को सुसंगत करना चाहा है। परन्तु उनकी इस कल्पना में भी कठिनाई यह है कि 'स्वर-संस्कारौ' समर्थौ इस अंश की व्याख्या 'अनन्विती' के साथ सुसंगत नहीं हो पाती। या तो यहाँ भी 'न' की कल्पना की जाय तथा यह पाठ माना जाय कि 'यत्र स्वर संस्कारौ असमर्थौ स्याताम्' इत्यादि। पर यह सब मानने में दो बार 'न' का अध्याहार करना पड़ता है तथा अस्पष्टता फिर भी बहुत कुछ बनी रहती है।

जितने विचार ऊपर प्रस्तुत किये गये इन सब में प्रो० गुणे अथवा डा० स्वरूप की व्याख्या उचित एवं ग्राह्य प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का कोई अध्याहार नहीं करना पड़ता।

शाकटायन-मत के खण्डन में गार्ग्य के हेतु—

प्रथम—यदि सभी नाम 'धातुज' होते 'तो कोई उस विशिष्ट कार्य को करता है उन सबके लिये उस शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे यदि 'अश् व्याप्तौ धातु से 'व' प्रत्यय 'अश्व' कहा जाता है, तब तो जो कोई भी प्राणी या द्रव्य मार्ग में शीघ्रता से चले—मार्ग को व्याप्त करे उन, साइकिल, मोटर, गाड़ी इत्यादि, द्रव्यों अथवा गधा, ऊँट, हाथी इत्यादि प्राणियों—सबको अश्व कहा जाना चाहिये। इसी प्रकार यदि चुभने अर्थ वाली 'तृदी तर्दने' धातु से 'तृण' शब्द बना होता तो चुभने वाले—सुई, काँटे इत्यादि हर वस्तु को 'तृण' कहा जाना चाहिये था। पर ऐसा नहीं होता।

द्वितीय—यदि सभी शब्द 'धातुज' होते, तो जिन-जिन क्रियाओं से एक वस्तु या प्राणी सम्बद्ध होता अथवा करता उन सब क्रियाओं की दृष्टि से एक ही वस्तु अथवा प्राणी के भिन्न नाम पड़ना चाहिये। जैसे यदि स्वयं स्थिर होने अथवा अपने पर आश्रित दूसरों को स्थिर करने के कारण 'स्था' धातु से 'स्थूणा' शब्द निष्पन्न होता तो चूँकि वह 'दर' अर्थात् बिल या नींव में सोता है—स्थिर रहता है—इसलिये इसका नाम 'दरशया' भी पड़ना चाहिये था। तथा इस तरह चूँकि स्तम्भ या स्थूणा के ऊपर छत या शहतीर ठहरी हुई होती है इसलिये, 'आसज्यतेऽस्याम् इति आसंजनी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार

अधिकरण में 'ल्युट' प्रत्यय करके निष्पन्न, 'आसंजनी' शब्द का प्रयोग भी 'स्थूणा' के लिये होना चाहिये था।

टिप्पणी—वस्तुत: 'यौगिक' या 'धातुज' शब्दों की यह विशेषता देखी जाती है कि उनका प्रयोग उन सब व्यक्तियों या वस्तुओं के लिये होता है जो-जो उस विशिष्ट क्रिया से सम्बद्ध होते हैं जो उस शब्द में विद्यमान मूलभूत धातु का अर्थ होती है जैसे कोई भी पढ़ाने का काम करता है, उन सबके लिये 'अध्यापक' शब्द का प्रयोग किया जाता है क्योंकि अध्यापन क्रिया को कहने वाली 'अधि=इ' धातु से कर्त्ता कारक में 'ण्वुल' प्रत्यय होकर 'अध्यापक' शब्द बना है। जो कोई भी सुन्दर ढंग से गाना गाता है उन सबको 'गायक' कहा जाता है। इसी प्रकार 'धातुज' शब्दों की एक दूसरी विशेषता यह भी देखी जाती है कि एक ही व्यक्ति जिन क्रियाओं को प्रधान रूप से करता है उनके आधार पर उसके **भिन्न-भिन्न नाम पड़ जाते हैं**। जैसे एक ही व्यक्ति को पढ़ाने के कारण 'अध्यापक' गाने के कारण 'गायक', उपदेश देने के कारण 'उपदेशक' इत्यादि कहा जाता है। ये दोनों विशेषतायें 'रूढि' शब्दों के विषय में नहीं मिलती। अतः उन्हें 'धातुज' या 'यौगिक' नहीं माना जा सकता।

तृतीय—यदि सभी शब्द 'धातुज' होते तो उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाता जो व्याकरणों के नियमों के अनुसार सुसंगत, साधु एवं न्याय्य होते तथा जो उन विशिष्ट क्रियाओं के वाचक धातुओं से ही निष्पन्न होते जो क्रियायें शब्द के अभिधेयभूत वस्तु में प्रधान रूप से रहती हैं।

न्यायवान का अर्थ है 'न्याय' अर्थात् व्याकरण के नियम के अनुकूल। 'कार्मनामिक:'—**कर्मकृत नाम कर्म नाम। तस्मिन् भव: कार्मनामिक संस्कार:।** 'कर्म' अर्थात् क्रिया। उसके आधार पर पड़ने वाला नाम 'कर्मनाम' है। इस-लिये वस्तु या व्यक्ति में विद्यमान क्रिया के आधार पर किसी का जो नाम रखा जाता है वह 'कर्मनाम' है। जैसे पकाने वाले के लिये 'पाचक' नाम 'कर्मनाम' है। यदि सभी शब्द 'धातुज' होते तो इस तरह के 'कर्मनाम' से सम्बद्ध संस्कार का उपयोग होता। इसके अतिरिक्त जिस तरह के जो शब्द अधिक से अधिक प्रतीतार्थक-स्पष्टार्थक हों उन्हीं का प्रयोग किया जाना चाहिये था—**प्रतीत: स्पष्टतया ज्ञान: अर्थं येषां तानि प्रतीतार्थानि अस्पष्टार्थक शब्दों**

का प्रयोग नहीं किया जाता जैसे—'पुरुष' शब्द यदि 'पुरि शेते इति 'पुरुषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुर्' शब्द तथा 'शी' धातु से बना हुआ है तो 'पुरुष' का प्रयोग न करके 'पुरिशयः' शब्द का प्रयोग होता। इसी तरह यदि 'अश्व' शब्द 'अश्' धातु से निष्पन्न है तथा मार्ग को व्याप्त करने के कारण घोड़े को 'अश्व' कहा जाता तो 'अश्व' के स्थान पर स्पष्ट अर्थ वाले 'अष्टा' शब्द का प्रयोग किया जाता। क्योंकि ये दोनों ही शब्द व्याकरण के नियमों के अनुकूल हैं। कार्मनामिक संस्कार से सम्बद्ध हैं तथा 'प्रतीतार्थक' हैं। 'आचक्षीरन्' शब्द 'चक्ष् व्यक्तायां वाचि' से 'लिङ्' अन्य पुरुष, बहुवचन का प्रयोग है। आचक्षीरन् अर्थात् कहते—प्रयोग करते।

चतुर्थ—जब शब्दों का व्यवहार चल पड़ता है—प्रचालन हो जाता है—प्रसिद्ध हो जाता है तब निरुक्त के विद्वान् उन शब्दों के धातु या प्रकृति आदि के विषय में विचार आरम्भ करते हैं। यदि सभी शब्द 'धातुज' होते तो शब्द प्रयोग से पहले ही उस शब्द की प्रकृति आदि के विषय में विचार कर लिया जाता। जैसे भूमि को न जाने कब से लोग 'पृथिवी' कहते चले आ रहे हैं। जब सृष्टि बनी होगी—भूमि उभरी होगी तथा संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा होगा। तभी से भूमि के लिए 'पृथिवी' शब्द का प्रयोग आरम्भ हो गया होगा। परन्तु इतने दिनों पश्चात् नैरुक्त कहता है कि 'प्रथ्' धातु से 'पृथिवी' शब्द बना है तथा फैलाई जाने के कारण भूमि को 'पृथिवी' कहा जाता है। इस 'पृथिवी' को किसने फैलाया, कब फैलाया तथा जब फैलाया तो वह फैलाने वाला स्वयं कहाँ खडा था? इन प्रश्नों का नैरुक्त के पास कोई उत्तर नहीं है।

पञ्चम—सभी शब्दों को 'धातुज' मानने के सिद्धान्त के प्रबल पोषक शाकटायन तथा उनके अनुयायी नैरुक्तों ने शब्दों की व्युत्पत्ति करते हुए विचित्र खिलवाड़ किया है। कुछ ऐसे शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी की गईं, जिनमें जो धातुयें दिखाई देती हैं उनका अर्थ शब्द में नहीं है तथा जिन धातुओं का अर्थ शब्द में है वे व्युत्पत्तियों में नहीं हैं। ऐसी स्थिति होने पर भी इन शब्दों का निर्वचन करते हुए इन शाकटायन आदि ने शब्दों के अनेक भाग करके उन भिन्न-भिन्न भागों का भिन्न-भिन्न धातुओं से सिद्ध किया है। जैसे—'सत्य' शब्द के 'सत्' तथा 'य' ये दो भाग किये गये। 'इ' (इण् गतौ) धातु के

णिजन्त रूप 'आययति' से यकारादि' अर्थात् 'य' बनाया गया। तथा 'शुद्ध' अर्थात् अक्रिया रहित 'शतृ' प्रत्ययान्त 'अस्' धातु के सकारादि भाग 'सत्' से 'सत्य' शब्द के आदि भाग 'सत्' की सिद्धि की गयी। इस प्रकार के निर्वचन, निर्वचन न होकर, खिलवाड़ कहे जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि 'सत्य' शब्द के अर्थ में न तो 'अस्' धातु का अर्थ विद्यमान है और न 'इण्' धातु का। क्योंकि असत्य वस्तुयें भी रहती ही हैं। इसलिये यदि 'अस्' धातु से ही 'सत्य' शब्द बना है तो 'सत्य' का अर्थ 'असत्य' भी हो सकता है। और 'सत्य' शब्द में जिस मूल प्रकृति या धातु का अर्थ विद्यमान है, उससे व्याकरण के अनुसार 'सत्य' शब्द बन नहीं सकता। इसलिये इस प्रकार के शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय विवेचन अथवा निर्वचन के झगड़े में न पड़कर या दूसरे शब्दों में इन्हें धातुज न मानकर सीधा रूढि मान लिया जाना चाहिये।

'अनन्वितेऽर्थे' तथा 'अप्रादेशिके विकारे' ये दोनों शब्द रूढ़ि शब्दों की दो विशेषताओं को बताते हैं। पहली विशेषता यह है कि सत्य में जो धातु दिखाई देती है उस धातु का अर्थ शब्द के अर्थ में विद्यमान नहीं होता। दूसरी विशेषता यह है कि जिस धातु से शब्द बनाया जाता है उसमें, व्याकरण के नियमों के अनुसार, शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती। 'विकार का अर्थ है 'संस्कार'। तथा 'अप्रादेशिक' का अर्थ है उस शब्द (प्रदेश) से सम्बन्ध न होना अथवा व्याकरण के अनुकूल न होना। 'प्रदेश' का अर्थ है, 'प्रदिश्यते—उच्चार्यते यः प्रदेशः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार, वह शब्द जिसका निर्वचन करना है। 'प्रदिश्यते—उपदिश्यते सूत्रसमूहो यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रदेश' का अर्थ 'व्याकरण' भी हो सकता है।

उपर्युक्त ये दोनों विशेषतायें अत्यन्त 'रूढ़ि' भूत शब्दों में पायी जाती हैं। जैसे 'हस्त' (हाथ) शब्द 'हस् हसने' धातु तथा 'क्त' प्रत्यय प्रतीत होता है। परन्तु 'हसना' अर्थ 'हस्त' शब्द के अर्थ में कथमपि विद्यमान नहीं है। यह हुआ अर्थ का 'अनन्वित' होना अर्थात् प्रतीयमान धातु को अर्थ का शब्द में विद्यमान न होना। इसके अतिरिक्त 'हस्तो हन्तेः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस 'हन्' धातु से 'हस्त' शब्द बनाया जाता है, उससे व्याकरण के नियमों के अनुसार, यह शब्द नहीं बन सकता। इस रूप में 'हन्' धातु के आधार पर

कल्पित 'विकार' अर्थात् 'ह्रस्व' शब्द विषयक 'संस्कार अप्रादेशिक' हैं अर्थात् 'प्रदेश' 'हस्त' शब्द—में नहीं है। अथवा यह 'हन्' धातु से सम्बद्ध संस्कार 'अप्रादेशिक' है अर्थात् व्याकरण के नियमों के अनुकूल नहीं हैं।

'प्रदेभ्य:' का अर्थ है विभिन्न धातु पदों से। 'पदेतरार्धान्' का अर्थ है एक-एक पद के दो आधे-आधे भागों को। 'एते:'—'इण्' धातु का। 'कारितम्'—का अर्थ है 'णिजन्त'। पाणिनि ने 'कारित' आदि शब्दों की सिद्धि के लिये 'णिच्' प्रत्यय की कल्पना की है। इसीलिये पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'कारित' 'पाठित' इत्यादि शब्दों में धातु को णिजन्त' माना जाता है। परन्तु प्राचीन वैयाकरण 'णिजन्त' धातु को 'कारित' शब्द से व्यवहार करते रहे, ऐसा यास्क के इस कथन से प्रतीत होता है। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त 'यङ्-लुगन्त' शब्द के लिये प्राचीन वैयाकरण 'चर्करीतान्त' शब्द का तथा 'सन्नन्त' के लिये 'चिकीर्षित' शब्द का व्यवहार करते थे—ऐसा महाभाष्य आदि से ज्ञात होता है। ये 'कारित इत्यादि नाम उस प्रक्रिया में निष्पन्न होने वाले शब्द प्रयोगों की दृष्टि से प्रतीक के रूप में निर्धारित हुए होंगे जबकि पाणिनि ने 'णिच्' आदि प्रत्ययों की दृष्टि से 'णिजन्त' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इन शब्दों के निर्देश के लिये 'कृ' धातु से बने 'कारित' 'चिकीर्षित' तथा 'चर्करीत' जैसे शब्दों को ही प्रतीक के रूप में चुना गया। 'अन्तकरणम्' का अर्थ अन्त में करना या रखना अथवा अन्तिम भाग बनाना। प्रो० राजवाड़े ने 'करण' का अर्थ 'खण्ड' (Syllable) किया है। 'आम्ते: सकारादिम्'—'कारित' के विपरीत यहाँ 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग किया गया। 'कारित' अथवा 'णिजन्त' आदि के प्रयोगों में धातु के साथ कोई न कोई प्रत्यय लगा होता है—धातु विकृत होती है। इसके विपरीत जब धातु के साथ 'णिच्' आदि कोई प्रत्यय नहीं होता तो वह 'शुद्ध' होती है, अविकृत होती है। ऐसे शुद्ध 'अस्' धातु के 'शतृ' प्रत्ययान्त 'सत्' जैसे प्रयोगों को 'सत्य' के आदि में रखा गया। यहाँ 'सकारादिम्' के साथ 'आदिकरणम्' शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिये। इस वाक्य में यास्क ने चार बार 'च' का प्रयोग किया है जो सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होता है'। केवल दो बार 'च' का प्रयोग पर्याप्त था।

छठा हेतु—यह एक तथ्य है कि पहले 'सत्त्व' अर्थात् वस्तु या द्रव्य होता है उसके बाद 'भाव' अर्थात् क्रिया उपस्थित होती है। यह उचित भी है क्योंकि कार्य से पूर्व 'कारण' का होना आवश्यक है—जब तक 'कर्ता' नहीं होगा तब तक 'कार्य' हो ही कैसे सकता है। परन्तु नैरुक्त यह मानता है कि वस्तु में रहने वाली किसी विशिष्ट क्रिया के आधार पर वस्तुओं का नाम पड़ता है। अर्थात्—वस्तु में होने वाली क्रिया विशेष के आधार पर उस क्रिया के वाचक धातु से निष्पन्न नाम का उस वस्तु विशेष के लिये प्रयोग किया जाता है। अब यह बात भला कैसे सुसंगत हो सकती है कि क्रिया जो वस्तु या द्रव्य के बाद प्रकट होती है उसके आधार पर पहले से विद्यमान वस्तु या द्रव्य का नाम पड़े। वस्तु या द्रव्य का नाम तो पहले ही, वस्तु के उत्पन्न होने के साथ ही, पड़ जाता है। उस समय यह नहीं देखा जाता कि इस वस्तु में यह विशिष्ट क्रिया हो रही है या नहीं। इसलिये इन आक्षेपों या तर्कों के होते हुए शाकटायन का यह सिद्धान्त कि 'सभी शब्द धातुज हैं'—किसी न किसी क्रिया विशेष के आधार पर उस-उस क्रिया विशेष के वाचक धातु से निष्पन्न हैं—कथमपि उत्पन्न नहीं हो पाता।

टिप्पणी—'पूर्वस्य प्रदेशः'—यहाँ 'पूर्वस्य' का अर्थ क्रिया से पूर्व विद्यमान वस्तु या द्रव्य का 'प्रदेश', का अर्थ यहाँ, प्रदिश्यतेऽभिधीयतेऽर्थो येन सः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'करण' कारक में 'घञ्' मान कर, 'नाम' या 'वाचक शब्द' है। अर्थात् पहले से विद्यमान वस्तु के लिए बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर निष्पन्न होने वाले वाचक शब्द की उत्पत्ति नहीं हो पाती। अथवा 'प्रदेशनं प्रदेशः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'भाव' में 'घञ्' मानकर 'प्रदेशः' का अर्थ 'कथन' भी किया जा सकता है इस अर्थ के अनुसार 'पूर्वस्य प्रदेशः' का अर्थ होगा पहले से विद्यमान द्रव्य का शब्द में होने वाली क्रिया के आधार पर निष्पन्न शब्द से कथन सम्भव नहीं है।

गार्ग्य की युक्तियों का खण्डन

मूल—

तदेतन् नोपपद्यते। यथो हि नु वै एतम्। 'तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकम् इत्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति।

यथो एतद् 'यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन् इति', पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भम् एकेषां नैकेषां यथा 'तक्षा', 'परिव्राजकः', 'जीवनः', 'भूमिजः' इति ।

एतेनैव उत्तरः प्रत्युक्तः ।

यथा एतद् 'यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस् तथैनान्याचक्षीरन्' इति सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः । यथा— 'व्रततिः', दमूनाः', 'जाट्यः', 'आट्णारः', जागरूक ', दर्विहोमी' इति ।

यथो एतत् 'निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति' इति, भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः । प्रथानात् पृथिवी इत्याहुः । क एनाम् अप्रथयिष्यत् ? किम् आधारश्च ? इति ? अथ वै दर्शनेन पृथुः, अप्रथिता चेद् अप्यन्यैः । अथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादाः उपालभ्यन्ते ।

यथो एतद 'पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार', इति, योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः । सैषा पुरुष गर्हा न शास्त्र गर्हा ।

यथो एतत् 'अपरस्माद भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते' इति । पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वनाम् अपरस्मात् भावात् नामधेय प्रतिलम्भम् एकेषां न एकेषाम् । यथा—'बिल्वादः', 'लम्बचूडकः' इति । बिल्वम् भरणाद् वा भेदनाद वा ।

अनुवाद—(गार्ग्य-पक्ष की ओर से जो हेतु दिये गये) वह (सब) सुसंगत नहीं हो पाता । जो यह (कहा गया) कि 'जहाँ स्वर और संस्कार समर्थ हों तथा अर्थ भूत वस्तु में विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से अन्वित हों (वे) सभी (शब्द) धातुज हैं, ऐसा मानने से (सभी शब्द धातुज हैं इस सिद्धान्त पर) कोई आक्षेप नहीं आता ।

जो यह (कहा गया) कि 'जो कोई भी उस कार्य को करे उन सबके लिये उस विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिये' (उसका उत्तर यह है कि) देखते हैं कि समान कर्म करने वालों में से (केवल) कुछ के लिये उस (विशिष्ट

शब्द का प्रयोग होता है, अन्यों के लिये नहीं। जैसे—'तक्षा' 'परिव्राजक', 'जीवन' तथा भूमिज' (शब्दों का प्रयोग उन क्रियाओं से युक्त सब द्रव्यों के लिये नहीं होता)।

इसी बात से अलग (आक्षेप) का भी खण्डन हो गया।

(जो यह कहा गया) कि 'जिस रूप में (शब्द) स्पष्ट अर्थ वाले हों उस रूप में उसका प्रयोग किया जाय' (उत्तर यह है कि), कृदन्त शब्द बहुत थोड़े प्रयोग वाले हैं जैसे—'जाट्य:', 'जागरूक:', 'दर्विहोमी', तथा (उनके विपरीत) 'एकपदिक (अस्पष्टार्थक) शब्द (बहुत अधिक) हैं, जैसे—'व्रतति:', 'दमूना:', 'जाट्‌णार:'।

जो यह (कहा गया) कि '(शब्दों के प्रयोग के) प्रसिद्ध हो जाने पर (नैरुक्त उनके प्रकृति-प्रत्यय आदि विषय में) विचार करते हैं' (उसका उत्तर यह है कि), प्रयोग के प्रसिद्ध हो जाने पर योग (प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध की परीक्षा) होती है। फैली हुई होने के कारण (भूमि को) 'पृथिवी' कहते हैं। किसने इसे फैलाया? तथा (उस फैलाने वाले का) आधार क्या था?' (इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि) किसी के द्वारा फैलायी हुई न होने पर भी चूंकि देखने में यह फैली हुई लगती है (इसलिये भूमि को 'पृथिवी' कहा जाता) है। और इस प्रकार तो देखने के आधार पर (किसी बात को उस रूप में) कहने वाले सभी आक्षेप के भागी होंगे। अथवा इस प्रकार तो सभी दृष्ट अर्थ के कथनों पर आक्षेप किया जा सकता है।

जो यह (कहा गया कि) अनेक (धातु) पदों से (एक ही) पद के आधे-आधे भागों को बनाया, तो (इसका यह उत्तर है कि) जिसने अनन्वित अर्थ में शब्द के (प्रकृति प्रत्यय आदि) संस्कार की कल्पना की वह निन्दनीय है। यह संस्कार की कल्पना करने वाले पुरुष की निन्दा है (निर्वचन शास्त्र अथवा सभी नामों को धातुज मानने वाले सिद्धान्त की निन्दा नहीं है)।

जो यह (कहा गया) कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान पदार्थ का नाम उत्पन्न नहीं हो पाता तो, (इसका उत्तर यह है कि देखते हैं कि) पहले से उत्पन्न (केवल) कुछ वस्तुओं के बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर नाम रखा जाता है, कुछ का नहीं। जैसे—'बिल्वाद' 'लम्बचूड़क' 'बिल्व' (शब्द) 'भृ' या 'भिद्' (धातु) से बनेगा।

व्याख्या— तद्‌………नोपपद्यते

गार्ग्य ने जो हेतु, सब शब्दों को (धातुज) मानने के सिद्धान्त के खण्डन के लिये दिए, उनका उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं कि ये हेतु सुसंगत नहीं है उत्तर पक्ष का यह प्रस्तावना वाक्य प्रतीत होता है। दुर्ग ने इस वाक्य को पूर्वपक्ष के उपसंहार के रूप में समझा है। परन्तु स्कन्द ने इस पंक्ति का अन्वय गार्ग्य की युक्तियों के खण्डन के प्रारम्भिक वाक्य के रूप में किया है। दोनों रूपों में से किसी तरह इस वाक्य को समझा जा सकता है परन्तु उत्तरपक्ष का प्रारम्भिक वाक्य मानने में अधिक स्वारस्य प्रतीत होता है।

तद् यत्र…अनुपालम्भ एव भवति—इस अंश का अभिप्राय यह है कि गार्ग्य के इस कथन से कि वे सभी शब्द आख्यातज है जिनमें स्वर और संस्कार व्याकरण के अनुकूल हों तथा शब्द के अभिधेयभूत वस्तु में जो प्रमुख क्रिया है उसका वाचक धातु शब्द में विद्यमान हो, शाकटायन तथा नैरुक्तों के सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं आती क्योंकि यह तो अपना दृष्टिकोण है। प्रत्येक विद्वान् अपने सिद्धान्त का निर्धारण करने में स्वतन्त्र है। गार्ग्य का कहना है कि केवल थोड़ से शब्दों को 'धातुज' मानते हैं। गार्ग्य के इस प्रतिपादन के द्वारा शाकटायन या नैरुक्तों के सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं आती।

टिप्पणी—संस्कृत व्याकरण का अंग या परिशिष्ट उणादिकोश है, जिसमें उपलक्षण के रूप में कुछ रूढ़ि शब्दों के स्वर संस्कार आदि के प्रदर्शन का प्रयास किया गया है। परम्परा इस ग्रन्थ को, सभी शब्दों को धातुज मानने वाले शाकटायन की रचना मानती हैं। महाभाष्य में तीन कारिकाएं मिलती हैं जिनमें पहली में यह कहा गया है कि उणादिकोश में बहुत थोड़ी प्रकृतियों का निर्देश किया गया है तथा कुछ थोड़े प्रत्ययों का संग्रह किया गया है। साथ ही शब्द सिद्धि रूप कार्य का विधान भी बहुत थोड़ा ही मिलता है। इसलिये पाणिनि के 'उणादयो बहुलम्' (अष्टा० ३/६/१) सूत्र में 'बहुल' शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से किया गया कि जिस प्रकार 'उणादि' से कुछ शब्दों की सिद्धि की गयी उसी तरह अन्य शब्दों की भी सिद्धि कर लेनी चाहिये। इस प्रकार वेद के शब्दों तथा 'रूढ़ि' भूत शब्दों की सिद्धि हो जायेगी। दूसरी कारिका में यास्क के **नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च** इस बात को ही दूसरे शब्दों

में उद्धृत किया गया है तथा यह कहा गया है कि जिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि नहीं बताये गये उनमें यदि 'प्रत्यय' का ज्ञान हो जाये तो उसके आधार पर 'प्रकृति' का, तथा यदि 'प्रकृति' का ज्ञान हो जाये तो उसके आधार पर 'प्रत्यय' का अनुमान कर लेना चाहिये। तीसरी कारिका में यह कहा गया है कि संज्ञा शब्दों में पूर्व भाग में 'प्रकृति' और उसके बाद 'प्रत्यय' तथा शब्द में जो कार्य दिखाई दे उनके अनुसार अनुबन्ध की कल्पना कर लेनी चाहिये। सभी शब्दों को धातुज मानने वाले शाकटायन आदि की यही स्थिति है। वे कारिकायें हैं—

बाहुलकं प्रकृतेस तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनाद् अपि तेषाम्।
कार्य-सशेष-विधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु।
नाम च धातुजम् आह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेष-समुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तद् ऊह्यम्॥
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्चततः परे।
कार्याद् विद्याद् अनुबन्धम् एत छास्त्रम् उणादिषु॥

गार्ग्य के आक्षेपों का खण्डन—पहले आक्षेप में जो यह बात कही गयी कि यदि सभी शब्द 'धातुज' होते तो जो कोई भी प्राणी उस कार्य को करे उन सबको विशिष्ट नाम (शब्द) से कहा जाना चाहिये था। इसका उत्तर यह है कि एक काम को करने वालों में से कुछ का नाम उस कार्य के आधार पर रखा जाता है सबका नहीं। जैसे—'तक्षा' शब्द 'तक्ष्' धातु जिसका अर्थ लकड़ी, काटना, छीलना, बराबर करना, से बना है। तथा लकड़ी को काटने आदि का काम समय-समय पर अनेक लोग करते हैं। परन्तु सबको 'तक्षा' नहीं कहा जाता है। केवल जो शिल्पी (बढ़ई) होते हैं उन्हें ही 'तक्ष' कहा जाता है। 'परि' उपसर्ग-पूर्वक गति अर्थ वाली, 'व्रज्' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय करके 'परिव्राजक शब्द बनेगा तथा इसका अर्थ है चारों तरफ सर्वत्र घूमने वाला। परन्तु लोग केवल सन्यासी को ही 'परिव्राजक' कहते हैं—भिखमंगे आदि को परिव्राजक नहीं कहते। यद्यपि वे भी सर्वत्र घूमते रहते हैं। 'जीवन' शब्द 'जीव्' धातु से कर्म या 'करण' में 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न माना जाता है तथा उसका अर्थ है 'स्वय जीना' अथवा 'वे साधन जो जीने में सहायक हों. (जीव्यतेऽनेन)। यहाँ

चूंकि 'जीवन' शब्द का पुँल्लिग में प्रयोग हुआ है अतः उसे विशेषण मानकर उसका अर्थ 'जीवन का साधन' करना चाहिये। इस अर्थ के अनुसार 'अन्न', 'जल', 'औषधि' बहुत-सी वस्तुओं को 'जीवनः' कहा जाना चाहिये; परन्तु केवल 'इक्षुरस' या एक प्रकार के 'शाक' जाति को 'जीवनः' कहा जाता है। स्कन्द ने 'जीवनः' का अर्थ 'जलता हुआ अंगारा' किया है। इसी प्रकार 'भूम्यां जातः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कुछ भी भूमि में उत्पन्न हो, उस सबको 'भूमिज' कहा जाना चाहिये। परन्तु केवल 'मङ्गल' ग्रह को ही 'भूमिज' कहा जाता है।

गार्ग्य पक्ष वाले भी यह नहीं कह सकते कि ये शब्द 'धातुज' नहीं हैं। परन्तु 'धातुज' होते हुए भी इन शब्दों का प्रयोग सीमित वस्तु या व्यक्ति के लिये किया जाता है, इसका उत्तरदायी वैयाकरण या नैरुक्त नहीं है। वस्तुतः यह बात भाषा का प्रयोग करने वालों पर निर्भर करती है। इसके लिये क्या कहा जा सकता है कि बोलने वाले क्यों कुछ खास व्यक्तियों को ही 'तक्षा' कहते हैं अन्यों को नहीं। संभवतः इसका कारण यह हो कि इस प्रकार के सीमित प्रयोगों से स्पष्ट एवं वर्गीकृत अर्थ प्रकट हो सकेगा।

दूसरे आक्षेप में जो बात कही गयी है उसका निराकरण भी उपर्युक्त हेतु से ही हो जाता है। अनेक कर्मों को करने वाले एक व्यक्ति के उन-उन कर्मों के आधार पर भिन्न-भिन्न अनेक नाम क्यों नहीं पड़ते? इसका उत्तर भी बोलने वाले ही दे सकते हैं, नैरुक्त इसके उत्तरदायी नहीं हैं। यहाँ भी उपर्युक्त स्पष्टार्थता ही कारण प्रतीत होता है।

तीसरे आक्षेप में यह कहा गया है कि यदि सब 'धातुज' हैं तो जिस रूप में शब्दों की सिद्धि व्याकरण से सुसंगत रूप में हो सके और जो नाम क्रिया के आधार पर पड़ा हुआ हो तथा जिससे सरलतापूर्वक अर्थ का ज्ञान हो सके उस रूप में ही शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिये। अश्व को 'अष्टा' तथा तृण को 'तर्दन' कहा जाना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि जिन शब्दों की निष्पत्ति व्याकरण के नियमों के अनुसार सुसंगत हो जाती है, तथा जिनका अर्थ आसानी से जाना जा सके ऐसे 'कृदन्त' शब्द भाषा में बहुत थोड़े मिलते हैं। जैसे—'जटिलः' (जटा वाला), 'जागरूकः' (जागरणशील) तथा 'दर्विहोमी'

(बड़े चम्मच से हवन करने वाला)। यहाँ 'जाटघ:' तद्धितान्त प्रयोग है। शेष दोनों 'कृदन्त' शब्द हैं। यहाँ 'कृत:' (कृदन्त) को उपलक्षण मानकर उसमें तद्धितान्त शब्दों का भी अन्तर्भाव मान लेना चाहिये, क्योंकि तद्धितान्त शब्द भी 'न्यायवान्', 'कार्मनामिक' तथा 'सं्वीतार्थक' ही होते हैं।

परन्तु संस्कृत भाषा में अधिकता उन शब्दों की है जो व्याकरण के सीमित नियमों के द्वारा सिद्ध नहीं हो पाते तथा सर्वथा अस्पष्ट अर्थ वाले हैं। ऐसे कुछ शब्दों का संग्रह निरुक्त के 'एक पदिक काण्ड' अर्थात् चौथे, पाँचवे तथा छठे अध्याय में किया गया है। जैसे—'व्रतति' (लता), 'दमूना:' (अग्नि अतिथि इत्यादि), 'आटणार:' (अटनशील)। जब स्पष्टार्थक शब्द थोड़े हैं तथा अस्पष्टार्थक और व्याकरण के सूत्रों में न सिमट सकने वाले शब्दों का बाहुल्य है, तो फिर उन अस्पष्टार्थक शब्दों का भी प्रयोग तो करना ही पड़ेगा। इसलिये भाषाविदों तथा नैरुक्तों का प्रयास यह होना चाहिये कि उसमें प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करके उन्हें सुसंगत एवं स्पष्ट अर्थ वाला बनायें। शब्दों के स्वरूप में देश, काल तथा वातावरण आदि के भेद से न जाने कितने-कितने परिवर्तन होते रहते हैं और शब्दों का रूप अपने मूल रूप से इतना विकृत हो जाता है कि उनके मूल रूप का पता लगाना भी कठिन हो जाता है। इसलिये यह कहना कि स्पष्टार्थक शब्दों का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता है?—एक बेतुका-सा प्रश्न है, क्योंकि शब्द का प्रयोग बोलने वाले अपनी इच्छा तथा शक्ति के अनुरूप, भिन्न-भिन्न रूप में करेंगे ही, उन्हें रोका तो नहीं जा सकता; पर विकृत या परिवर्तित शब्दरूपों के मूल रूप को जानने का प्रयास तो किया ही जा सकता है। इस रूप में इन बातों से शब्दों को 'धातुज' मानने के सिद्धान्त पर कोई दोष नहीं आता।

टिप्पणी—आक्षेप कर्त्ता ने अपनी बात के उदाहरण के रूप में यह कहा कि 'अश्व' को 'अष्टा' क्यों नहीं कहा जाता। यहाँ सम्भवत: उसे यह ध्यान नहीं रहा कि 'तृच्' के समान 'व' प्रत्यय का प्रयोग भी अनेक धातुओं में मिलता है। जैसे—'इ' से 'एव' (वेग), 'शो' से 'शेव' (सुख या निधि)। इसलिये केवल 'अष्टा' को धातु मानना, उचित नहीं।

यहाँ 'कृतोऽथैकपदिका······'दर्विहोमी इति' यह पाठ पर्याप्त अस्पष्ट

है। प्रो० राजवाड़े के अनुसार सम्भावित पाठ है—'सन्ति अल्प प्रयोगाः कृतः। यथा जाट्य, जागरूकः, दर्विहोमीति। बहव एकपदिका न तथा। यथा-व्रततिः, दमूनाः, आटणार इति, (पृ० २६५)। इसके आधार पर ही ऊपर अनुवाद तथा व्याख्या की गई है।

चौथे आक्षेप में कहा गया है कि शब्द के प्रचलित हो जाने पर नैरुक्त उसके प्रकृति प्रत्यय आदि की परीक्षा आरम्भ करता है—तो यह तो स्वाभाविक ही है। क्योंकि जब तक शब्द प्रचलित या प्रसिद्ध ही नहीं होगा, तब तक उसके प्रकृति प्रत्यय आदि की परीक्षा या उसके विषय में विचार करने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। जब शब्द विद्यमान ही नहीं होगा, तो परीक्षा किसकी होगी और जो यह कहा गया कि यदि फैली हुई होने से 'पृथिवी' कहा जाता है, तो नैरुक्त यह बतायें कि पृथिवी को किसने कहाँ खड़े होकर फैलाया? इसका उत्तर यह है कि नैरुक्त तो चूँकि पृथिवी को फैली हुई देखता है इसलिये वह 'प्रथ्' धातु से 'पृथिवी' शब्द बनाता है। उसने इस बात का ठेका तो नहीं ले रखा है कि वह यह बतलाये कि पृथिवी को कब किसने तथा कहाँ खड़े होकर फैलाया? क्योंकि इस प्रकार का प्रश्न तो उन सब बातों के लिये किया जा सकता है जिन्हें केवल देखकर उस रूप में कह दिया जाता है। पङ्क में उत्पन्न होने के कारण कमल को 'पङ्कज' कहा है—इस बात को गार्ग्य भी मानेंगे ही। पर क्या वे यह बता सकते हैं कि कीचड़ में किसने कहाँ खड़े होकर कमल को कब पैदा किया? भाषा में शब्दों का प्रयोग तो केवल देखने, सुनने तथा सामान्य रूप से जानने के आधार पर किया जाता है—इसलिये यह आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक वस्तु के विषय में सब बातें पहले से जान ली जायें—फिर उनका प्रयोग किया जाय।

पाँचवें आक्षेप में जो यह कहा गया कि शाकटायन ने अनेक धातुओं से एक शब्द के दोनों आधे-आधे हिस्सों की इस रूप में सिद्धि की है जिससे न तो शब्द का अर्थ अन्वित होता है और न प्रादेशिक विकार। इस रूप में उसने 'सत्य' शब्द को 'इण्' तथा 'अस्' धातु से बनाया। यदि यह बात ऐसी है तो यह दोष शाकटायन का है जिसने ऐसा निर्वचन किया है। निर्वचन करने वाले शाकटायन का यह दोष मानना चाहिये। निर्वचन शास्त्र या सभी शब्दों को धातुज मानने के सिद्धान्त का इसमें क्या दोष है।

टिप्पणी—यहाँ यो अनन्वितेऽर्थे संचस्कार सतेन गार्ह्य: इस वाक्य में इस अर्थ का भी संकेत मिलता है कि जिसने अर्थ का ध्यान न रखते हुये निर्वचन किया है वह दोषी है—आचार्य शाकटायन दोषी नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने तो अर्थ का ध्यान रखते हुये ही शब्दों का निर्वचन किया है। और यदि अर्थ, निर्वचन के अनुसार, सुसंगत हो जाता है तो एक शब्द की अनेक धातुओं से सिद्धि करने में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि व्याकरण का यह कोई स्वीकृत सिद्धान्त तो है नहीं कि एक शब्द की एक ही धातु से सिद्धि की जाय। शाकटायन को दोषी न मानते हुए ही सम्भवत: यहाँ 'संचस्कार' के बाद शाकटायन का नाम नहीं लिया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी एक-एक शब्द के अनेक विभाग करके उनकी भिन्न-भिन्न धातुओं से सिद्धि की गयी है। इसी 'सत्यम्' शब्द में ही शतपथ ब्राह्मण ने 'स', 'ति' तथा 'अम' ये तीन विभाग किये हैं। इसी प्रकार 'हृदयम्' शब्द के वहाँ तीन विभाग—'हृ', 'द' तथा 'यम्' किये गये। तथा इनकी सिद्धि क्रमश: 'हृ' (हरणे), 'दा' (दाने) तथा 'इण्' (गतौ) से की गयी है। 'हृदय' को हृदय इसलिये कहते हैं कि यह विकृत रक्त का हरण करता है, शुद्ध रक्त को देता है तथा गति प्रदान करता है। इसी तरह 'गायत्री' शब्द में 'ग' (शब्दे) तथा 'त्रङ्' (पालने) इन दो धातुओं की सत्ता मानी गयी। इसलिए यह आक्षेप नहीं है कि शाकटायन ने एक शब्द की सिद्धि अनेक धातुओं से की। हाँ यदि बिना अर्थ पर ध्यान दिये ही कोई ऐसे निर्वचन करता तो वह उस व्यक्ति का ही दोष माना जाना चाहिये।

छठे आक्षेप में जो यह कहा गया कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान वस्तु का नाम पड़ना सुसंगत नहीं है—उसका उत्तर यह है कि लोक में ऐसा देखा जाता है कि पहले उत्पन्न कुछ वस्तुओं या प्राणियों का नाम बाद में की जाने वाली क्रिया के आधार पर पड़ जाता है, पर कुछ के विषय में ऐसा नहीं होता। वस्तुत: कहीं भूतकालीन क्रिया के आधार पर नाम पड़ता है, जैसे—'अग्निष्टोमयाजी', 'ब्रह्महा' इत्यादि, कहीं वर्तमान कालीन क्रिया के आधार पर, जैसे 'वाचक:', 'लावका', इत्यादि तथा कहीं भविष्यकाल में होने वाली क्रिया के आधार पर नाम पड़ता है। जैसे—'बिल्वाद:' 'लम्बचूडक:'। ये दोनों नाम पक्षीविशेष के हैं। 'बिल्वाद' एक पक्षी

का नाम है जो बड़ा होने पर 'बिल्व' फल को खाता है। तथा 'मयूर' पक्षी का नाम 'लम्बचूडक' (लम्ब चूडायस्य) है। जिसका अर्थ है लम्बी शिखा वाला। 'बिल्वाद' उत्पन्न होते ही बेल नहीं खाने लगता और न ही 'मयूर' उत्पन्न होते ही लम्बी शिखा वाला बन जाता है। परन्तु बोलने वाले इन पक्षियों के लिए इन नामों का प्रयोग करते ही हैं। इसलिये वह बात बोलने वालों पर निर्भर करती है कि वे कहाँ किस काल की क्रिया के आधार पर किसी वस्तु या प्राणी का नाम रखना चाहते हैं।

यहाँ यास्क ने प्रसंगत: 'बिल्व' शब्द की व्युत्पत्ति भी दे दी है। 'बिल्व' या तो 'पोषण' अर्थ वाली 'भृ' धातु अथवा 'भेदन' अथ वाली 'भिद्' धातु से बनेगा।

टिप्पणी—इन दोनों **गार्ग्य** तथा **शाकटायन**, के सिद्धान्तों का समन्वय इस रूप में किया जा सकता है कि **गार्ग्य** का यह कथन तो ठीक है कि सभी शब्दों को 'धातुज' नहीं माना जा सकता। केवल वे शब्द जिसमें स्वर और संस्कार सुसंगत हों तथा शब्द के अर्थ में विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से युक्त हो, 'आख्यातज' मानना उचित है। सभी शब्दों के लिए यह कहना कि वे 'धातुज' ही है—वे सीधे धातु से बने हुये हैं, दुस्साहस मात्र है। क्योंकि शब्द की निष्पत्ति में अनेक कारण और तत्व काम करते दिखाई देते हैं, तथा देश, काल और वातावरण आदि के भेद से शब्द के रूप, ध्वनि तथा अर्थ में निरन्तर अनेकानेक परिवर्तन होते रहते हैं। यह भाषा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शब्द न जाने कब कितने वर्ष पूर्व किस रूप में अपनी प्राथमिक सत्ता में आये यह कह सकना किसी के लिये भी असम्भव कार्य है। यदि उणादि कोष, जैसे ग्रन्थों का सहारा लेकर सब शब्दों को धातुज सिद्ध करने का प्रयास किया जायगा तो वह शब्दों के रूप और उनके अर्थ के साथ एक खिलवाड़ मात्र होगा—यह उसी प्रकार एक उपहास्यास्पद कल्पना होगी जिस प्रकार किसी सिर फिरे वैयाकरण ने 'मुल्क', 'मियां', मौलाना, शब्दों की सिद्धि में 'मा' (माने) धातु 'डुल्क', 'डिंया', 'डौलाना', प्रत्ययों की कल्पना की थी।

उणादि से प्रत्यय किया डुल्क डिंया डौलाना।
मा धातु के साथ दिया मुल्क मियां मौलाना॥

इस बात को स्वयं यास्क ने भी उत्तर पक्ष में 'सन्त्यल्प प्रयोगाः कृताः' ('धातुज' या 'यौगिक' शब्द बहुत थोड़े हैं) यह कहकर स्वीकार किया है।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि गार्ग्य की ओर से शाकटायन तथा नैरुक्तों के सिद्धान्तों पर जो आक्षेप किये गये वे सर्वथा उचित हैं। पहले तथा दूसरे आक्षेपों में जो बात कही गई उसका यास्क द्वारा दिया गया उत्तर ठीक ही है। क्योंकि शब्दों का एक विशिष्ट वर्ग के लिये प्रयोग या दूसरे शब्दों में सभी शब्दों का उस कार्य को करने वाले सभी व्यक्तियों के लिये प्रयोग न करना अथवा एक व्यक्ति जितने काम करता है उन सब कार्यों की दृष्टि से एक व्यक्ति को अनेक नामों से युक्त न करना सरलता तथा स्पष्टता की दृष्टि से उचित ही है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि अनेक शब्द उस-उस व्यक्ति विशेष की उन-उन विशिष्ट क्रियाओं या स्वयं उनकी विशेषताओं के आधार पर उस-उस व्यक्ति के नाम के रूप में आविष्कृत हुये हैं तथा आजकल भी आविष्कृत होते रहते हैं। यह बात भी अस्वाभाविक नहीं है कि मूलतः बहुत से शब्द पहले 'धातुज' रहे हों। परन्तु बाद में उनमें पर्याप्त एवं अकल्पनीय परिवर्तन हो गया हो जिसकी ओर आज हमारा ध्यान भी न जा सके। स्वर और संस्कार से सुसंगत होने की जहाँ तक बात है उसे भी सर्वथा उचित कसौटी नहीं माना जा सकता। क्योंकि एक तो बहुत प्राचीन शब्दों के लिये अपेक्षाकृत बहुत बाद में निर्धारित व्याकरण के नियमों पर कसना और खरे न उतरने पर उन्हें 'अधातुज' करार देना बहुत स्वाभाविक नहीं है दूसरे जिन शब्दों की सिद्धि व्याकरण करता है। उनमें भी बहुत से शब्दों की सिद्धि में वैयाकरणों के जिस प्रकार अनेक स्थलों पर 'आगम', 'आदिलोप', 'अन्तलोप', 'उपधालोप', 'उपधाविकार', 'वर्णविकार', 'आदिविपर्यय', 'अन्तविपर्यय' इत्यादि अनेकविध कल्पनायें की हैं, जो यह मानने के लिये बाध्य करती हैं कि व्याकरण के नियम कितने अविश्वसनीय और संदिग्ध हैं। इसीलिये शब्दों की परीक्षा में एकमात्र उन्हें ही कसौटी मानकर चलना उचित नहीं है। अतः नैरुक्त 'संस्कार' की बहुत परवाह नहीं करता—'न संस्कारम् आद्रियेत, (निरुक्त २/१)।

॥ इति चतुर्थः पादः ॥

पञ्चम पाद

निरुक्त वेदार्थ के ज्ञान में सहायक

मूल—अथापि इदम् अन्तरेण—मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते । अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः । तद् इदं विद्या-स्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्, स्वार्थ-साधक च ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त इस (निरुक्त) के अध्ययन के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता । तथा अर्थ को न जानने वाले व्यक्ति को (शब्दों के) स्वर और संस्कार का अत्यधिक (अच्छी प्रकार) निर्णय नहीं हो सकता । इस रूप में यह (निरुक्त) ज्ञान का स्रोत है, व्याकरण की पूर्णता है तथा स्वार्थ (मन्त्रों की व्याख्यान) का भी साधक है ।

व्याख्या—यहाँ 'अथापि' शब्द समुच्चय के अर्थ में है तथा यह सूचित कर रहा है कि यहाँ निरुक्त का एक प्रयोजन प्रस्तुत किया जा रहा हैं ।

पहले यह कहा जा चुका है कि गार्ग्य को छोड़कर अन्य सभी नैरुक्तों का यह सिद्धान्त है कि सभी शब्द धातुज है । यह कथन ही इस बात को बताता है कि निरुक्त का एक प्रयोजन यह है कि वह सभी कठिन वैदिक शब्दों का निर्वचन बताये । इस पूर्व निर्दिष्ट प्रयोजन की दृष्टि से ही यास्क ने यहाँ 'तथापि' का प्रयोग किया है । अभिप्राय यह है कि निरुक्त के अध्ययन का प्रथम प्रयोजन यह है कि उसके अध्ययन से दुरूह वैदिक शब्दों के निर्वचन में सहायता मिलती है । दूसरा प्रयोजन यह है कि निर्वचन के द्वारा वैदिक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान होता है ।

'अथापि के पश्चात् प्रयुक्त 'इदम्' का अर्थ है यह 'निरुक्त शास्त्र' । अर्थात् निरुक्त शास्त्र के अध्ययन के बिना—इस शास्त्र में निपुणता प्राप्त किये बिना मन्त्रों में निहित विविध अर्थों का ज्ञान नहीं होता । निरुक्त में इस 'निरुक्त ग्रन्थ' के लिये भी 'निरुक्त' शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता ।

जब तक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता तब तक उनमें प्रयुक्त कठिन शब्द के स्वर और संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय आदि) का 'उद्देश' अर्थात् निर्धारण करना बहुत कठिन होगा। यह ठीक है कि स्वर तथा संस्कार के ज्ञान से शब्द के अर्थ का निर्णय होता है पर यह बात भी काफी हद तक ठीक है कि स्वर तथा संस्कार की ठीक ठीक कल्पना तभी हो सकती है जब कि मन्त्र के अर्थ आदि का कुछ ज्ञान हो। क्योंकि एक ही शब्द एक ही प्रसङ्ग में दूसरे प्रकार के स्वर तथा संस्कार को अपना सकता है तथा उससे भिन्न प्रसङ्ग में दूसरे स्वर तथा संस्कार से युक्त पाया जा सकता है। यहाँ 'अप्रतियतः' शब्द 'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'इ' धातु से 'शतृ' प्रत्यय और उसके बाद 'नञ्' समास करके षष्ठी विभक्ति एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

इस रूप में मन्त्रों के अर्थ के ज्ञान में सहायक होने के कारण निरुक्त को विद्या अर्थात् वेद-विद्या (वैदिक ज्ञान) का 'स्थान' कहा गया है। वेद के मन्त्र ज्ञान के महान् स्रोत हैं—आगार हैं। और मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में निरुक्त सहायक है इसलिये इसको भी 'विद्यास्थान' मानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त व्याकरण की परिपूर्णता भी निरुक्त के अध्ययन से ही होती है। क्योंकि व्याकरण तो केवल कुछ यौगिक या योगरूढ़ि शब्दों में प्रकृति प्रत्यय का प्रदर्शन करता है, जबकि निरुक्त सभी शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन, उनके निर्वचन की शैली बताता है तथा अनेक शब्दों के विविध निर्वचन भी प्रस्तुत करता है, वस्तुतः व्याकरण के सीमित नियमों का यहाँ बहुत ही व्यापक क्षेत्र में उपयोग किया जाता है। 'कात्स्न्र्यम्' शब्द 'कृत्स्नस्य भावः' इस अर्थ में 'कृत्स्न' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय करके निष्पन्न होगा। इसलिए इसका अर्थ है पूर्णता। पर इन प्रयोजनों के साथ-साथ निरुक्त स्वार्थ का भी साधक है, अर्थात् अपने प्रमुख प्रयोजन—वेदार्थ—का भी साधक है।

इस प्रकार निरुक्त सभी शब्दों के निर्वचन के उपाय बताकर व्याकरण को पूर्ण बनाता है तथा वेदार्थ में सहायक बनता है। इसीलिए निरुक्त वेदों का अंग अर्थात् वेदार्थ तक पहुँचने का सोपान माना गया।

1991

कौत्स्य के मत में वेद-मन्त्र अर्थ-रहित हैं

मूल– यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय, अनर्थक भवति इति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः। तद् एतेनोपेक्षितव्यम्। नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्ति।

अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते—उरु प्रथस्व (यजुर्वेद १/२१) इति प्रथयति, प्रोहाणि इति प्रोहति।

अथापि अनुपपन्नार्थाः भवन्ति—ओषधे त्रायस्व एनम् (तैत्तिरीय संहिता १/२/१/१), स्वधिते मैनं हिंसी (यजुर्वेद ४/१) इत्याह हिंसन।

अथापि विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति—एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः, असंख्याता सहस्त्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् (यजुर्वेद १६/५४)। अशत्रुर इन्द्र जज्ञिषे (ऋ० वे० १०/१३३/२), शत सेना अजयत् साकम् इन्द्रः ऋ० वे० १०/१०३/१) इति।

अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति—अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि (तै० सं० ६/३/७/) इति।

अथापि आह अदितिः सर्वमिति-अदितिर् द्यौर अदितिर अन्तरिक्षम् (ऋ० वे० १/८९/१०) इति। तद उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

अथापि अविस्पष्टार्थाः भवन्ति—'अम्यक्' (द्र० ऋ० वे० १/१६९/३) 'यादृश्मिन्' (द्र० ऋ० वे० ५/४४/८), 'जारयायि' (द्र० ऋ० वे० ६/१२/४) 'काणुका' (द्र० ऋ० वे० ८/७७/२)

अनुवाद—यदि मन्त्रों के अर्थ ज्ञान के लिए (निरुक्त) है तो वह अनर्थक है। क्योंकि मन्त्र अनर्थक हैं—'यह कौत्स का मत है। उस मत की इसमें (निरुक्त) के द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। (कौत्स के मत की पुष्टी मे निम्न हेतु दिए गए हैं।)—

१—(मन्त्र) शब्दों की नियत योजना वाले तथा निश्चित क्रम वाले होते हैं।

२—ब्राह्मण (के वाक्यों) द्वारा (मन्त्र) अर्थ युक्त बनाये जाते हैं। (जैसे) 'उरु प्रथस्व' इस (मन्त्र) से फैलता है, 'प्रोहाणि' इस (मन्त्र) से आगे बढ़ाता है।

३—(मन्त्र) असंगत अर्थ वाले होते हैं। (जैसे) ओषधे त्रायस्व एनम्—(हे ओषधे (कुश) तुम इस वृक्ष) की रक्षा करो), स्वधिते मैनं हिंसीः (हे स्वधिते।) (कुल्हाड़ी) तुम इस (वृक्ष) की हिंसा मत करो)। इन (मन्त्रांशों) का प्रयोग (यजमान) वृक्ष को काटते हुए करता है।

४—(मन्त्र) विरोधी अर्थ वाले होते हैं। (जैसे) एक एव रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयः—रुद्र एक ही था दूसरा नहीं, 'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्, हजारों और असंख्य रुद्र जो भूमि पर हैं। (इसी प्रकार) अशत्रुर इन्द्र जज्ञिषे—हे इन्द्र तुम शत्रु रहित उत्पन्न हो। शतं सेना अजयत् साकम् इन्द्रः—सैकड़ों सेनाएँ इन्द्र ने एक साथ जीत लीं।

५—(मन्त्र) जानने वाले को (विधि) बताता है। (जैसे) अग्नये समिध्यमानाम अनुब्रूहि—अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर अनुवाक्या (मन्त्रों) के पाठ करो।

६—(मन्त्रों में ऋषियों ने) यह कहा है कि अदिति ही सब कुछ है—'अदितिर् द्यौर अदितिर् अन्तरिक्षम्'—अदिति द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है, इत्यादि। इस (मन्त्र) की व्याख्या आगे करेंगे।

७—इसके अतिरिक्त (मन्त्र के अनेक शब्द) अस्पष्ट अर्थ वाले हैं। (जैसे)—'अम्यक्' 'यादृश्मिन्' 'जारयायि' 'काणुका'।

व्याख्या—निरुक्त का मुख्य प्रयोजन मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करना है, इस बात को ऊपर—'इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते' तथा 'स्वार्थ-साधकं च' इन शब्दों में दो बार कहा गया। परन्तु कौत्स का विचार है कि मन्त्र अनर्थक हैं। उनका महत्व केवल उनके पाठ मात्र में ही है तथा उनके उच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट है। इसलिये कौत्स के अनुसार जब मन्त्र अनर्थक हैं, तो मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान की दृष्टि से प्रणीत निरुक्त-शास्त्र भी अनर्थक सिद्ध हो जाता है। अतः निरुक्त के प्रणेता के लिये आवश्यक है कि वह इस बात की परीक्षा करें कि क्या सचमुच मन्त्र अनर्थक हैं। इस दृष्टि से यास्क ने कौत्स के सात हेतुओं को पूर्व पक्ष के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है, जिनमें मन्त्रों की अनर्थकता सिद्ध की गई है।

प्रथम—भारतीय परम्परा यह मानती है कि वैदिक मन्त्रों में जहाँ जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है सदा उन्हीं शब्दों का उच्चारण होगा उनके स्थान पर पर्यायों का प्रयोग नहीं हो सकता जैसे—'अग्निम् ईळे पुरोहितम्' के स्थान पर

'वह्नि स्तौमि पुरोहितम्' का उच्चारण नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि मन्त्रों में शब्दों का, यहाँ तक की वर्णों का क्रम भी सुनिश्चित है। उनमें अक्षर भी इधर से उधर नहीं किया जा सकता है। जैसे 'अग्निम् ईळे पुरोहितम्' के स्थान पर 'ईळे अग्नि पुरोहितम्' जैसे वाक्य का प्रयोग नहीं हो सकता। मन्त्रों के सम्बन्ध में अति प्राचीन काल में चले आ रहे ये दोनों नियम इस बात को बताते हैं कि इन मन्त्रों का अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि अर्थ से सम्बन्ध होता तो शब्दों के स्थान पर उनके पर्यायों का प्रयोग या शब्दों के क्रम में परिवर्तन भी उसी प्रकार सम्भव होता है जिस प्रकार, लौकिक संस्कृत या अन्य भाषा के वाक्यों में ये दोनों बातें सम्भव हैं। मीमांसा दर्शन के मन्त्राधिकरण में भी मन्त्रानर्थक्य का यह सिद्धान्त पूर्व पक्ष के रूप में कौत्स का नाम लिये बिना ही प्रस्तुत किया गया है वहाँ इस हेतु को 'वाक्यनियमात्' (१।२।३२) इस सूत्र के द्वारा द्वितीय हेतु के रूप में प्रकट किया गया है।

द्वितीय—ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से भी मन्त्रों के अर्थहीन होने का पता लगता है। ऐतरेय, शतपथ इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों का विभिन्न यज्ञीय कार्यों में विनियोग किया गया है जैसे दर्श तथा पौर्णमास यागों के लिये जब अध्वर्यु पुरोडाश (एक हवि विशेष) तैयार करता है तो उस अवसर के लिए शतपथ ब्राह्मण ने यह विधान किया है कि अध्वर्यु **'उरु प्रथस्व उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्'** इस मन्त्र को बोलकर पुरोडाश को फैलाये। 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इस वाक्य में 'इति प्रथयति' यह ब्राह्मण का वाक्य है, जिसमें यह कहा गया है कि उपर्युक्त मन्त्र को बोलकर अध्वर्यु पुरोडाश को फैलाता है। यहाँ मन्त्र का अर्थ है (हे पुरोडाश) तुम फैलो (जिससे) तुम्हारा यज्ञपति (यजमान) भी (धनधान्य की दृष्टि से) फैले—सम्पन्न हो। यदि मन्त्रों का अर्थ होता तो 'अध्वर्यु', जो इस मन्त्र को बोलता है, मन्त्र के अर्थ से ही यह जान लेता कि इसके द्वारा पुरोडाश को फैलाना चाहिये, चूंकि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता इसलिये ब्राह्मण-ग्रन्थ में 'इति प्रथयति' कहना पड़ा।

इसी प्रकार अग्निष्टोम याग में द्रोणकलश (वह घड़ा, जिसमें सोमरस भरा होता है) एक छोटी गाड़ी पर रखा जाता है, जिसमें इन्द्र के दो घोड़े जुतते हैं,

जिसके कारण इस गाड़ी को 'हरि योजन' कहा जाता है, इन्द्र के ये दो घोड़े 'ऋक्' तथा 'साम' या दूसरे शब्दों में 'शस्त्र' तथा 'स्तोत्रिय' हैं, जिनका पाठ क्रमशः 'होता' और 'उद्गाता' करते हैं। इस छोटी गाड़ी के पास ही एक बड़ी गाड़ी होती है जिस पर यज्ञीय अन्न रखा होता है। इस छोटी गाड़ी को बड़ी गाड़ी के समीप ढकेल कर लाया जाता है। परन्तु ढकेलने से पूर्व 'उद्गाता' 'प्रोहाणि ?' यह कह कर गाड़ी को धक्का देने के लिये 'होता' से आज्ञा लेता है और जब 'होता' से वैसा करने का आदेश मिल जाता है, तब 'उद्गाता' उस छोटी गाड़ी को आगे ढकेलता है और ढकेलते हुये 'इदम् अहम् आत्मानं प्राञ्चं प्रोहामी तेजसे ब्रह्मवर्चसाय इस मन्त्र का पाठ करता है। यहाँ भी 'प्रोहाणि इति प्रोहति' इस वाक्य में 'प्रोहाणि' यह मन्त्र का अंश है तथा 'इति प्रोहति' यह ब्राह्मण का वाक्य है', जिसमें गाड़ी को ढकेलने का विधान किया गया है। द्र०— प्रो० राजवाड़े (पृ० २६९--७०)। यदि मन्त्र का 'प्रोहाणि' पद सार्थक है तो उतने से ही 'उद्गाता' को यह पता लग जाना चाहिये था कि इससे मुझे प्रोहण करना है। मीमांसक में 'तदर्थ शास्त्रात्' (१/२/३१) सूत्र द्वारा इसी बात को प्रथम हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय—कुछ मन्त्र अनुपम अर्थात् असंगत अर्थ वाले दिखायी देते हैं। अभिप्राय यह है कि यज्ञ के जिन कार्यों में उन मन्त्रों का विनियोग किया गया है, उन कार्यों की दृष्टि से वे मन्त्र असगत प्रतीत होते हैं। जैसे जब यजमान यूप के लिये वृक्ष काटने से पहले कुल्हाड़ा मारने के स्थान पर कुश नामक तृण रखकर "ओषधे त्रायस्व एनम्' हे ओषधे अर्थात् तृण तुम इस वृक्ष की रक्षा करो इस मन्त्र को बोलता है तथा इसके साथ ही 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (हे वज्र अर्थात् कुल्हाड़े तुम इसे मत काटो) मंत्रांश को भी बोलता है। यदि संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के ये विनियोग सत्य हैं तो यह मानना पड़ेगा कि मन्त्रो के अर्थों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है या दूसरे शब्दों में अनर्थक हैं। क्योंकि एक तरफ तो यजमान काटने जा रहा है और दूसरी तरफ जिन मन्त्रों का उच्चारण कर रहा है, वे रक्षा और अहिंसा (न काटने) की बात कह रहे हैं। इन दोनों बातों की संगति तब तक नहीं लग सकती जब तक मन्त्रों को अर्थहीन न माना जाय। मीमांसा-दर्शन में 'अचेतने अर्थ-सम्बन्धात्' (१/१/३५)

सूत्र के द्वारा इस हेतु को प्रस्तुत किया गया है तथा यह कहा गया है कि मन्त्रों में अचेतनकुश तथा कुल्हाड़े आदि से प्रार्थना की गई है, इसलिये मन्त्र अनर्थक हैं।

टिप्पणी— मैत्रायणी संहिता में यह कहा गया है कि **'ओषधे त्रायस्व एनम्'** यह अंश वृक्ष की रक्षा के लिये कहा गया है तथा कुल्हाड़ा जिसका दूसरा नाम **'स्वधिति'** अर्थात् 'वज्र' है उसके तथा पेड़ के बीच में दर्भ (कुश) इसलिये रखा जाता है कि कुल्हाड़े से उसकी रक्षा हो—हिंसा न हो। द्र०—**ओषधे त्रायस्व एनम् इत्याह त्रात्यै एव 'स्वधिते मैनं हिंसी.' इति। वज्रो वै स्वधितिः वज्राद् वाव अस्मै एतद् अन्तर्दधाति अहिंसायै** (३/९/३)। काठक संहिता में इस प्रसङ्ग में यह कहा गया कि कुश जो वृक्ष के काटने के स्थान पर रखा गया है वह वृक्ष के परित्राण के लिए, कवच का काम करता है। द्र०—**औषधे त्रायस्व एनम्। वर्म एव करोति। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इति। वज्रो वै स्वधितिः। अहिंसायै** (२६/३)।

चतुर्थ—इसके अतिरिक्त परस्पर विरोधी अर्थ वाले मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र **'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः'**—तो यह कहता है कि 'रुद्र एक ही है—दूसरा है ही नहीं। जबकि दूसरा मन्त्र **असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्**—यह कहता है कि—'रुद्र तो हजारों हैं यहाँ तक कि उनकी गणना असम्भव है'। इसी प्रकार एक मन्त्र—**अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे**:—में यह कहा गया है कि 'इन्द्र का कोई भी शत्रु है ही नहीं—वह तो शत्रु रहित पैदा हुआ है', जबकि एक दूसरे मन्त्र—**शतं सेना अजयत् साकम् इन्द्रः**—में यह कहा गया है कि 'इन्द्र ने शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को एक साथ जीत लिया'। इस तरह की परस्पर विरोधी बातें भी यह मानने के लिये बाध्य करती है कि मन्त्रों को अर्थ रहित मानना ही चाहिये।

पञ्चम—'अध्वर्यु यज्ञ कुण्ड में आग जला रहा है। आग जल जाने के बाद वह 'होता' को 'सम्प्रैष' (आदेश) देता है कि अब आग जल गई है इस 'समिध्यमान' (प्रदीप्त) अग्नि के लिये तुम 'सामिधेनी ऋचाओं का पाठ करो—'**अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि**'। इन सामिधेनी ऋचाओं के पाठ के लिये ही यहाँ

'अनुब्रूहि' इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया गया। निरुक्त के वाक्य में 'सम्प्रेष्यति' पद का अर्थ है 'आदेश देता है—प्रेरणा देता है'।

यह प्रश्न यह है कि 'अध्वर्यु को होता' के लिये इस 'सम्प्रेष' वाक्य (आदेश वाक्य) को कहने की क्या आवश्यकता पड़ी कि अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर 'होता' सामिधेनी ऋचाओं का पाठ करे? जबकि स्वयं 'होता' ही एक ऋत्विज है तथा उसे इस बात का अच्छी तरह ज्ञान है कि आग के प्रदीप्त हो जाने पर सामिधेनी ऋचाओं का पाठ किया जाना चाहिये। इस प्रकार के अनर्थक 'सम्प्रेष' वाक्यों से भी यह स्पष्ट है कि मन्त्र अर्थहीन हैं। मीमांसा-दर्शन में इस हेतु को 'बुद्धशास्त्रात्' (१/२/३२) सूत्र के द्वारा तीसरे हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

षष्ठ—एक मन्त्र में अदिति को द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव, पञ्चजन, जात तथा जनित्व (जनिष्यमाण)—इस रूप में सब कुछ कह दिया गया है। वह मन्त्र है—

अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातम् अदितिर् जनित्वम्॥

यह भला कैसे सम्भव है कि एक ही देव द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, इत्यादि सभी कुछ हो जाय। इस मन्त्र की व्याख्या यास्क ने चौथे अध्याय के चतुर्थ पाद में की है। मीमांसा दर्शन में इस बात को 'अर्थविप्रतिषेधात्' (१/२/३६) सूत्र के द्वारा छटे हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम्—इसके अतिरिक्त मन्त्रों के अनेक शब्द सर्वथा अस्पष्ट अर्थ वाले हैं। जैसे—'अम्यक्', 'यादृश्मिन्', 'जारयायि', 'काणुका' इत्यादि। इस प्रकार सर्वथा अस्पष्ट शब्द जिन मन्त्रों में विद्यमान हैं उनका अर्थ स्पष्ट रूप में कैसे जाना जा सकता है। अतः वेद-मन्त्रों को अर्थ रहित मानकर तथा केवल उनके पाठ या उच्चारण का ही एक प्रकार का अदृष्ट प्रयोजन (या धर्म) उत्पन्न होता यह मानकर ही इन उपर्युक्त हेतुओं का समाधान सम्भव है। मीमांसा में इस हेतु को 'अविज्ञात्' (१/२/३८) इस सूत्र के द्वारा प्रस्तुत किया गया है तथा अविज्ञेय एवं अस्पष्टार्थक मन्त्रों के उदाहरण के रूप में **'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी'** (ऋ० ८/६/६) इस मन्त्र को उद्धृत किया गया है।

टिप्पणी—इस प्रसङ्ग में यथावसर कौत्स के हेतुओं के साथ-साथ तुलना के लिये मीमांसा दर्शन में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत हेतुओं को भी उद्धृत किया गया।

परन्तु मीमांसा के इस प्रकरण में कुछ और भी हेतु मिलते हैं जिनका उल्लेख निरुक्त में नहीं हुआ है। संभवतः निरुक्तकार की दृष्टि में उनका समावेश उन उपर्युक्त हेतुओं में ही हो जाता है वे, हेतु हैं—'अविद्यमान वचनात् अर्थात् मन्त्रों में ऐसे वस्तुओं या प्राणियों का उल्लेख है जो इस संसार में कहीं भी दिखाई नहीं देते। जैसे—चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा०' (ऋ० वे० ४/५/५८) इस मन्त्र में एक ऐसे बैल का वर्णन है जिसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ हैं। ऐसा बैल कहीं देखने में नहीं आता। 'स्वाध्यायवद् अवचनात् अर्थात् जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में यह कहा गया कि 'स्वाध्याय' (वेद का अध्ययन पाठ करना चाहिये उसी प्रकार कहीं यह नहीं कहा गया कि वेद के मन्त्रों का अर्थ भी जानना चाहिये। 'अनित्यसंयोगात् मंत्रानर्थक्यम्' अर्थात् मत्रों का अर्थ स्वीकार करने पर उनका सम्बन्ध अनित्य वस्तुओं से हो जाता है'। जैसे—किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः (कीकट देश में गाय तुम्हारा क्या बिगाड़ती हैं) इस मन्त्र में अनित्य कीकट आदि स्थानों तथा अनित्य गायों के सम्बन्ध का पता लगता है। इसलिये यदि यह माना गया कि मन्त्र सार्थक हैं तो इस अनित्य सम्बन्ध के कारण मन्त्रों तथा मन्त्रों के समूह वेद को भी अनित्य मानना पड़ेगा।

JT 1992

'मन्त्र सार्थक हैं' इस मत का प्रतिपादन

मूल—अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियामाणम् ऋग् यजुर् वा अभिवदतीति (गोपथ ब्राह्मण २/२/६) इति च ब्राह्मणम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर् नप्तृभिः (ऋ० वे० १०/६५/४२) इति।

अनुवाद—(वैदिक तथा लौकिक वाक्यों में) शब्दों की समानता के कारण (वेदों के मन्त्र भी) अर्थवान्। ब्राह्मण (ग्रन्थों) में यह कहा गया है कि—'यज्ञ रूप से समृद्ध होता है···(अर्थात् यज्ञ में) किये जाते हुए कर्म को ऋक् तथा यजुष् का मन्त्र कहता है—यह यज्ञ की पूर्णता है'। जैसे—विवाह के अवसर

प्रयुक्त वह मन्त्र) 'क्रीळन्तौ पुत्रैर् नप्तृभिः' (हे दम्पती तुम दोनों पुत्रों तथा पोत्रों के साथ क्रीडा करते हुए)।

व्याख्या—कौत्स के मत में—'मन्त्र अनर्थक हैं'—का खण्डन करने से पूर्व यास्क ने इन पंक्तियों में यह प्रतिपादन किया है कि मन्त्र सार्थक होते हैं अनर्थक नहीं। मन्त्रों की सार्थकता के प्रतिपादन के लिए यहाँ दो हेतु दिये गये हैं।

पहले हेतु को 'अर्थवन्तः शब्द-सामान्यात्' इस वाक्य से प्रस्तुत किया गया जो एक दम सूत्र-शैली में निबद्ध जान पड़ता है। इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि लौकिक संस्कृत भाषा तथा वैदिक भाषा के शब्दों में पूरी समानता है। समानस्य भाव सामान्यम्। शब्दानां सामान्यं शब्द-सामान्यम्। तस्मात् शब्द-सामान्यात्। आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति के द्वारा लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'गौर् गच्छति' आदि शब्द किसी विशेष अर्थ को निश्चित रूप से प्रकट करते हैं। वे ही 'गो' इत्यादि सार्थक शब्द वेदों में भी प्रयुक्त हैं, फिर वे अनर्थक कैसे हो सकते हैं? इसलिए जहाँ तक सार्थकता का सम्बन्ध है लोक तथा वेद दोनों में व्यवहृत या प्रयुक्त शब्द समान है। इसलिए यदि शब्द लोक में प्रयुक्त होकर किसी विशेषता को प्रकट कर सकते हैं तो वेद में ऐसा वे क्यों नहीं कर सकते? 'तेषां मनुष्यवद् देवता भिधानम्' यास्क के इस वाक्य तथा 'य एव लौकिका शब्दास्त एव वैदिकास्त एव च तेषाम् अर्थाः' मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत इस वाक्य में भी इस तथ्य का उल्लेख किया गया है जिनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

दूसरा हेतु यास्क ने यह दिया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ आदि कार्यों की पूर्णता तभी मानते हैं यदि यज्ञ में की जा रही क्रियाओं तथा विधियों का समर्थन ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के मन्त्र करते हों। अभिप्राय यह है कि यज्ञ की उन-उन क्रियाओं को करते हुए जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जा रहा है यदि उन मन्त्रों में भी, उस समय होने वाली, क्रियाओं का उल्लेख या संकेत हो तभी यज्ञ की वे क्रियायें तथा विधियाँ, यज्ञ के वे अंग अथवा दूसरे शब्दों में स्वयं यज्ञ सार्थक माना जायगा—सफल माना जायेगा तथा—उससे अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकेगी। इसके विपरीत यदि किसी यज्ञ में उच्चरित अथवा

विनियुक्त मन्त्रों में उन क्रियाओं का उल्लेख नहीं मिलता तो उस यज्ञ को अपूर्ण मानना चाहिये तथा ऐसे यज्ञ से किसी प्रकार की सफलता की आशा नहीं की जानी चाहिये।

'समृद्धम्' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'ऋध्' धातु से 'भाव' में 'क्त' प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। अतः इसका अर्थ है 'समृद्धि'। 'रूप समृद्धि' शब्द में 'रूप' का तात्पर्य है 'सुसंगत-मन्त्र' अर्थात् यज्ञ में हो रही क्रिया अथवा विधि को बतलाने वाले मन्त्र। इस प्रकार के मन्त्रों से समृद्ध होना 'रूप-समृद्धि' है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ की समृद्धि-सफलता तभी संभव है जब वे 'रूप' से समृद्ध हों अर्थात् उनमें ऐसे मन्त्रों का विनियोग हो जो उनमें हो रही क्रिया को कहते हों। 'रूप-समृद्ध' शब्द के इस आशय को स्वयं गोपथ ब्राह्मण के— कर्म क्रियमाणम् ऋगयजुर्वाऽभिवदति ये शब्द ही स्पष्ट कर रहे हैं। इस अंश का अन्वय है—तत् क्रियमाणं कर्म ऋग् यजुर्वा अभिवदति। स्पष्ट अर्थ यह है कि किये जा रहे कार्य का ऋग्वेद आदि के मन्त्रों द्वारा कहा जाना ही 'रूप-समृद्ध' (रूप से समृद्धि) शब्द का अभिप्राय है। यहाँ जिस प्रकार सुसंगत' या 'सुसम्बद्ध' के अर्थ में 'रूप' शब्द का प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में ब्राह्मणग्रन्थों में 'अभिरूपा' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। द्र०—ऐतरेय ब्राह्मण (३/५)।

ब्राह्मण ग्रन्थों के इस कथन को स्पष्ट करने के लिये विवाह संस्कार में विनियुक्त और बोले जाने वाले एक मन्त्र को यास्क यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह मन्त्र है—

इहैव स्तं मा वि योष्ट विश्वम् आयुर् व्युश्नुतम्।
क्रीडन्तो पुत्रैर् नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ (ऋ० वे० १०/८५/४२)

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि दम्पत्ति तुम दोनों यहीं रहो, नियुक्त मत होओ, अपने घर में पुत्रों तथा पौत्रों के साथ खेलते हुये तथा प्रसन्न होते हुए सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करो। अपने इस अर्थ के द्वारा यह मन्त्र उसी भाव की पुष्टि कर रहा है जो पूरे विवाह-संस्कार में व्याप्त है। इसलिये ऐसे मन्त्रों के उच्चरित होने पर ही विवाह-यज्ञ सफल समझा जायेगा।

इस प्रकार चूंकि ब्राह्मण ग्रन्थ यह कहते हैं कि यज्ञ की सम्पूर्णता या सफलता तभी सम्भव है यदि यज्ञ में किये जा रहे क्रिया-कलापों को वेद के मं

भी कहते हों,' इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थों के इस कथन से भी यह प्रमाणित होता है कि मन्त्रों का अर्थ होता है—वे सार्थक हैं—अनर्थक नहीं।

कौत्स की युक्तियों का खण्डन

मूल—यथो एतत् 'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्ति इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा 'इन्द्राग्नी', 'पितापुत्रौ' इति।

यथो एतद् 'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते' इति, उदितानुवादः स भवति।

यथो एतद् 'अनुपपन्नार्थाः भवन्ति' इति, आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतीयेत।

यथो एतद् 'विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति', इति, लौकिकेष्वप्येतत्। यथा—'असपत्नोऽयं' 'ब्राह्मण.', 'अनमित्र राजा' इति।

यथो एतद् 'जानन्तं सम्प्रेष्यति' इति जानन्तम् अभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राह।

यथो एतद् 'अदितिः सर्वम्' इति, लौकिकेष्वप्येतत्। यथा—सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम् इति।

यथो एतद् 'अविस्पष्टार्थाः भवन्ति' इति, नैष। स्थाणोर् अपराधो यद् एनम् अन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।

अनुवाद—जो यह (कहा गया) कि '(मन्त्रों में) शब्दों की योजना तथा क्रम नियत हैं (इसलिये मन्त्र अनर्थक हैं)' यह तो लौकिकों (संस्कृत आदि भाषाओं) में भी (देखा जाता) है। जैसे—'इन्द्राग्नी', 'पितापुत्रौ'।

जो यह (कहा गया) कि 'ब्राह्मण (मन्त्रों को) रूप (अर्थ या प्रयोजन) से युक्त करते हैं' वह तो (मन्त्रों के द्वारा) कथित (बात) का अनुवाद (मात्र) है।

जो यह (कहा गया) कि '(मन्त्र)' असंगत अर्थ वाले हैं? वहाँ (वृक्ष के छेदन आदि क्रियाओं में) वेद के वचन से ही अहिंसा मान ली जानी चाहिये।

जो यह (कहा गया) कि '(मन्त्र)' विरोधी अर्थ वाले हैं,' तो ऐसे प्रयोग तो लोक में भी होते हैं। (जैसे या एक शत्रु होने पर भी) 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः

(यहा ब्राह्मण शत्रु रहित है) तथा 'अनमित्रोऽयं राजा' इस राजा का कोई शत्रु नहीं है' इत्यादि ।

जो यह (कहा गया) कि 'जानते हुए को सम्प्रेष्य (आदेश या प्रेरणा) दिया जाता है' तो (यह तो लौकिक भाषा में भी होता है) जैसे, जानते हुए (गुरु) को (अपना नाम बताकर शिष्य) अभिवादन करता है (यह मधुपर्क है इस बात को जानते हुए वर को) यह मधुपर्क है इसे (ग्रहण कीजिए इत्यादि) कहा गया है ।

जो यह (कहा गया) कि 'अदिति सब कुछ है, लौकिक (भाषाओं) में भी इस प्रकार का प्रयोग मिलता है । (जैसे—'सर्वरसा अनुप्राप्ता: पानीयम्' (पानी में सभी रस हैं) ।

जो यह (कहा गया) कि मन्त्रों के शब्द अविस्पष्ट अर्थ वाले हैं, तो यदि अन्धा खम्भे को नहीं देखता है तो यह खम्भे का दोष नहीं है अपितु यह (न देखने वाले अन्धे) पुरुष का दोष ।

व्याख्या—यास्क और सम्भवत: सभी नैरुक्त मन्त्रों को सार्थक मानते हैं। यदि मन्त्र अनर्थक हों तो फिर मन्त्रों के शब्दों का निर्वचन् इत्यादि करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती । इस रूप में निरुक्त में सारा प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है । इसलिये कोई भी नैरुक्त विद्वान् मन्त्रों को अनर्थक नहीं मान सकता । क्योंकि मंत्रों को अनर्थक मानने से उसके सम्प्रदान पर ही कुठाराघात होता है । इस कारण अनुमानत:, मन्त्रों को अनर्थक मानने वाला वह कौत्स याज्ञिक सम्प्रादय का आचार्य है जिसकी दृष्टि में वैदिक मन्त्रों की महत्ता उनके उच्चारण, अथवा दूसरे शब्दों में, यज्ञों में विनियोग मात्र में ही है जिससे एक विशेष अदृष्ट या अभ्युदय की प्राप्ति होती है ।

एक नैरुक्त होने के नाते यास्क का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने मत—'मन्त्र सार्थक है' का प्रतिपादन कर चुकने के पश्चात् मंत्रों की अनर्थकता के विषय में कौत्स के द्वारा प्रस्तुत किये गये आक्षेपों अथवा हेतुओं का खण्डन करें । इसी दृष्टि से यास्क ने संक्षिप्त शैली में निरुक्त में इन युक्तियों का खण्डन किया जिसे नीचे दिया जा रहा है ।

प्रथम हेतु में मन्त्रों में शब्दों की निश्चित योजना तथा क्रम की जो बात

कही गयी वह ठीक नहीं है क्योंकि लौकिक संस्कृत में भी अनेक ऐसे प्रयोग मिलते हैं जिसमें शब्द की योजना तथा क्रम दोनों ही निश्चित हैं। जैसे—'इन्द्राग्नि' 'पितापुत्रौ', 'मातापितरौ' इत्यादि शब्द। इन प्रयोगों में भी न तो शब्द बदले जा सकते हैं और न क्रम। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि शब्दों का क्रम परिवर्तन कर देने से ऋचाओं में छन्दोभंग का दोष भी उपस्थित हो सकता है। वस्तुत: किसी भी अच्छे कवि के काव्य की यह विशेषता होती है कि न तो उसमें शब्द बदले जा सकते हैं और न ही क्रम, जैसे कालिदास के किसी भी श्लोक में किसी प्रकार का परिवर्तन करना कवि के साथ अन्याय होगा।

दूसरे हेतु में जो यह कहा गया कि ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा मन्त्र 'रूप' अर्थात् 'अर्थ' या 'सामर्थ्य' से 'सम्पन्न' अर्थात् युक्त बनाये जाते हैं तो उसका उत्तर यह है कि वेद-मन्त्रों में जो बात कही गयी होती है उसी बात का ब्राह्मण वाक्य अनुवाद मात्र करते हैं—वे कोई नई बात नहीं करते। **उदितानुवादः भवतिः** का अर्थ है ऋचि उदितस्य (कथितस्य) अर्थस्य ब्राह्मणवाक्यैः अनुवादः स भवति। किसी बात का अनुवाद कर दिये जाने मात्र से अनुवाद्य अंश अनर्थक नहीं हो जाता।

तीसरे में जो बात कही गयी कि मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं उसका उत्तर यह है कि चूंकि ऐसा कहते हैं—विधान करते हैं—इसलिये लौकिक दृष्टि से प्रतीत होने वाली हिंसा भी वस्तुत: हिंसा नहीं—अपितु अहिंसा ही है क्योंकि भारतीय परम्परा में वेदों को जो स्वत: प्रामाण्य की स्थिति दी गई है उसको ध्यान में रखते हुए, क्या हिंसा है तथा क्या अहिंसा है इस प्रश्न का अन्तिम निर्णायक तो वेद को ही मानना होगा और याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार वेद के शब्दों में वृक्ष को काटते हुए यजमान यह प्रार्थना करता है कि 'हे ओषधे! तू इस वृक्ष की रक्षा कर' (**ओषधे त्रायस्व एनम्**,)' हे कुल्हाड़ी! तू इस वृक्ष को हिंसा मत कर' (**स्वधिते मैनं हिंसीः**)। यहाँ यज्ञ में काटे जाते हुए वृक्ष तथा मारे जाते हुए पशु इत्यादि की रक्षा का तात्पर्य स्वयं ब्राह्मणों में यह बताया गया है कि इन्हें विशेष अभ्युदय तथा स्वर्ग की प्राप्ति हो।

द्र०—पशुर् वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत् । स देवान् नान्वकामयत् एतुम् । तं देवा अब्रुवम् एहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमिष्याम: ऐतरेय ब्राह्मण (२/६) ।

स्कन्द आम्नाय वचनाद् अहिंसा प्रतियेत् को स्पष्ट करते हुए लिखता है—अत एव हि स्वर्गगमनार्थाद् आम्नायवचनाद् मृतस्य ही पशोः स्वर्गगमना भूयसोऽनुग्रहस्य निवृतेर् हिंसाऽप्येषा अहिंसैव प्रतीयते (स्कन्दभाष्य, भाग १, पृ० १०१) इस बात को मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति इस न्याय में कहा कहा गया है ।

टिप्पणी—यह सम्भावना पहले व्यक्त की जा चुकी है कि कौत्स याज्ञिक प्रक्रिया का आचार्य है इसीलिये कौत्स की ये द्वितीय तथा तृतीय युक्तियाँ याज्ञिक प्रक्रिया से ही सम्बद्ध हैं । निरुक्तकार यास्क ने भी याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से ही इन युक्तियों का उत्तर दिया है ।

चौथे आक्षेप में, जो यह कहा गया कि मन्त्र परस्पर विरोधी वाले हैं वह भी उचित नहीं है क्योंकि वैसी बात तो लौकिक भाषा के प्रयोगों में भी मिलती है । जिसके एक दो या बहुत कम शत्रु होते हैं उसके 'असपत्न' 'अनमित्र (शत्रु रहित) का प्रयोग किया जाता ही है । इसी दृष्टि से प्राचीन काल में युधिष्ठिर को कई बार युद्ध-भूमि में उतरना पड़ा तथा गांधी जी शत्रु की ही गोली से मृत्यु को प्राप्त हुए । ऐसे प्रयोगों में 'न' का अर्थ हो सकता है सापेक्षिक कल्पना—सर्वथा अभाव नहीं क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई नहीं हो सकता जिसके शत्रु या मित्र न हों । द्र०—

मुनेर् अपि वनस्थलस्य स्वानि कार्याणि कुर्वतः ।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ।। (दुर्ग टीका उद्धृत) ।

पाँचवे हेतु में जानने वाले 'होता' को 'सम्प्रेष' देने की जो बात कही गयी है वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि लौकिक व्यवहार में अनेक स्थलों पर जानने वाले को भी बताया ही जाता है । जैसे शिष्य जब गुरु को अभिवादन करता है तो गुरु शिष्य का नाम जानता है फिर भी शिष्य अपना नाम उच्चारण करके 'अभिवादये देवदत्तोऽहम्भोः इस रूप में अभिवादन करता है । (द्र० मनुस्मृति २/१२२) । इस प्रकार विवाह में वर को, जो कि यह जानता है कि यह सामने रखी हुई वस्तु मधुपर्क (दही, शहद तथा घृत मिश्रित भोज्य वस्तु) है तथा मुझे ही इसे खाना है फिर भी यह कहा ही जाता है कि यह मधुपर्क रखा हुआ है इसे आप खायें ('मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्') ।

छठे हेतु में जो एक मन्त्र में, अदिति को सब कुछ कहे जाने की बात कही गयी वह भी कोई दोष नहीं है क्योंकि लौकिक प्रयोगों में भी ऐसे अनेक काव्य या श्लोक मिलते हैं जिनमें इस प्रकार के भाव उपनिबद्ध मिलते हैं। जैसे यह कहा गया कि 'सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम्' अर्थात् पानी में सभी रस विद्यमान हैं। अथवा इसी प्रकार भक्ति की भावना से ओत-प्रोत भक्त भगवान से आज भी कह उठता है—

त्वम् एव माता च पिता त्वम् एव,
त्वम् एव बन्धुश्च सखा त्वम् एव।
त्वम् एव विद्या द्रविणं त्वम् एव,
त्वम् एव सर्वं मम देव देव: ॥

इसी प्रकार ऊपरी निर्दिष्ट मन्त्र में भी अदिति की महिमा के कारण ही उसे ही सब कुछ कह दिया गया।

सातवें आक्षेप में मन्त्रों के अनेक शब्दों के अस्पष्टार्थक होने की जो बात कही गयी है, वह तो कहने वाले का ही दोष है जिसे वे शब्द अस्पष्टार्थक प्रतीत होते हैं। इनमें उन शब्दों का क्या दोष है कि उन्हें अनर्थक मान लिया जाय? यदि किसी अन्धे को खम्भा न दिखाई दे तो इसमें खम्भे का क्या दोष है? यह तो उस अन्धे व्यक्ति की दृष्टिहीनता का दोष माना जायेगा। संस्कृत के किसी कवि ने निम्न पंक्तियों में दो एक सुन्दर उदाहरण इस दृष्टि से दिये हैं—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्?
नोलूको अवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किम् दूषणम्?
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्?

अतः इस प्रकार के शब्दों को अस्पष्टार्थक कह कर नहीं छोड़ देना चाहिये, अपितु विभिन्न उपायों से इस प्रकार के शब्दों के अर्थ को जानने का प्रयास किया जाना चाहिये। इसी बात को मीमांसा-दर्शन के 'सतः परम् अविज्ञानम्' (१/२/४९) सूत्र में भी प्रकट किया गया है, जिसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार शबर स्वामी ने कहा है—विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादालस्यादिभिर् नोपलभ्यते। निगम निरुक्त-व्याकरण वशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः। 'अभ्यक्', 'यादृश्मिन्', तथा

'जारयामि' इन शब्दों के अर्थ के विषय में यास्क ने निरुक्त ६/१५ तथा 'काणुका' के विषय में निरुक्त ५/११ में विचार किया है।

वैदिक मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिये-भूयोविद्य बनने की आवश्यकता

मूल—यथा जानपदीषु विद्यात: पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

अनुवाद—जिस प्रकार जनपद (देहात आदि) में रहने वाली (अनपढ़) जनता में (थोड़ी सी) विद्या से (भी कोई) पुरुष विशेष बन जाता है। परन्तु आगम परम्परा से (वेद के) ज्ञाता विद्वानों में (तो बहुत ज्ञान वाला) व्यक्ति ही मन्त्रार्थ को अच्छी तरह जानने के कारण प्रशंसा का पात्र बन पाता है।

व्याख्या—यास्क ने इस वाक्य में इस बात को स्पष्ट किया है कि वेदार्थ के क्षेत्र में उसी व्यक्ति को सफलता प्राप्त होती है जिसने अनेक विद्याओं का ज्ञान, मनन एवं पर्याप्त अभ्यास किया है तथा उनमें विशेष पौढ़ता प्राप्त की है। जिसने बार-बार वेदों का मनन एवं गहन अध्ययन किया है ऐसा परिनिष्णात विद्वान् ही प्रशंसनीय होता है। देहात की अनपढ या कम पढ़ी लिखी जनता में भले ही कोई व्यक्ति थोड़ी-सी विद्या पढ़कर भी पुरुष-विशेष बन सकता है, उनमें प्रतिष्ठित हो सकता है परन्तु विद्वानों में प्रतिष्ठित होने के लिये व्यक्ति को 'भूयोविद्य' अथवा विद्या का महान् धनी बनना पड़ेगा। ऐसे 'भूयोविद्य' एवं प्रतिभासमन्वित विद्वानों के लिये वेद के दुरूह शब्द भी सरल एवं स्पष्ट अर्थ वाले बन जाते हैं।

टिप्पणी—निरुक्त की इस पंक्ति में 'यथा' शब्द अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ कहीं भी 'यथा' शब्द का न तो प्रयोग हुआ है और न ही उसकी कोई संगति लगती है। 'जानपदीषु' का विग्रह है—'जनपदे भवा जनपदी' अर्थात् जनपद (देहात आदि) में रहने वाली जनता। दुर्ग तथा स्कन्द ने इस स्थल का अर्थ यह किया है कि जनपद में होने वाली शिल्प, चित्र-कर्म आदि क्रियायें। उनमें जिस प्रकार विद्या के द्वारा ही कोई पुरुष विशेष बन पाता है, जो परम्परा से उसे पढ़ता है तथा अभ्यास करता है वही इन शिल्प आदि

विद्याओं को अच्छी तरह जानता है। उसी प्रकार यहाँ भी जिस ने मन्त्रार्थ को अच्छी तरह से पढ़ा है तथा उसका अभ्यास किया है उसे कुछ भी अस्पष्ट नहीं प्रतीत होता और जो परम्परा से वेदार्थ को पढ़े हुए होते हैं उनमें जो बहुत अधिक ज्ञान वाला होता है, केवल वही प्रशंसनीय होता है। परन्तु यास्क की पंक्तियों में यह अभिप्राय प्रकट नहीं होता। यहाँ 'पारोवर्यवित्सु' के बाद जो 'तु' का प्रयोग हुआ है वह स्पष्टतः इस वैषम्य का द्योतक है कि देहाती जनता में तो सामान्य ज्ञान से भी व्यक्ति पुरुष विशेष बन जाता है परन्तु आगमवित् विशिष्ट ज्ञानियों में तो 'भूयोविद्य' ही प्रशंसनीय हो पाता है। 'पारोवर्यविदः' का विग्रह किया गया है—**परोर्यम् आगम-परम्परा तया ये विदन्ति ते पारोवर्यविदः तेषु पारोवर्यवित्सु**। अर्थात् आगम परम्परा या गुरु-परम्परा से अध्ययन करने वाले विद्वानों में। 'पारोवर्य' शब्द को भट्टोजि दीक्षित (सिद्धान्तकौमुदी ५/२/१०) ने, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार असाधु माना है। परन्तु यास्क के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इस प्रयोग की साधुता के लिये पाणिनीय व्याकरण की मोहर प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार मन्त्रों की सार्थकता का प्रतिपादन तथा मन्त्रों की अनर्थकता के सिद्धान्त का खण्डन कर देने से वैदिक मन्त्र सार्थक हैं, यह बात प्रमाणित हो जाती है तथा मन्त्रों के सार्थक हो जाने से इस निरुक्त शास्त्र की सार्थकता स्वतः सिद्ध है। द्र०—

इति प्रभिन्नेषु परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धाव् उदिते च कारणे।
अवस्थिता मन्त्रगणस्य सार्थता तदर्थम् एतत् खलु शास्त्रम् अर्थवत्॥

(दुर्गभाष्य से उद्धृत)

—:o:—

षष्ठः पादः

वैदिक संहिता-पाठ का पद-पाठ में परिवर्तन 'निरुक्त' पर ही निर्भर करता है। यह निरुक्त का दूसरा प्रयोजन है।

मूल—अथापीदमन्तरेण पद-विभागो न विद्यते। 'अवसाय[1] पद्वते रुद्र 'मृळ' (ऋ० १०/१६९/१) इति।[2] 'पद्वद्, अवसम्'[3] गावः पथ्यदनम्। अवतेर्गत्यर्थस्यासौ नामकरणः। तस्मान्नावगृह्णन्ति। 'अवसायाश्वान्' (ऋ० १/१०४/१)। इति स्यतिरुपसृष्टो विमोचने। तस्मादवगृह्णन्ति।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त इस (निरुक्तशास्त्र) के अभाव में (संहिता-पाठ का) पदों के रूप में विभाजन—पदपाठ सम्भव नहीं है। हे रुद्र, चरण वाले, भूमा (चारा) भक्षक (गाय) के लिये दया कीजिये।' इस (वैदिक उद्धरण) में

---

१. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
मयोभूर्वातो अभिवातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरारिशान्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ॥
(ऋ० १०/१६९/१)

२. मूलपाठ में पदों का जिस प्रकार से विन्यास किया गया है, उसके अनुसार 'पद्वद्' का सम्बन्ध 'गावः' से और 'अवसम्' का सम्बन्ध 'पथ्यदनम्' से दृष्टिगत होता है। ऐसा मानने पर ही उपर्युक्त अर्थ निकल पाता है।

३. 'अवसम्' पद की निष्पत्ति निरुक्त के उपर्युक्त पाठ के अनुसार गत्यर्थक √अव् धातु में अस प्रत्यय के योग से मानी गई प्रतीत होती है। किन्तु ऐसी स्थिति में उसका अर्थ 'पथ्यदनम्' न हो सकेगा क्योंकि 'अदनम्' का सम्बन्ध भक्षणार्थक √अद् धातु से है। इसलिए, प्रस्तुत सन्दर्भ में, पण्डित शिवनारायण शास्त्री (द्र० निरुक्त (१.२, ८) पाद-टिप्पणी, पृ० १००) का यह सुझाव उचित प्रतीत होता है कि प्रस्तुत 'अवसम्' की निष्पत्ति भक्षणार्थक √अव् धातु से मानी जानी चाहिए, न कि गत्यर्थक से।

४. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमानिषीद स्वानो नार्वा।
विमुच्या वयोऽवसायाश्वान् दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे॥
(ऋ० १०/१६४/१)

'पद्वद्' (शब्द का अर्थ है—पैरों वाला) अर्थात् गायें और ('अवसाय' के अङ्गभूत) 'अवस' (शब्द का अर्थ है) मार्ग में खाए जाने वाले (भूसे या चारे) को खाने वाला। ('अवस' शब्द) गत्यर्थक √अव् धातु में 'अस' नाम पद बनाने वाले (प्रत्यय) के योग से निष्पन्न है। इसीलिए (पदपाठकार इस 'अवसाय' पद को) अवगृहीत नहीं करते। 'घोड़ों को खोलकर' इस (वैदिक उद्धरण) में (स्थित 'अवसाय' पद) खोलने के अर्थ में √सा धातु में 'अव्' उपसर्ग के योग से निष्पन्न है, इसीलिए (पदपाठकार इस पद का 'अवऽसाय' के रूप में अवग्रह करते हैं।

व्याख्या - यास्क का कहना है कि इस निरुक्तशास्त्र की दूसरी उपयोगिता या प्रयोजन यह है कि इसके बिना वैदिक मन्त्रों के संहिता पाठ को पद-पाठ में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी दृष्टि में निरुक्त ही वह शास्त्र है जो पद सामान्य के साथ-साथ—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप-पद विशेष का भी ज्ञान कराता है। जब तक पाठक को इस प्रकार का ज्ञान न होगा तब तक वह संहिता-पाठ[1] को पद-पाठ में परिवर्तित नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'ऋग्वेद' से दो उदाहरण देकर यह समझाया है कि उक्त दोनों ही उद्धरणों में एक जैसा दिखलाई पड़ने वाला 'अवसाय' यह पद निरुक्त का ज्ञान रखने वाले पाठक की दृष्टि में भिन्न-भिन्न पद होने के कारण पद-पाठ में दो सर्वथा भिन्न रूपों में गृहीत हुआ है, एक रूप में नहीं। उदाहरण के लिये प्रथम उद्धरण में आने वाला 'अवसाय' पद अर्थ की दृष्टि से 'पदवते' का विशेषण प्रतीत होता है, जिससे यह सिद्ध होता है, कि वह नाम पद है और 'अवस' (√अव + अस) शब्द की चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में स्थित है। यही कारण कि ऋग्वेद के पद-पाठकार शाकल्य ने प्रथम उद्धरण के उक्त पद को 'अवऽसाय' के रूप में अवगृहीत (अलग-अलग) न कर 'अवसाय' इस

---

१. वैदिक मन्त्र दो रूपों में प्राप्त होते हैं—संहिता-पाठ और पद-पाठ। संहिता-पाठ में मन्त्र के पाद अथवा अर्धर्च संहितज्ञ अर्थात् वाक्य के रूप में मिले हुए होते हैं। उनमें पदों का विभाजन नहीं होता। इसके विपरीत पद-पाठ में संहिता रूप मन्त्र का पदों के रूप में परिवर्तन किया मिलता है। इन दोनों में से कौन मूल है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में एकमत नहीं है।

अनवगृहीत रूप में रखा है। इसका कारण यह है कि 'अवसाय' में अवग्रह तभी माना जाता जब उसमें 'अव' उपसर्ग होता, क्योंकि उपसर्ग¹ को मूलपद से अवगृहीत कर दिया जाता है। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, 'अवसाय' पद 'अवस' शब्द की चतुर्थी एकवचन का रूप है, जो स्वयं √अव् धातु और अस प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। ऐसी स्थिति में वहाँ अवग्रह की प्राप्ति ही नहीं थी।

दूसरे उद्धरण में स्थित 'अवसाय' पद की स्थिति इसके ठीक विपरीत है। सन्दर्भ से प्रतीत होता है कि उसका अर्थ 'खोलकर' है। ऐसी स्थिति में निरुक्त का पाठ उसे क्रियापद मानने के लिये बाध्य है। इस क्रियापद की सिद्धि 'अव' उपसर्ग पूर्वक √'सा' (षोऽन्तकर्मणि पा०) से ल्यप् प्रत्यय करने पर होती है (अव + √षो > सा ल्यप (य) = अवसाय)। स्पष्ट है कि इस पद में 'अव' उपसर्ग लगा हुआ है और इसीलिए पद-पाठकार ने इस दूसरे उद्धरण के प्रस्तुत पद को 'अव ऽसाय' के रूप में अवगृहीत किया हुआ है।

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणों में 'अवसाय' पद का द्विधा पदपाठिकरण उनके भिन्न-भिन्न अर्थ के कारण सम्भव हुआ है, और जैसा कि निरुक्त के प्रथम प्रयोजन में बतलाया गया है, निरुक्त के द्वारा ही वैदिक मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान होता है। इसलिए संहिता-पाठ का पद-पाठ के रूप में परिवर्तन निरुक्त-ज्ञान के ही अधीन है, यह सुतरां सिद्ध है।

उपर्युक्त तथ्य को ही पुष्ट करने हेतु ग्रन्थकार कुछ और उदाहरण दे रहा है—

मूल—'दूतो निर्ऋत्या इदमा जगाम' (ऋ० १०/१६५/१) इति।

---

१. पद-पाठ के अनेक नियमों में से एक नियम यह भी है कि मूल पद में लगे हुए उपसर्ग को मूलपद से अलग दिखाया जाता है। एतदर्थ उपसर्ग और मूल शब्द के बीच में ऽ चिह्न लगाया जाता है। किसी शब्द को मूल शब्द से अलग करने की इसी प्रक्रिया को अवग्रह कहते हैं।

२. पूरा मन्त्र इस प्रकार हैः—

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शन्नो अस्तु द्विपदे चतुष्पदे॥
(ऋ० १०/१६५/१)

पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा। आःकारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आचक्ष्व'। (ऋ० १०/१६४/१) इति। चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा, ऐकारान्तम्।

अनुवाद—'निर्ऋति से का दूत इस (स्थान) पर आया' इस (उद्धरण) में ('निर्ऋति' शब्द में) पञ्चमी विभक्ति के अर्थ की कल्पना अथवा षष्ठी विभक्ति के अर्थ की कल्पना (हो सकती है और दोनों ही अर्थों के अनुसार उक्त पद पदपाठ में आःकारान्त (निर्ऋत्याः' इस रूप में) रखा गया है। 'दूर (रहकर) निर्ऋति (मृत्यु) के लिये कहो' इस (उद्धरण) में ('निर्ऋति' पद में) चतुर्थी के अर्थ की कल्पना है (इसलिए पदपाठ में इस) ऐकारान्त ('निर्ऋत्यै' रूप में) रखा गया है।

व्याख्या—दोनों ही उद्धरणों में 'निर्ऋत्या' यह पद समान रूप में दृष्टिगत होता है, किन्तु पदपाठ में दोनों को भिन्न-भिन्न रूप में रखा गया है—प्रथम उद्धरण का 'निर्ऋत्या' पद 'निर्ऋत्याः' रूप में और दूसरे उद्धरण का 'निर्ऋत्या' पद 'निर्ऋत्यै' रूप में। इसका कारण यह है कि प्रथम उद्धरण का जो अर्थ किया गया है उसके अनुसार 'निर्ऋति' शब्द का अर्थ या तो 'निर्ऋति से' सिद्ध होता है या फिर 'निर्ऋति का'। 'निर्ऋति से' अर्थ मानने पर उसका प्रयोग अपादान (पञ्चमी विभक्ति) में मानना पड़ता है और 'निर्ऋति' का अर्थ मानने पर सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति) में। यह अवधेय है कि उक्त दोनों ही विभक्तियों में 'निर्ऋति' शब्द का रूप 'निर्ऋत्याः' होता है। संहिता-पाठ में तो 'निर्ऋत्याः' पद के बाद वाले विसर्ग का सन्धि के कारण लोप हो गया है, किन्तु पद-पाठ में उसे उसके स्वाभाविक रूप में 'निर्ऋत्याः' रूप में दिखाया गया है। इसके विपरीत द्वितीय उद्धरण का जो अर्थ है उसके अनुसार 'निर्ऋति' शब्द का प्रयोग चतुर्थी में होना चाहिए, क्योंकि 'निर्ऋति' के लिए कहो' से चतुर्थी का ही अर्थ निकलता है। 'निर्ऋति' शब्द का चतुर्थी एकवचन में रूप 'निर्ऋत्यै' होता है, अतएव पद-पाठ में उसका यही रूप दृष्टिगत होता है, किन्तु संहिता-पाठ में परवर्ती पद 'आचक्ष्व' के 'आ' के कारण 'निर्ऋत्यै' का 'ऐ' 'आप्' के

१. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥ (ऋ० १०/१६४/१)

रूप में परिणत होता है और बाद में 'लोप: शाकल्यस्य' (अष्टा० ८/३/१९) के अनुसार 'य्' का लोप हो जाता है, फलत: 'संहिता-पाठ' में 'निऋ॑त्या' के रूप में उसका दर्शन होता है।

स्पष्ट है कि 'निऋ॑त्या' इस एक समान दिखाई पड़ने वाले पद का पद-पाठ में यह द्विधा स्थापन उपर्युक्त उद्धरणों में 'निऋ॑ति' शब्द के तत्तत् अर्थ के कारण किया गया है और अर्थ का निर्धारण पूर्ववत् निरुक्त के सिद्धान्तों के अनुसार होता है। इस प्रकार 'निरुक्त' का जानकार एक जैसे दिखाई पड़ने वाले पदों के वास्तविक रूप का निर्द्धारण कर संहिता-पाठ को पद-पाठ में परिवर्तित करने में सहायक होता है। यह कार्य 'निरुक्त' के अभाव में सम्भव नहीं है। फलत: 'पदनिर्द्धारण' का द्वितीय प्रयोजन है।

अगले संदर्भ में ग्रन्थकार 'संहिता' के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ पदों के महत्व पर प्रकाश डाल रहा है।

मूल—पर: सन्निकर्ष: संहिता। पद प्रकृति: संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।

अनुवाद—(पदों की) अत्यधिक निकटता को 'संहिता' कहते हैं। पद (ही) संहिता की प्रकृति या मूल है। सभी (वैदिक) शाखाओं के व्याकरण-ग्रन्थ (प्रातिशाख्य) पद को (मूल मानते हैं)।

व्याख्या—(i) (वैदिक मन्त्रों के) पदों—नाम और आख्यात आदि के अत्यन्त समीप में उच्चरित होने के कारण उनके पूर्व और पश्चात् की ध्वनियों में जो परिवर्तन आता है, उसे 'संहिता' कहते हैं। 'ऋक्प्रातिशाख्य' में 'संहिता' को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'पदान्तान् पदादिभि: सन्दधदेति यत्सा संहिता' अर्थात् जो पदों के आदि में विद्यमान ध्वनियों के साथ पदान्तीय ध्वनियों का सन्धान करती है, उन्हें, जोड़ती है, उसे 'संहिता' कहते हैं। यही 'संहिता' ध्वनिगत विभिन्न सन्धियों का कारण है। सन्धि वहीं होती है जहाँ यह 'संहिता' या वर्णों की अत्यन्त निकटता होती है। वैदिक मन्त्रों में, जब शीघ्र उच्चारण करते समय पदों में यह निकटता उत्पन्न होती है तो उनमें सन्धि आदि आवश्यक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वैदिक मन्त्रों की यह स्थिति 'संहिता' कहलाती है।

(ii) 'पदानि प्रकृति: यस्या: सा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संहितात्मक

का मूल रूप या प्रकृति पद है। अलग-अलग विद्यमान पदों को ही जोड़कर उन्हें वाक्य के रूप में उच्चरित किया गया, इसलिए पद मूल कारण हैं और उनके संहितारूप वाक्य (मन्त्र) कार्य। इस प्रकार संहितारूप मन्त्रों का अस्तित्व पदों के ऊपर ही निर्भर करता है और इसीलिए उनके वास्तविक रूप को समझने के लिए उन्हें पदों के रूप में विभक्त करना पड़ता है। पदों के रूप में मन्त्रों का विभाजन रूप यह कार्य निरुक्त के द्वारा ही सम्भव है, यह वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में उसकी महती उपयोगिता है।

कुछ व्याख्याकारों ने 'पदप्रकृतिः संहिता' का अर्थ 'पदानां प्रकृतिः पद-प्रकृतिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह बताने का प्रयास किया है कि पदों का मूल कारण 'संहिता' है अर्थात् संहितात्मक या वाक्यात्मक मन्त्र ही मूल हैं और उन्हीं को अर्थ के अनुसार खण्ड-खण्ड करके पदों—नाम, आख्यात आदि की कल्पना की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि वाक्य ही भाषा है, किन्तु क्योंकि प्रस्तुत सन्दर्भ में पदों के महत्त्व को सिद्ध किया जा रहा है, इसलिए यहाँ प्रथम अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(iii) यहाँ 'चरण' से तात्पर्य उन तत्कालीन शिक्षा-संस्थाओं से है जिनमें वेदों के शाखा विशेष से सम्बद्ध सभी प्रकार के भाषिक कार्य सम्पन्न किए जाते थे। इस सम्बन्ध में 'मालतीमाधव' के प्रसिद्ध व्याख्याकार जगद्धर का यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—'चरण शब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसङ्घवाची'। 'पार्षद' से तात्पर्य उन मूल व्याकरणात्मक ग्रन्थों से है जो वेदों की तत्तत् शाखाओं का भाषिक विश्लेषण करते थे। सम्प्रति उपलब्ध प्रातिशाख्य इन्हीं के परिष्कृत रूप हैं। इन्हे 'पार्षद' इसलिए कहा जाता था क्योंकि इनका निर्माण किसी एक व्यक्ति के द्वारा न होकर चरणों के विशेषज्ञ विद्वानों की एक पार्षद् या परिषद् के द्वारा किया जाता था (परिषदि भवं पार्षदम्)। ये पार्षद या प्रातिशाख्य ग्रन्थ पद को ही मूल या प्रकृति मानकर भाषा का विश्लेषण करते हैं। (पदा) न्येव प्रकृतिः येषां तानि—'पार्षदानि' का विशेषण)। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों की सभी शाखाओं के पार्षद ग्रन्थों में वैदिक भाषा का अध्ययन विश्लेषण अर्वाचीन पाणिनीयादि व्याकरणों के समान उत्सर्ग और अपवाद के

आधार पर न होकर एक-एक पद के आधार पर हुआ है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक-अध्ययन में पदों का कितना महत्त्व है, और साथ ही पदों के विभाजन का एकमात्र विश्वसनीय आधार होने के कारण 'निरुक्त' का अपना महत्त्व भी उद्घाटित हो जाता है।

अगले सन्दर्भ में यास्क 'निरुक्त' के तृतीय प्रयोजन 'देवता-ज्ञान' का उपपादन कर रहे हैं।

मूल—अथापि याज्ञदैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति। तदेतेनोपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्मः इति। 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुमृणन्ति' (ऋ० १/६/७) इति। वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे। 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' इति तथाग्निर्मान्यवे मन्त्रे। त्विषितो ज्वलितः। त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति॥१७॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त यज्ञ कर्म में देवता के आधार पर बहुत से (कार्यों के) निर्देश (किए गए) हैं। उस (देवतातत्त्व) का ज्ञान इस (निरुक्त) के द्वारा करना चाहिये। यदि (लिङ्ग के द्वारा देवताओं को पहिचान करने वाले) वे (मीमांसक लोग) कहें (कि) 'हम यहाँ देवताओं के लिङ्गों (विशिष्ट चिह्नों) के ज्ञाता हैं (और इस आधार पर ही देवतातत्त्व का ज्ञान हो जाएगा, तो उनसे पूछा जा सकता है कि) 'देवता लोग शक्ति में 'इन्द्र और वायु के तुल्य तुमको तृप्त करते हैं। इस अग्नि देवता से सम्बद्ध मन्त्र में वायु देवता और इन्द्र देवता का लिङ्ग प्राप्त होता है (और) हे मन्यु, अग्नि के समान देदीप्यमान (तुम इसे) दबाओ या दृढ़ रहो, इस मन्यु-देवता से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र में उसी प्रकार अग्नि देवता (का लिङ्ग विद्यमान) है। (मन्यु-देवता से

---

१. पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण भाषा के प्रत्येक पद के लिए अलग अलग नियम बनाते थे। प्रातिशाख्यों में यही स्थिति प्राप्त होती है। इसलिए इन्हें और इन जैसे प्रत्येक पद के लिए भिन्न-भिन्न नियम बनाने वाले अज्ञात नामा वैयाकरणों को 'प्रतिपदव्याकरण' कहा गया है। पाणिनि प्रथम उपलब्ध वैयाकरण हैं जिनकी 'अष्टाध्यायी' में उत्सर्ग (सामान्य नियम) और अपवाद (विशेष नियम) का उपयोग मिलता है। इस तथ्य का संकेत 'महाभाष्य' के पस्पशाह्निक में उपलब्ध होता है।

सम्बद्ध उपर्युक्त मन्त्र में स्थित) 'त्विषित' शब्द का अर्थ है 'प्रज्वलित' 'त्विषि' यह भी इस (अग्नि-देवता) की दीप्ति का वाचक नामपद। १७॥

व्याख्या—'निरुक्त' का तीसरा प्रयोजन यास्क की दृष्टि में वैदिक-मन्त्रों से सम्बद्ध देवतातत्त्व का ज्ञान है। उनका कहना है कि यज्ञों में ऐसे बहुत से कार्यों का निर्देश किया जाता है जिनका सम्बन्ध तत्तत् देवताओं से होता है। यदि यज्ञों में प्रयुक्त मन्त्रों के देवता का ज्ञान न हो तो यज्ञ में विधीयमान निर्देशों को भी समझा नहीं जा सकता। मन्त्रस्थ इस देवतातत्त्व का ज्ञान 'निरुक्त' के द्वारा ही होता है (इस सम्बन्ध में 'निरुक्त' का 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' (सप्तम अध्याय, दैवतोप परीक्षा) यह सिद्धान्त द्रष्टव्य है।

उस समय के याज्ञिक (मीमांसक) लोग मन्त्रस्थ देवतातत्त्व का ज्ञान लिङ्ग के द्वारा करते थे। लिङ्ग से तात्पर्य देवता विशेष के उस विशिष्ट चिह्न से है जिसका अस्तित्व उससे भिन्न देवताओं में नहीं पाया जाता। उनकी धारणा यह थी कि प्रत्येक देवता में इस प्रकार कुछ विशिष्ट चिह्न हुआ करते हैं। साथ ही प्रत्येक मन्त्र में कोई न कोई विशिष्ट चिह्न अवश्य प्रतिभाषित होता है। यह विशिष्ट चिह्न जिस देवता का हो उस मन्त्र का वही देवता मानना चाहिये। यास्क याज्ञिकों के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि याज्ञिकों के इस सिद्धान्त को मान लेने से उन मन्त्रों में भी लिङ्ग के आधार पर दूसरे देवता माने जाने लगेंगे जिनके देवतातत्त्व का निश्चय सभी वादियों की दृष्टि में हो चुका है। उदाहरणार्थ इस मन्त्र को लें—

त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे, महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं प्रणन्ति राधसा नृतमाः॥ (ऋ० ६/४/६)

इस मन्त्र में अग्नि को सम्बोधित किया गया है इसलिए इसका देवता स्पष्टतः अग्नि है। किन्तु याज्ञिकों के लिङ्ग सिद्धान्त के आधार पर इसके देवता इन्द्र या वायु सिद्ध होते हैं, क्योंकि इसमें अग्नि की जिस शक्ति या बल (शवसा बलेन) का वर्णन किया गया है, वह इन्द्र या वायु का विशिष्ट चिह्न माना गया है—या च का च, बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। इन्द्र और वायु दोनों माध्यमिक देवता हैं—इस सिद्धान्त के आधार पर इन्द्र का चिह्न वायु का भी चिह्न मान लिया जाता है। परन्तु कर्मकाण्ड में, केवल इस मन्त्र को ही नहीं

अपितु यह मन्त्र जिस सूक्त का है, उस पूरे सूक्त को अग्नि देवता माना गया है। स्पष्ट है कि याज्ञिकों के लिङ्ग के सिद्धान्त को मानने पर उक्त स्थिति नहीं रह पाती। इसके विपरीत निरुक्त के 'यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविर्निरूप्यते' इस अथवा 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रः' इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त मन्त्र का देवता अग्नि ही सिद्ध होता है।

लगभग यही स्थिति इस दूसरे मन्त्र की भी है—

अग्निरिव मन्यो, त्विषितः सहस्व, सेनानीर्नः सहुरे, हूत एधि।
हत्वाय शत्रून् विभजस्व वेद, ओज मिमानो वि मृधो नुदस्व॥
(ऋ० १०/८४/२)

इसमें मन्यु देवता को सम्बोधित किया गया है, इसलिए स्पष्ट रूप से इसका देवता मन्यु ही है। किन्तु 'त्विषितः' (प्रज्वलित), 'सेनानीः' (सेनापति, अग्नि को बहुधा 'सेनानी' कहा गया है) तथा 'सहुरे', जिसका अर्थ 'शक्तिशालिन' है तथा जिसकी निष्पत्ति शक्ति अर्थ वाली √सह् धातु से मानी गई है, शब्दों से बोधित होने वाले विशिष्ट चिह्नों—प्रज्वलन, सेनापतित्व और शक्तिशालित्व से इसका देवता अग्नि सिद्ध होता है।

स्पष्ट है कि याज्ञिकों का लिङ्ग-सिद्धान्त मन्त्रस्थ देवताओं के ज्ञान में सर्वत्र सहायक नहीं माना जा सकता। इसका निर्भ्रान्त ज्ञान निरुक्त के उस सिद्धान्त के अनुसार होता है, जिसकी चर्चा उसके सातवें अध्याय में की गई है तथा जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है।

अगले सन्दर्भ में 'निरुक्त' के चतुर्थ (किन्तु मुख्य) प्रयोजन ज्ञान-प्राप्ति के प्रसङ्ग में ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा को बताया जा रहा है।

मूल—अथापि ज्ञान प्रशंसा, अभवत्यज्ञान-निन्दा च—

'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा॥'

'यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥'

स्थाणुस्तिष्ठतेः। अर्थोऽर्तेः, अरणस्थः वा॥१८॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त (लोक में) ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है।

जो वेद का अध्ययन करने के पश्चात् (भी उसके) अर्थ को नहीं जानता, वह ठूंठ (कि वा) भार को ढोने वाला है। (इसके विपरीत) जो अर्थ को जानने वाला होता है, वह (इस लोक के) समस्त कल्याणों को प्राप्त करता है तथा ज्ञान के द्वारा (अपने) पापों को विध्वस्त करके (अन्त में) स्वर्ग-लोक को प्राप्त करता है।

जो ग्रहण (कण्ठस्थ) कर लिया गया, (किन्तु) जाना (समझा) नहीं गया (तथा जिसका) शब्द के रूप में (केवल) उच्चारण किया जाता है, वह अग्नि-रहित (स्थान में पड़ी हुई) सूखी लकड़ी के समान कभी प्रकाशित नहीं होता।

'स्थाणु' शब्द √स्था धातु से निष्पन्न होता है। 'अर्थ' शब्द √ऋ धातु से बना है अथवा अरण (गमन, हो जाने पर भी) रहने वाला होता है ॥१८॥

व्याख्या—यास्क निरुक्त का चतुर्थ प्रयोजन ज्ञानप्राप्ति मानते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे उपनिषदें ब्राह्मण के लिए वेद का अध्ययन और ज्ञान आवश्यक मानती हैं—'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' इस ज्ञानप्राप्ति में अज्ञान का निवारण भी गतार्थ है, क्योंकि उसके अभाव में ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। किन्तु यास्क को (ज्ञानप्राप्ति रूप प्रयोजन को) स्पष्ट रूप में नहीं कहते—वे इस लोक में की जाने वाली ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा के रूप में व्यक्त करते हैं। संसार वेदज्ञ की प्रशंसा करता है और उसको न जानने वाले की निन्दा करता है। प्रत्येक व्यक्ति निन्दा से दूर रह कर प्रशंसा—केवल प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है। उसकी यह इच्छा तभी पूर्ण हो सकती है, जब उसमे वेद के सम्बन्ध में अज्ञान निवृत्ति के साथ-साथ ज्ञान की प्राप्ति हो। निरुक्त, क्योंकि वेद के सम्बन्ध में उठने वाले समस्त सन्देहों को निरस्त कर तद्विषयक ज्ञानप्राप्ति की ओर व्यक्ति को उन्मुख करता है, इसलिए उसकी इच्छा को पूर्ण करता है। इस प्रकार निरुक्त का चौथा प्रयोजन ज्ञानप्राप्ति है।

इस सम्बन्ध में, यास्क ने, तत्कालीन वेदज्ञ समाज में प्रचलित अथवा स्वोपज्ञ (स्वरचित) जिन दो श्लोकों को उद्धृत किया है, उनमें से प्रथम में वेद का अध्ययन कर चुके हुए (कण्ठस्थ कर डालने वाले) किन्तु उसके अर्थ को जानने वाले व्यक्ति को उन्होंने स्पष्ट रूप ठूंठ (जो खड़ा तो रहता है किन्तु वायु के द्वारा भी प्रेरित न होने, पत्र और पुष्पादि से रहित होने और निर्जीव होने के कारण वृक्ष के रूप में जिसकी स्थिति व्यर्थ है। तथा भारवाहक

(गर्दभ, जो केवल भार ढोना जानता है, किन्तु अपने ऊपर लदे हुए फल आदि पदार्थों के स्वाद को नहीं जानता) कह कर उसकी निन्दा की है और अर्थज्ञ की प्रशंसा की है। दूसरे श्लोक में उन्होंने उक्त बात को कहने के साथ ही, केवल रटने—पद-पाठ करने की निन्दा की है। उनके विचार में इस प्रकार का वेदाध्ययन लोक में कभी भी प्रशस्य नहीं माना जा सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे अग्नि से रहित भिन्न स्थान या पदार्थ में पड़ी सूखी लकड़ी प्रज्वलित नहीं होती। सूखी लकड़ी में प्रज्वलित होने की सामर्थ्य तो होती है, किन्तु अग्नि के अभाव में वह इस सामर्थ्य को व्यक्त नहीं कर पाती, इसी प्रकार प्रत्येक विषय के अध्ययन से प्रसिद्धि और प्रशंसा प्राप्त करने की अनन्त सम्भावनाएँ विद्यमान होती हैं किन्तु जब तक उस विषय का तलस्पर्शी ज्ञान न प्राप्त हो जाए तब तक ऐसा हो सकना सम्भव नहीं होता। दूसरे शब्दों में, प्रशंसा ज्ञान की होती है, विषय की नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क के समय में वेदों को बिना समझे ही, रटने की पद्धति प्रचलित थी और इससे वे बहुत खिन्न थे।

यास्क की दृष्टि में 'स्थाणु' शब्द √स्था धातु से निष्पन्न हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है, 'तिष्ठतीति स्थाणु' अर्थात् जो खड़ा रहे, वह 'स्थाणु' है—√स्था + णु (उणा० ३|३७)।

'अर्थ' शब्द की निरुक्ति का संकेत उन्होंने दो प्रकार से किया है—

(i) अर्यते गम्यते इति अर्थः—अर्थात् जिसे शब्द के द्वारा प्राप्त किया जाए या जाना जाये वह अर्थ है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार √ऋ (गत्यर्थक) + थन् (थः उणा० प्रत्यय) = अर्थ।

(ii) अरणे गमने तिष्ठतीति अर्थः—अर्थात् जो शब्द से चले जाने या अनुपस्थित रहने पर भी विद्यमान रहता है, वह अर्थ है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अरण (ऋ + ल्युट्) (अन) + स्था--क > अर् + था = अ > अर् + थ् + अ) अर्थ।

अर्थ (वस्तु, भाव आदि) का बोध शब्द के द्वारा ही होता है यह सच है किन्तु उसकी सत्ता शब्द के अभाव में भी होती है—इस तथ्य को ध्यान में रखकर उपर्युक्त निर्वचन किया गया है।

यही बात वेदमन्त्रों में भी इस प्रकार कही गई है—

मूल —"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥"
(ऋ० १०/७१/४)

अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमपि च शृण्वन्न शृणोत्येनामित्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा। उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा॥१६॥

अनुवाद—कोई (व्यक्ति तो) देखता हुआ भी वाणी को नहीं देखता। कोई सुनता हुआ (भी) इसे नहीं सुनता। (और) किसी को (यह वाणी अपना शरीर (उसी प्रकार) समर्पित कर देती है जिस प्रकार (पति की) कामना करने वाली, सुन्दर वस्त्रों वाली (सुन्दरी) नारी अपने पति को (अपना शरीर समर्पित कर देती है)।

कोई तो देखता हुआ भी वाणी को नहीं देखता, और कोई सुनता हुआ भी इसे नहीं सुनता—इस प्रकार (ऋचा का) पूर्वार्द्ध अविद्वान् (मूर्ख) का कथन करता है। (और) किसी को (यह वाणी) अपने शरीर को समर्पित कर देती है—इसका तात्पर्य यह है कि (उसके लिए वह) अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। (ऋचा अपने तीसरे चरण रूप) इस वाणी के द्वारा अर्थ के ज्ञान अर्थात् प्रकाशन को व्यक्त करती है। (ऋचा के) उत्तम अर्थात् अन्तिम चरण में उपमा-तुलना है। जिस प्रकार ऋतुकाल में (स्नान करने के पश्चात्) सुन्दर वस्त्रों वाली (और) पति की (संभोग के लिए) कामना करती हुई स्त्री (अपने शरीर को पति के लिए समर्पित कर देती है। जिस प्रकार वह (पति) उस—समर्पित नारी को देखता है (और) वह सुनता है—(इस अंश में) अर्थ को जानने वाले (व्यक्ति) की प्रशंसा (की गई है)॥१६॥

व्याख्या—यास्क की दृष्टि में, ऋग्वेद का प्रस्तुत मन्त्र, एक साथ ही अर्थ को न जानने वाले की निन्दा तथा अर्थ को जानने वाले की प्रशंसा करता है।

अर्थ को न समझने वाला व्यक्ति, वाणी भाषा को ऊपरी दृष्टि से देखता और सुनता तो है, किन्तु वह उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। भाषा का ध्वनिसंघातात्मक ढांचा उसका बाहरी रूप मात्र है, अर्थ को बिना समझे भाषा (वेद) को कण्ठस्थ करने वाले व्यक्ति की गति यहीं तक होती है। इस बात को मन्त्र के पूर्वार्द्ध में व्यक्त किया गया है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उपमा के सहारे अर्थज्ञ की प्रशंसा की गई है। जिस प्रकार मासिक धर्म के तीन दिनों के बीत जाने पर, स्नान करने के पश्चात् सुन्दर वस्त्रों से विभूषित नारी संभोग की कामना से अपने पति के पास आती है और उसके लिए स्वयं को, अपने समस्त शरीर को समर्पित कर देती है और वह पति उस समर्पिता नारी के समस्त रहस्यों को देख और सुन लेता है—उसी प्रकार जिस व्यक्ति के ऊपर वाणी की कृपा हो जाती है वह उसके अर्थ को जान लेता है और फलस्वरूप वह उस अर्थ की तरह में विद्यमान वाणी के समस्त रहस्यों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

मूल—तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

"उत त्व सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्॥"

(ऋ० १०/७१/५)

अप्येक वाकसख्ये स्थिर पीतमाहुः रममार्णं विपीतार्थम्। देवसख्ये, 'रमणीये स्थाने' इति वा। विज्ञानार्थं यं नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलघत्स्वपि। अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया। 'नास्मै कामान्दुग्धे वाग् दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु। यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पाम् इति। अफलाऽस्मै अपुष्पा वाग्भवतीति वा। 'किञ्चित्पुष्पफलेति' वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञ-दैवते पुष्पफले, देवताऽध्यात्मे वा।

अनुवाद—(उपर्युक्त मन्त्र के) पश्चात् आने वाला (मन्त्र) इस (तथ्य) को और अधिक स्पष्ट करता है—

(विद्वान् लोग) किसी को मित्रता में, खूब-छककर-पिया हुआ कहते हैं।

(वे लोग वाणी से सम्बन्ध) स्पर्द्धाओं या प्रतियोगिताओं में उसको जीत नहीं पाते। (किन्तु जो व्यक्ति) फल और फूल रहित वाणी को सुना हुआ होता है, वह (किसी फल का) दोहन करने वाली अवास्तविक वाणी के साथ विचरण करता है।

(विद्वान् लोग) किसी को तो वाणी की मित्रता से पूर्णतया पिया हुआ अर्थात् रमण करता हुआ अथवा अर्थ को अच्छी प्रकार से आत्मसात् किया हुआ कहते हैं अथवा (मुख्य का अर्थ) देवताओं की मित्रता रूप मन को रमाने वाला (रमणीय) स्थान है। वाणी के द्वारा ज्ञानने योग्य बड़ी-बड़ी वाक् प्रतियोगिताओं में भी (विद्वान् लोग) अर्थ का पूर्णतया ज्ञान रखने वाले जिस (व्यक्ति) के पास नहीं पहुँच पाते। जो (अर्थ रूप) फल और फूल रहित वाणी को सुना हुआ होता है, वह (कामनाओं का) दोहन न करने वाली अवास्तविक (नकली) वाणी के साथ विचरण करता है। (इसका तात्पर्य यह है कि वाणी) देवलोक तथा मानवलोक में वाणी के द्वारा दिये जाने वाले उसके भोगों को उसे प्रदान नहीं करती (अफलाम् अपुष्पां वाचं शुश्रुवान् का अर्थ) 'उसके लिए वाणी फूल और फल रहित हो जाती है' अथवा 'थोड़े फूलों और फलों वाली होती है' यह (भी हो सकता है)। (मन्त्र) अर्थ को वाणी का फल और फूल बतलाता है, अथवा यज्ञ कर्म और देवता को (क्रमशः) फूल और फल (बतलाता है) अथवा देवता और अध्यात्म को (उसका फल और फूल बतलाता है)।

व्याख्या—यास्क की दृष्टि में प्रस्तुत मन्त्र का तात्पर्य यह है कि कुछ लोग वाणी की मित्रता में इतना गहरा उतर चुके होते हैं कि वे उसके प्रत्येक रहस्य को एक मित्र के समान जान लेते हैं और फलस्वरूप कोई भी विद्वान् वाणी से सम्बन्ध रखने वाली बड़ी से बड़ी प्रतियोगिताओं में उनका सामना नहीं कर पाता। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिन्हें वाणी के किसी रहस्य-अर्थ का ज्ञान नहीं होता, फलतः वे एक ऐसी वाणी की सेवा करते हैं, जो उनकी किसी इच्छा को पूरा नहीं करती। यह वाणी वास्तविक वाणी न होकर उसका प्रतिरूप मात्र होती है।

'सख्ये' का मुख्य अर्थ (यास्क की दृष्टि में) वाणी की मित्रता ही है। वैसे उन्होंने उसका—देवताओं की मित्रता रूप रमणीय स्थान अर्थ किया है

किन्तु उस पर जोर नहीं दिया है, साथ ही वह अर्थ सन्दर्भ से भी जुड़ता नहीं प्रतीत होता ।

'वाजिनेषु' का अर्थ उन्होंने एक ओर 'वाणी के द्वारा जाने जा सकने वाले रहस्य' किया है और इस प्रकार उसकी 'वाच + इन' (वाणी के 'इन' अर्थात् स्वामी, वाणी के द्वारा बोधित अर्थ अर्थ वाणी का स्वामी है) इस व्युत्पत्ति की ओर संकेत किया है और दूसरी ओर वे उसका अर्थ 'बलवत्सु' भी करते हैं और ऐसा करके वे बल अर्थ वाले 'वाज' शब्द से उसके निर्वचन की सूचना देते हैं—वाजोऽस्त्येषां ते—वाज + इन् । दोनों अर्थ उनके अभीष्ट प्रतीत होते हैं ।

अफलता और अपुष्पता—ये दोनों वैसे तो सामान्य रूप से वाणी की निरर्थकता को द्योतित करते हैं—किन्तु इनमें कुछ सूक्ष्म अन्तर प्रतीत होता है । 'अफला' से तात्पर्य ऐसी वाणी से है जिसमें अर्थबोध तो है किन्तु उससे किसी फल की प्राप्ति नहीं हुई, इसके विपरीत 'अपुष्पा' वाणी के उस रूप को व्यक्त करता है, जिसका कोई अर्थ न हो ।

'अफला' और 'अपुष्पा' के 'अ' को यद्यपि उन्होंने 'नहीं' के ही अर्थ में लिया है, किन्तु उसको अल्पार्थक भी माना जा सकता है—इसका संकेत उन्होंने—'किञ्चित्पुष्पफला' कहकर किया है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे वैदिक मन्त्रों को बिना अर्थज्ञान के केवल रट लेने वालों को भी कुछ न पढ़ने वालों की अपेक्षा कुछ महत्त्व देते हैं ।

वाणी के फूल और फल से क्या समझा जाए ? इस सम्बन्ध में उन्होंने तीन विकल्प सुझाए हैं—(i) अर्थ सामान्य रूप से वाणी का फल और फूल दोनों अर्थात् सर्वस्व हैं । (ii) यज्ञकर्म वैदिक वाणी का पुष्प है और देवता ज्ञान उसका फल । (iii) देवता ज्ञान पुष्प है और सभी देवताओं में एक आत्मतत्त्व का ज्ञान उसका फल है ।

अगली पंक्तियों में यास्क निघण्टु और वेदाङ्गों के प्रवर्तन पर प्रकाश डाल रहे हैं

मूल—साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-

ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं=भिल्मं। भासनमिति वा।

अनुवाद—(प्रारम्भ में) धर्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव कर चुके हुए ऋषि हुए। उन्होंने धर्म का साक्षात् अनुभव न प्राप्त किये हुये परवर्ती लोगों को उपदेश के द्वारा मन्त्रों को प्रदान किया। (बाद में) उपदेश देने में ग्लानि या संकोच का अनुभव करते हुये उन अवर लोगों ने स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए इस ग्रन्थ को, वेद को और वेदाङ्गों को बनाया, बिल्म=भिल्म या प्रकाशन।

व्याख्या—यास्क के कहने का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल में होने वाले ऋषियों ने धर्मतत्त्व या वेदों का स्वतः साक्षात्कार किया हुआ था, उनके सामने वेद स्वतः आविर्भूत हो गये थे। किन्तु बाद में होने वाले ऋषियों को वैदिक ज्ञान—इस प्रकार—स्वतः—नहीं हुआ। इसलिए प्राचीन ऋषियों ने बाद में होने वाले ऋषियों को वाचिक उपदेश के द्वारा वैदिक मन्त्रों का ज्ञान कराया। ये अवर या बाद में उत्पन्न ऋषि प्रतिपद का उच्चारण करके उपदेश के द्वारा वेदों को पढ़ने में कष्ट का अनुभव करते थे, इसलिए उन लोगों ने वेदों को सुविधा और सुगमतापूर्वक ग्रहण करने के लिए 'निघण्टु' का संकलन किया, साथ ही मौखिक-परम्परा से चले आते हुए वेदों को लिपिबद्ध किया और उनमें अध्ययन की सरलता को ध्यान में रखकर विभिन्न 'वेदाङ्गों' का प्रणयन किया।

'वेदाङ्ग' से तात्पर्य वैदिक वाङ्मय की उन मूलभूत ज्ञानधाराओं से है, जिनका उद्गम वेदों की विविधमुखी अध्ययन-दृष्टि के कारण हुआ था। इनकी संख्या छह है—(१) शिक्षा (२) व्याकरण (३) निरुक्त, (४) छन्द, (५) ज्योतिष और (६) कल्पसूत्र। इनमें से 'शिक्षाग्रन्थों' में वेदों से सम्बद्ध ध्वनितत्त्व का व्यापक और विशद परिचय दिया गया है। व्याकरण से तात्पर्य उन प्रातिशाख्य-ग्रन्थों से है जिनमें वेदों की प्रत्येक शाखा का पदों को आधार बनाकर भाषिक अध्ययन किया गया है। 'निरुक्त' में अर्थ को आधार बनाकर वेद के कतिपय अप्रचलित और दुरूह शब्दों का निर्वचन देने का प्रयास किया गया है। प्राचीन छन्द-शास्त्र का मूलग्रन्थ पिङ्गल प्रणीत 'छन्द सूत्र' है। इसमें वैदिक छन्दों का ज्ञान कराया गया है। यज्ञों के समय के ज्ञान की आवश्यकता की पूर्ति के लिये जिस शास्त्र का उदय हुआ उसे 'ज्योतिष' कहा

गया। इसका आदिम ग्रन्थ 'वेदाङ्गज्योतिष' कहलाता है। वैदिक कर्मकाण्ड के विशद विवेचन के लिए जिन ग्रन्थों का अवतरण हुआ, उन्हें सामान्यतः कल्प-सूत्र कहते हैं, वैसे—इनको भी तीन भागों में विभक्त किया गया है—(क) धर्मसूत्र—इनमें तत्कालीन धर्म और धार्मिक संस्थाओं के स्वरूप और आचार पर प्रकाश डाला गया है। (ख) श्रौत-सूत्र—इनमें श्रौत यज्ञों का विशद वर्णन प्राप्त होता है। (ग) शुल्व-सूत्र—इनमें यज्ञ की वेदी के निर्माण और माप आदि के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों का संकलन है।

यास्क ने 'विलम' शब्द का 'भिलम' के रूप में शब्द निर्वचन और भासन के रूप में अर्थ निर्वचन देने का प्रयास किया है। स्पष्ट है कि विलम या भिलम शब्द का अर्थ भासन, प्रकाशन या स्पष्टीकरण है। ऐसी स्थिति में "भिलम" शब्द का सम्बन्ध 'भिद्' धातु से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ अलग-अलग करना या विश्लेषण करना है। इस प्रकार √भिद्+म > भिलम > विलम > क रूप में बिलम के निर्वचन की कल्पना की जा सकती है। ऋग्वेद में 'बिलम' शब्द केवल एक स्थान पर (ऋ० २/३५/१२) आया है।

अगली पंक्तियों में 'निरुक्त' के व्याख्येय ग्रन्थ 'निघण्टु' के विषयविभाग को सूचित किया गया है।

मूल—एतावन्तः समानकर्माणो धातवः। धातुर्दधातेः। एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि। एतावतामर्थानामिदमभिधानम्। नैघण्टुकमिदं देवतानाम्। प्राधान्येनेदमिति।

अनुवाद—इतनी धातुएँ समान अर्थों वाली हैं। 'धातु' (शब्द) √'धा' (धातु) से व्युत्पन्न है। इस पदार्थ के इतने नाम हैं। इतने अर्थों का यह नाम है। देवता का यह नाम गौण है (और) यह प्रधान।

व्याख्या—निघण्टु में तीन काण्ड हैं—(१) नैघण्टुक (२) नैगम और (३) दैवत। नैघण्टुक काण्ड में संकलित शब्द प्रायः दो प्रकार के हैं—(क) धातु और (ख) नाम। ये दोनों ही प्रकार के शब्द उक्त काण्ड में पर्यायवाची के रूप में गृहीत हुए हैं अर्थात् उसमें यह दिखाया गया है कि समान अर्थ वाली धातुएँ कौन-सी हैं तथा किसी एक पदार्थ के और कौन-कौन से नाम हैं। दूसरे नैगम काण्ड में अनेकार्थक शब्दों का संकलन किया गया है अर्थात् 'उसमें

यह दिखाया गया है कि यह नाम इतने (अधिक) अर्थों का वाचक है (और एक से अधिक अर्थों वाले शब्दों को अनेकार्थक कहा जाता है)। तीसरे दैवत-काण्ड में दो प्रकार के देवतावाचक शब्दों का संकलन है—(क) गौण देवतावाचक और (ख) प्रधानदेवतावाचक। गौण देवता को ही यहाँ 'नैघण्टुक' कहा गया है। वैसे 'निघण्टु' में पहले प्रधान देवतावाचक शब्दों का उल्लेख है और तदनन्तर गौणदेवतावाचकों का, किन्तु यहाँ निरुक्त' में उनके क्रम में विपर्यय कर दिया गया है।

'धातु' शब्द को यास्क ने √'धा' धातु से निष्पन्न माना है। इसका तात्पर्य यह है कि—धारयतीति धातुः अर्थात् (जो अर्थ या एक मूल से निकलने वाले शब्दों को धारण करे) वह 'धातु' है (यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यास्क सभी शब्दों को धातुज मानते हैं—सर्वाणि नामान्याख्यातजानि।) इस प्रकार 'धातु का निर्वचन—√धा + तु (तृन औणादिक प्रत्यय) के रूप में स्पष्ट है।

'नैघण्टुक' से क्या तात्पर्य है, इसे स्पष्ट करते हुए यास्क अगली पक्तियों में कहते हैं।

मूल--तद् यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्। 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्'[1]=(ऋ० १/२७/१) अश्वमिव त्वा वालवन्तम्। वालाः दशवारणार्थाः भवन्ति। दशो दशतेः। 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'[2] (ऋ० १/१५४/२ तथा १०/१८०/२) मृगः इव भीमः कुचरः गिरिष्ठाः। मृगः माष्टर्गतिकर्मणः। भीमः बिभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचरः इति चरतिकर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधानम्—'क्वाय न

---

१. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।
सम्राजन्तमध्वराणाम्॥ (ऋ० १०/२७/१)।

२. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्व॥
(ऋ० १/१५४/२)

चरतीति । गिरिष्ठाः गिरिस्थायी । गिरिः पर्वतः, समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा । अर्धमासपर्व—'देवानस्मिन प्रीणन्तीति । तत्प्रकृतीतरत् सन्धिसामान्यात् । मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव ।

अनुवाद—तो, जो (देवतावाचक नामपद) अन्य देवता वाले मन्त्र में आ जाता है, वह 'नैघण्टुक' है । 'घोड़े के समान बाल वाले तुझको, बाल (वार) डांस (आदि) के निवारण के लिये होते हैं। दश शब्द √दश् (धातु) से निष्पन्न होता है । 'कुत्सित कर्म करने वाले (तथा) पर्वत पर रहने वाले सिंह के समान भयङ्कर') मृग शब्द गति अर्थ वाली √मृज (धातु) से निष्पन्न है इससे (लोग) डरते हैं (इसलिए इसे) भीम (कहते हैं)। इसी कारण से (इसे) भीष्म भी (कहते हैं)। कुत्सित कर्म को करता है इसलिए वह 'कुचर' (कहलाता है)। और यदि ('कुचर' शब्द) देवता का वाचक हो तो (उसका निर्वचन होगा)—'वह कहाँ नहीं विचरता', 'गिरिष्ठा' शब्द का अर्थ है—गिरि अर्थात् पर्वत पर रहने वाला । 'गिरि' पर्वत कहलाता है, (क्योंकि) वह (ऊपर की ओर) उभरा होता है । पर्व (पोर) वाला होता है (इसलिए वह) पर्वत (कहलाता है)। और ('पर्वत' का अङ्गभूत) 'पर्वत' शब्द √पृ अथवा √प्री धातु से निष्पन्न माना जा सकता है । महीने के आधे भाग (पर पड़ने वाले दिन) को 'पर्व' कहा जाता है, क्योंकि उस दिन (अमावस्या अथवा पूर्णिमा) को (लोग) देवताओं को प्रसन्न करते हैं। उसी के आधार पर अन्य (वस्तु) को (भी) पर्व कहते हैं, सन्धि की समानता के कारण । (गिरिष्ठा शब्द का देवपक्ष में अर्थ) मेघ में रहने वाला है । इसी (उभरे हुए) के कारण मेघ को भी 'गिरि' कहते हैं ।

व्याख्या—यास्क की दृष्टि में 'नैघण्टुक' उस देवता को कहते हैं जिसका वाचक शब्द किसी अन्य प्रधान देवता वाले मन्त्र में गौण या अप्रधान (उपमान आदि के) रूप में आ पड़ता है ।

यास्क ने एतदर्थ ऋग्वेद के दो मन्त्रांशों को उद्धृत किया है। प्रथम मन्त्रांश जिस मन्त्र का है, वह अग्निसूक्त का है । इसलिये उसका मुख्य देवता अग्नि है । किन्तु 'अश्व' शब्द का प्रयोग वहाँ नैघण्टुक ही है, क्योंकि 'अश्वं न'

् के समान) इस वाक्यांश से वह उपमान[1] (गौण या अप्रधान) ही सिद्ध ा है, प्रधान नहीं। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नि' प्रधान देवता है और ्रव' नैघण्टुक देवता। विष्णु देवता से सम्बद्ध सूक्त के दूसरे मन्त्रांश से इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया गया है। स्पष्ट है, मन्त्र का मुख्य देवता विष्णु है, जबकि 'मृग' उपमानवाचक होने के कारण नैघण्टुक है।

यास्क ने इस सन्दर्भ में कुछ शब्दों के निर्वचन दिए हैं, उन्हें यों समझना चाहिए—

(१) 'बाल' का सम्बन्ध यास्क ने 'वार' से जोड़ा है, क्योंकि वे (बाल—केश) डांस आदि का निवारण करते हैं, इसलिए वे 'वार' > बाल कहलाते हैं। √वृञ (वारणार्थक) + घञ (अ) = वार > बाल।

(२) दंश' (डांस), क्योंकि डसता (काटना) है, इसलिए उसकी निष्पत्ति दंशनार्थक √दश् धातु से मानी गई है। √दश् + घञ् (अ)

(३) 'मृग' का अर्थ प्रस्तुत सन्दर्भ में सिंह है। वह क्योंकि, गति (तेजी से दौड़ना) करता है, इसलिए उसकी सिद्धि गत्यर्थक √मृज् धातु से संकलित है। √मृज् + क (अ) = मृग।

(४) 'भीम' शब्द का अर्थ है वह जिससे लोग डरें (बिभेति अस्मात्), इस प्रकार इसका सम्बन्ध भी (ञिभी) धातु से है—√भी + मक् = भीम। 'भीष्म' शब्द का भी यही अर्थ है। इसलिए उसका भी निर्वचन वही हैं, केवल मध्य में 'षुक्' (ष्) का आगम और हो जाता है।

(५) 'कुचर' का सम्बन्ध 'मृग' और विष्णु दोनों से है। मृग जंगलों और पहाड़ों के ऊबड़-खाबड़ स्थानों पर विचरण करता—फिरता है, इसलिए वह 'कुचर' (कुत्सित स्थानों पर विचरण करने वाला) है। इस प्रकार उसका निर्वचन होगा—कु (कुत्सित) + √चर् + ट (अ)। किन्तु विष्णु पक्ष में उसका निर्वचन होगा—क्व > कु + √चर् + ट (अ)—अर्थात् वह (विष्णु) कहाँ विचरण नहीं करता ? (अर्थात् सर्वत्र निवास करता है)। 'क्व' का 'कु' रूप में यह परिणमन 'कुत्र' और 'कुह' जैसे शब्दों में भी देखा जाता है। यास्क की दृष्टि में 'क्व' और 'कु' एक ही शब्द के दो रूप हैं।

(६) 'गिरिष्ठाः' शब्द का अर्थ है—गिरि अर्थात् पर्वत पर रहने वाला। फलतः निर्वचन होगा—गिरि + √स्था + क्विप्। पर्वत को 'गिरि' इसलिए

१. उपमेय वर्णनीय होने के कारण प्रधान होता है, जबकि उपमान उसकी विशेषता का उद्घाटन मात्र करता है, इसलिए वह उपमेय का विशेषण और अतएव अप्रधान होता है।

कहा जाता है, क्योंकि वह ऊपर की ओर उभरा (उद्गीर्ण) होता है, इसलिए उसका निर्वचन होगा √गृ > गिर + इ = गिरि। इसी उभरे हुये होने के कारण ही मेघ को भी 'गिरि' कहते हैं। फलतः निर्वचन भी वही होगा।

(७) 'गिरि' के पर्याय के रूप में गृहीत 'पर्वत' शब्द पहाड़ का वाचक है। पहाड़ 'पर्वत' इससिए कहा जाता है, क्योंकि पर्वों (पोरों) वाला होता है। जिस प्रकार गन्ना और बांस आदि में पोर (पर्व) होते हैं उसी प्रकार पहाड़ों में भी एक-दूसरे के ऊपर जमे हुए पत्थर उसके पर्व या पोर हैं। उन्हीं पर्वों या पोरों से युक्त होने के कारण वह पर्वत है—पर्वन + तप् (उणादि प्रत्यय)।

(८) यास्क ने प्रसङ्गवश 'पर्वत' के अङ्गभूत 'पर्वन्' के निर्वचन की ओर भी संकेत किया है। वे उसका सम्बन्ध पूरणार्थक 'पृ' धातु और प्रसादनार्थक 'प्री' धातु से मानते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु या दिन आदि इसलिए 'पर्व' कहलाते हैं, क्योंकि वे या तो किसी को पूर्ण करते हैं या उसमें (उनके द्वारा) किसी को प्रसन्न किया जाता है। इस प्रकार इसका निर्वचन इस प्रकार समझना चाहिए—(i) √पृ + वनिप् (वन्) > पर् + वन् > पर्वन् (ii) √प्री + वनिप् (वन्) > पर् + वन् पर्वन्। यास्क ने दूसरे निर्वचन का उदाहरण दिया है—आधे महीने पर पड़ने वाला दिन (अमावस्या और पूर्णिमा) इसलिए पर्व कहलाता है, क्योंकि लोग इस दिन यज्ञों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हैं (प्रीणन्ति)। किन्तु क्योंकि इन दिनों के द्वारा आधे मास की पूर्ति भी होती है इसलिये भी (प्रथम निर्वचन के आधार पर भी) इनको 'पर्व' कहा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में यास्क का कथन है कि 'पर्व' शब्द का मुख्य प्रयोग अमावस्या और पूर्णिमा के लिए ही पहले था, बाद में उसी के आधार पर अन्य वस्तुओं की सन्धि के लिए भी उसका प्रयोग होने लगा जिनमें अमावस्या आदि के समान सन्धि पाई जाती है। भाव यह है कि किसी वस्तु के द्वारा दूसरे नाम को ग्रहण करने का मुख्य कारण किसी न किसी रूप में उसकी समानता होती है। अमावस्या और पूर्णिमा दोनों ही दो पक्षों की सन्धि में होती हैं, यह स्पष्ट है। अब जिन वस्तुओं में उनके समान सन्धि या जोड़ दिखाई देने लगा उनकी सन्धि या जोड़ को अमावस्या आदि के आधार पर 'पर्व' कहा जाने लगा।

मूल—तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। नैघण्टुकानि नैगमानीहेह।

॥ इति षष्ठ पादः ॥

अनुवाद—तो (निघण्टु के जिस काण्ड में) प्रधान रूप से स्तुति वाले देवताओं के नामों का संकलन किया गया है, उसे 'दैवत' ऐसा कहते हैं। उसकी व्याख्या (हम) आगे (निरुक्त के ७–१२ अध्यायों में करेंगे। नैघण्टुक और नैगम काण्ड में निर्दिष्ट शब्द यहाँ-यहाँ (पहले नैघण्टुक काण्ड के शब्द और तत्पश्चात् नैगम काण्ड के शब्द हैं)।

व्याख्या—प्रथम अध्याय के इस अन्तिम वाक्य में यास्क निघण्टु के तीनों काण्डों के नाम का संकेत तथा उनमें संकलित शब्दों की व्याख्या 'निरुक्त' में कहाँ-कहाँ होगी—इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि निघण्टु के जिस काण्ड में प्रधान रूप से स्तुत देवताओं के नामों का संकलन किया गया है, उस काण्ड को 'दैवत' कहा गया है। इस काण्ड के शब्दों की व्याख्या यास्क निरुक्त के सातवें से तेरहवें अध्याय तक करेंगे। किन्तु 'नैघण्टुक' और नैगम काण्ड के शब्दों की व्याख्या उसके पूर्व यहाँ-यहाँ होगी अर्थात् सबसे पहले नैघण्टुक काण्ड के शब्दों की व्याख्या होगी और उसके पश्चात् नैगम काण्ड के शब्दों की व्याख्या होगी। अन्तिम 'दैवत' काण्ड के नामकरण का हेतु स्पष्ट है। दूसरे काण्ड को 'नैघण्टुक'[1] इसलिए कहा गया है कि उसमें दैवत काण्ड की अपेक्षा गौणदेवता

१. प्रकृत में 'नैघण्टुक' का अर्थ वह नहीं है जो 'निरुक्त' के प्रारम्भ में अथवा नैघण्टुक देवताओं के सन्दर्भ में उसका अर्थ किया है। यहाँ उसका सीधा अर्थ है ऐसे शब्द जो एक अर्थ वाले तथा पर्यायवाची हों। ऐसे शब्दों में गौण देवतावाचक शब्द भी हैं। कतिपय विद्वानों का यह कथन है कि निघण्टु के प्रथम काण्ड का यह नामकरण यह सिद्ध करता है कि अपने मूल रूप में 'निघण्टु' इस काण्ड तक ही सीमित था और बाद के दोनों काण्डों के शब्द उसमें बाद में संकलित किए गए।

वाचक शब्दों तथा नैगम काण्ड की अपेक्षा सरल एकार्थक पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया है। तीसरे काण्ड को 'नैगम' अभिहित करने का कारण कदाचित् यह है कि इसमें संकलित पद अन्य दोनों काण्डों के पदों की अपेक्षा अर्थात् निर्वचन की दृष्टि से अत्यन्त दुरूह हैं। इन निगमों से सम्बद्ध होने के कारण इसे नैगम (निगम + अण्) कहा गया है।

'इह, इह, (यहाँ-यहाँ) शब्दों का प्रयोग पूर्व के अर्थ में किया गया। है दुबारे शब्द का प्रयोग इस तथ्य को इंगित करता है कि यहाँ अध्याय समाप्त हो रहा है।

॥ षष्ठ पाद समाप्त ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

———

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

मूल—अथ निर्वचनम् ।

अनुवाद—अब निर्वचन का प्रारम्भ किया जा रहा है ।

व्याख्या—'निरुक्त' का मुख्य उद्देश्य निघण्टु में संकलित शब्दों का अर्थ और प्रकृति-प्रत्यय की दृष्टि से निर्वचन करना है । इसलिये 'निरुक्त' के प्रथम अध्याय में 'निरुक्त' से साक्षात् और असाक्षात् सम्बन्ध रखने वाले विषयों का निरूपण तथा निघण्टु के काण्डत्रय के विषयों का संकेत करने के पश्चात् यास्क अब निर्वचन का प्रारम्भ करना चाहते हैं । उपर्युक्त वाक्य उनकी एतद् विषयक प्रतिज्ञा का संकेत कर रहा है ।

'अथ' शब्द का अर्थ है 'अनन्तर' अथवा (इसके पश्चात्) तथा 'निर्वचन' पद का अर्थ है किसी शब्द या पद के प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग करके उसके स्वरूप को स्पष्ट करना—निष्कृष्य—विगृह्य वचनं निर्वचनम् (दुर्ग) । शब्द का इस प्रकार का निर्वचन उसके अर्थ को आधार बना कर किया जाता है, यह बात आगे स्पष्ट होगी ।

किसी भाषा के शब्द रचना की दृष्टि से कई प्रकार के होते हैं, इसलिए उन सब का निर्वचन किसी एक आधार पर नहीं हो सकता । यास्क ने निघण्टु में संकलित शब्दों को ध्यान में रखकर यहाँ निर्वचन के तीन आधारों या सिद्धान्तों को प्रस्तावित किया है ।

मूल—(१) तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ[1] स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात् ।

---

१. निरुक्त के कतिपय संस्करणों में इस स्थल पर 'गुणेन' पाठ मिलता है । डॉ० स्वरूप ने 'विकारेण' पाठ को ही अधिक उपयुक्त पाया है । इसके बाद की पंक्ति में भी 'विकार' शब्द के पाये जाने के कारण उसके औचित्य में कोई सन्देह नहीं है । फलतः उसे ही यहाँ अपनाया गया है ।

(२) अथानन्वितेऽर्थप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन ।

(३) अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्ण-सामान्यान्निर्ब्रूयात् ।

अनुवाद—(१) तो जिन पदों में (उदात्तादि) स्वर और व्याकरण की प्रतिक्रिया अनुकूल अर्थ वाली हो (तथा वे) धातु में (प्रायः) होने वाले उचित परिवर्तन से युक्त हों, उनका निर्वचन उसी (स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होने वाली प्रकृति-प्रत्यय रूप व्याकरण की प्रक्रिया के आधार पर (सामान्य) प्रकार से करनी चाहिये ।

(२) किन्तु (जिन पदों का) अर्थ (स्वर और पद में दृष्टिगत व्याकरण की प्रक्रिया के) अनुकूल न हो तथा जिसमें धातु का परिवर्तन या विकार भी दृष्टिगत न होता हो ऐसे पदों (की रचना में विद्यमान अवयवों) का परीक्षण (निर्वचन), उनके अर्थ के प्रति सतत जागरूक अन्वेषक को किसी समान प्रवृत्ति या विशेषता के आधार पर करना चाहिए ।

(३) जिन पदों में उपर्युक्त प्रवृत्ति या विशेषतागत) समानता भी विद्यमान न हो उनका निर्वचन निर्वचनीय पदों तथा उनके घटक के रूप में संभावित प्रकृति (धातु या प्रातिपदिक)—प्रत्यय में दृश्यमान अक्षरों (केवल स्वर तथा स्वरसहित व्यंजन और व्यंजनों) की समानता के आधार पर करना चाहिए ।

व्याख्या—'निरुक्त' के व्याख्याकारों की दृष्टि में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रत्यक्ष वृत्ति—जिनमें प्रकृतिप्रत्यय स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं, अतः उनका निर्वचन सीधे व्याकरण के द्वारा ही हो जाता है । उनके लिए 'निरुक्त' की कोई आवश्यता नहीं । (२) परोक्षवृत्ति—जिनमें मूल प्रकृति-प्रत्यय काफी बदल गये होते हैं इसलिए केवल व्याकरण के द्वारा उनका निर्वचन नहीं हो पाता । ऐसे शब्दों के अर्थ को ध्यान में रखकर उनमें प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है । (३) अतिपरोक्षवृति—ऐसे शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय में इतना अधिक परिवर्तन हो चुका होता हैं कि किसी भी रूप में उनको उनके मूल रूप में उद्घाटित करना बहुत कठिन होता है । फलतः ऐसे शब्दों के निर्वचन में काफी कठिनाई आती है । यास्क इन्हीं तीन प्रकार के

शब्दों को ध्यान में रखकर अपने निर्वचन सिद्धान्तों को क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) यास्क का कहना है कि जिन वैदिक शब्दों में उसके उदात्तादि स्वर और लोप-आगम आदि व्याकरण की प्रक्रिया उन शब्दों के अनुकूल हो तथा उसके अर्थ को प्रतिपादित करने वाली धातु अपने मूल रूप में अथवा किंचिद् विकृत रूप में उनमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रही हो, उनका निर्वचन उनमें प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर सामान्य रूप में कर देनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वैदिक शब्द में उदात्तादि स्वर का कहीं न कहीं स्थिति अवश्य होती है और उसी के आधार पर यह निश्चित होता है कि वह शब्द संज्ञा है या क्रिया आदि। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द के अर्थ के अनुसार ही उसमें व्याकरण की प्रक्रिया भी विद्यमान होती है। शब्द का अर्थ यदि इन दोनों के अनुसार हो और उस अर्थ को प्रतिपादित करने वाली धातु भी उसमें (शब्द में) दिखाई पड़ रही हो तो ऐसे शब्दों का निर्वचन कुछ कठिन नहीं होता है, क्योंकि उसके सभी घटक प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं, उदाहरण के लिए 'पाचक' शब्द लिया जा सकता है। इसमें √पच्+ण्वुल (अक्) के रूप में व्याकरण की प्रक्रिया तथा √पच् धातु का √पाच् के रूप में परिवर्तन स्पष्ट रूप में दीख रहा है। उदात्तादि स्वर भी यथास्थान हैं। उन सब के आधार पर 'पाक क्रिया को सम्पन्न करने वाला' रूप (विशेषण) अर्थ को यह व्यक्त कर रहा है। फलतः इसका निर्वचन (पचतीति पाचकः) पच्+अक् के रूप में स्पष्ट रूप में हो जाता है। धावक, गायक, गन्ता आदि ऐसे वे शब्द हैं। कभी-कभी धातु में कोई भी विकार नहीं होता है, जैसे—पच्+अ (पचः)।

'संस्कार' शब्द का अर्थ है—व्याकरण की प्रक्रिया जिसमें प्रकृति और प्रत्यय में विभिन्न रूप आ जाते हैं। 'समर्थों' का तात्पर्य है अनुकुल अर्थ वाले—संगतो अनुकूलोऽर्थो यतोस्तौ—यह 'स्वरसंस्कारौ' का विशेषण है। 'प्रादेशिक' शब्द के वैसे तो अनेक अर्थ किए गए हैं, किन्तु उसका उपयुक्त अर्थ 'धातु का' है। प्रदिश्यते प्रयुज्यते इति प्रदेशः—धातुः। प्रदेश का अर्थ है धातु और प्रदेश के विकार को प्रादेशिक कहा जायगा (प्रदेश+ठक्+इक्)। विकार शब्द यहाँ धातु के परिवर्तन और उसके उसी रूप में प्रयोग, इन दोनों अर्थों को व्यक्त करते हैं।

(२) यास्क का यह दूसरा निर्वचन सिद्धान्त परोक्षवृत्ति शब्दों के निर्वचन के लिए है। इसका आशय यह है कि जब शब्द का अर्थ निर्वचन के लिए मानी गई धातु और स्वर के अनुकूल न हों अर्थात् धातु और स्वर के सम्मिलित अर्थ का शब्द के वर्तमान अर्थ के साथ तादात्म्य न हो तथा शब्द में वह धातु किसी भी (पूर्ण या अपूर्ण) रूप में दिखलाई न पड़ती हो तो निर्वचन करने वाले व्यक्ति को एकमात्र शब्द के वर्तमान अर्थ के प्रति जागरूक होकर शब्द के वर्तमान अभिधेय और निर्वचन के फलस्वरूप प्राप्य अर्थ में उपलब्ध समान प्रवृत्ति या विशेषता के आधार पर उस शब्द का परीक्षण (निर्वचन) करना चाहिए। उदाहरण के लिए---'यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमां अह।' (ऋ० ५/३४/३) मन्त्र के ऊधस् ('ऊधनि' के प्रातिपदिक) के निर्वचन को ले सकते हैं। यहाँ पर 'ऊधस' के शब्द रात्रि के अर्थ में आया है। निघण्टु (१/७) में रात्रि का पर्याय 'ऊधस्' बताया गया है। 'ऊधस्' शब्द का निर्वचन क्लेदने अर्थ वाली √उन्द् (उन्दी) धातु और असुन् प्रत्यय से माना गया है। इसी आधार पर 'ऊधस्' का अर्थ होता है 'थन' जो अपनी दुग्ध-धारा से भूमि को गीला करता रहता है। किन्तु रात्रि रूप अर्थ में यह नहीं पाई जाती, क्योंकि रात्रि किसी पदार्थ को सामान्य से गीला नहीं करती। इसलिए रात्रि के अर्थ में 'ऊधस्' शब्द का √उन्द् धातु से निर्वचन नहीं किया जा सकता। किन्तु 'थन' और रात्रि में एक समान प्रवृत्ति या विशेषता पाई जाती है—वह है 'स्नेहन' की प्रवृत्ति। 'थन' दूध के द्वारा स्निग्ध करता है जबकि रात्रि ओस की बूंदों के द्वारा। इसी सामान्य प्रवृत्ति के आधार पर 'थन' का वाचक 'ऊधस्' शब्द उपर्युक्त मन्त्र में रात्रि का भी वाचक बन गया है। 'गो पर्व विरदा तिरश्च' (ऋ० १/६१/१२) में 'पर्व' शब्द का अर्थ इसी आधार पर 'गौ का अङ्ग' है, समय की सन्धि रूप अमावस्या या पूर्णिमा नहीं।

वाक्य में प्रयुक्त 'अनन्विते' शब्द 'अर्थ' का विशेषण है और अर्थ है—ऐसा अर्थ जो अन्वित, अनुकूल न हो। 'अर्थनित्यः' शब्द अध्याहार्य निर्वचनकर्ता का विशेषण है। अर्थ होगा---ऐसा व्यक्ति जो शब्द के अर्थ में निश्चय हो या सदैव अर्थपरायण हो अर्थात् शब्द के अर्थ में सदैव जागरूक हो---अर्थे नित्यः अर्थनित्यः अथवा अर्थो नित्यः यस्य सः तादृशः। 'वृत्तिसामान्येन' के अर्थ में व्याख्या

ने पर्याप्त कल्पना का सहारा लिया है। यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ 'वर्तते शब्देषु इति वृत्तिः' के आधार पर प्रवृत्ति या विशेषता लिया गया है। 'सामान्य' का अर्थ है समानता। 'वृत्तेः सामान्यं वृत्तिसामान्यम् तेन—समान वृत्ति के आधार पर।

(३) तीसरा सिद्धान्त अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों के लिए है। इसका आशय यह है कि शब्द में (अर्थ की अनुकूलता और धातु के विकार की अप्राप्ति के अतिरिक्त) यदि किसी भी प्रवृत्ति की समानता भी न दिखलाई पड़ती हो, तो निर्वचनीय शब्द में पाए जाने वाले केवल स्वर अथवा व्यंजनसहित स्वरूप रूप अक्षर और व्यंजनों की समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिए अर्थात् निर्वचन के द्वारा प्राप्य अर्थ और निर्वचनीय शब्द की कुछ ध्वनियों में यदि समता दिखलाई पड़ती हो तो उसके आधार पर निर्वचन करना चाहिए। उदाहरण के लिए (जैसाकि यास्क ने इसी प्रकरण में आगे चल कर दिखलाया है) 'कम्बोज' का निर्वचन 'कम्बलभोज' से दिया गया है। इसमें दोनों शब्दों में विद्यमान कम् (क्+अ+म्), ओ तथा ज (ज्+अ) ध्वनियों के साम्य के अतिरिक्त और कोई साम्य नहीं है।

वाक्य में 'सामान्य' शब्द का अथ पूववर्ती वाक्य के आधार पर 'वृत्ति सामान्य' है। 'अक्षर' का अर्थ होता है केवल स्वर। 'वर्ण' शब्द का अर्थ सामान्य ध्वनि है, किन्तु यहाँ उसका प्रयोग व्यंजन के अनुसार किया गया है। 'अक्षरवर्ण सामान्यात्' का अर्थ अक्षर और वर्ण की समानता से है।

यास्क के उपर्युक्त तीनों निर्वचन-सिद्धान्तों में से प्रथम तो ठीक है, किन्तु अन्तिम दोनों गलत हैं, क्योंकि जिस केवल अर्थ की समानता के आधार पर निर्वचन की बात उन्होंने कही है, वह अत्यन्त परिवर्तित होने वाली वस्तु है। किसी शब्द का किसी एक देशकाल में यदि एक अर्थ है तो दूसरे देशकाल में भी उसका वही अर्थ होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। कभी-कभी एक ही शब्द के देश और काल में भेद से अनेक अर्थ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में क्या उस शब्द के अनेक निर्वचन होंगे ? यास्क ऐसा ही मानते हैं, किन्तु यह निर्वचन के प्रचलित मानदण्ड के प्रतिकूल है। अक्षर और वर्ण की समानता वाला सिद्धान्त तो सिद्धान्त कहे जाने योग्य नहीं है।

आगे की पंक्तियों में यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि प्रत्येक शब्द का निर्वचन अवश्य किया जाना चाहिए, चाहे उसके मार्ग में कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न आवें। निर्वचन-कर्ता का मुख्य ध्यान शब्दार्थ पर होना चाहिए और व्याकरण की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

मूल—न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।

अनुवाद—(ऐसा) न हो कि निर्वचन न करे। (निर्वचन के सन्दर्भ में) व्याकरण की प्रक्रियाओं की चिन्ता नहीं करना चाहिए, क्योंकि (व्याकरण की या शब्दों की) वृत्तियाँ (सदैव) संदेहयुक्त होती हैं। (शब्द के) अर्थ अनुसार (उसके प्रकृति और प्रत्यय रूप तथा नाम और आख्यातादि रूप) विभागों की कल्पना कर लेनी चाहिये।

व्याख्या—इस अवतरण में यास्क ने कई विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं, जिन्हें निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है—

(i) न-निर्ब्रूयात्। इस वाक्य में यास्क ने यह बताया है कि प्रत्येक शब्द का चाहे वह अपनी रचना प्रक्रिया में कितना ही जटिल क्यों न हो निर्वचन अवश्य किया जाना चाहिए। सभी शब्द एक जैसे नहीं होते। कुछ यदि निर्वचन की दृष्टि से बहुत सरल होते हैं तो कुछ बहुत जटिल भी होते हैं। शब्दों की इस जटिलता से विचलित न होकर उसके निर्वचन का प्रयास अवश्य करना चाहिए। यदि इस प्रयास में कुछ कमी रह गई तो आगे आने वाली पीढ़ियाँ उसमें सुधार कर लेंगी; किन्तु यदि उसे यों ही बिना निर्वचन के छोड़ दिया गया तो आगे आने वाली पीढ़ियों को कोई प्रेरणा न मिलेगी और उनमें सरल शब्दों को भी कठिन कहकर छोड़ देने की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

(ii) संस्कार···भवन्ति। इसमें यास्क ने यह बताया है कि निर्वचन के सन्दर्भ में व्याकरण की बहुत चिन्ता नहीं करनी चाहिए अर्थात् यह नहीं सोचना चाहिए कि कोई शब्द यदि व्याकरण की निश्चित प्रक्रिया के अनुसार सिद्ध हो रहा हो तभी उसका निर्वचन करे अन्यथा नहीं। इसके विपरीत होना यह चाहिए कि शब्द व्याकरण से सिद्ध हो रहा हो तो ठीक अन्यथा उसके अर्थ को

आधार बनाकर उसका निर्वचन करना चाहिए और व्याकरण के अनावश्यक झमेले में पड़ने से अपने को बचाना चाहिए। इसका कारण यह है कि शब्दों के विकास की प्रवृत्ति सदैव एक जैसी नहीं होती, इसलिए एक ही शब्द का एक रूप यदि व्याकरण के अनुकूल होगा अर्थात् उसमें व्याकरण के अनुसार प्रकृति और प्रत्यय स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होंगे तो दूसरे रूप में वह उस रूप में दृष्टिगत नहीं भी हो सकते। यदि निर्वचन का आधार केवल व्याकरण को बनाया गया तो जिनमें व्याकरण की प्रक्रिया स्पष्ट रूप में दिखलाई नहीं पड़ती उनका निर्वचन न हो सकेगा। और यह बात 'निरुक्त' के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगी, क्योंकि उसका आविर्भाव ही प्रत्येक शब्द के निर्वचन के लिए हुआ है।

(iii) यथा सन्नमयेत्—इसका आशय यह है कि शब्द का जब जैसा अर्थ हो, तब उसके प्रकृति-प्रत्यय आदि के उसी प्रकार के विभागों की कल्पना कर लेनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक जैसे दिखाई पड़ने वाले शब्दों के अर्थ यदि भिन्न-भिन्न हैं तो उसमें प्रकृति-प्रत्यय रूप विभाग भी भिन्न-भिन्न होंगे।

कुछ व्याख्याकारों ने 'विभक्ती' का अर्थ 'प्रथमा, द्वितीया' आदि विभक्ति किया है, किन्तु निर्वचन के सन्दर्भ में उसका प्रकृति-प्रत्यय रूप विभाजन करना ही अधिक उपयुक्त होता है।

अगले संदर्भ में यास्क विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से इस तथ्य को विशद रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं कि किस-किस प्रकार के शब्दों में अर्थ के अनुसार प्रकृतिप्रत्यय विभाजन रूप निर्वचन किस प्रकार किए जाने चाहिएँ।

मूल—प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते। अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति—स्तः, सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति—गत्वा, गतमिति। अथाप्युपधालोपो भवति—जग्मतुः, जग्मुरितिः अथाप्युपधाविकारो भवति—राजा दण्डीति। अथापि वर्णलोपो भवति—तत्त्वा यामीति। अथापि द्विवर्णलोपः—तृच इति। अथाप्यादिव्यापत्तिर्भवति—ज्योतिर्घनो बिन्दुर्वाट्यः इति। अथाप्याद्यन्तविपर्ययो

भवति—ओघो, मेघो, नाधो, गाधो, वधूर्मध्विति । अथापि वर्णोपजनः-आस्थद्, द्वारो, भरूजेति ॥१॥

अनुवाद—'प्रत्तम्' और 'अवेत्तम्' इन शब्दों में केवल धातु के आदिम वर्ण ही शेष रहते हैं । इसके अतिरिक्त गुण और वृद्धि के निषेध स्थलों में √ अस् धातु के आदिम वर्ण का लोप हो जाता है, (जैसे) 'स्तः' (और) 'सन्ति' (इन प्रयोगों) में । इसके अतिरिक्त (कुछ शब्दों में) अन्तिम (वर्ण) का लोप हो जाता है, (जैसे) 'गत्वा' (और) 'गतम्' इनमें । इनके अतिरिक्त—(कुछ शब्दों में) उपधा अर्थात् शब्द की अन्तिमध्वनि से ठीक पूर्व में रहने वाली ध्वनि का लोप हो जाता है (जैसे), 'जग्मतुः' (और) 'जग्मुः' इनमें । इनके अतिरिक्त—(कुछ शब्दों में) उपधा में (विद्यमान ध्वनि में) विकार या परिवर्तन (भी दृष्टिगत) होता है (जैसे) 'राजा' (और) 'दण्डी' इनमें । इसके अतिरिक्त—(कुछ शब्दों में एक) वर्ण का लोप हो जाता है, (जैसे) 'तस्त्वा यामि' इसमें । इसके अतिरिक्त (कुछ शब्दों में) दो वर्णों का लोप हो जाता है, (जैसे) 'तृचः' इसमें । इसके अतिरिक्त (कुछ शब्दों में) आदिम वर्ण की व्यापत्ति (परिवर्तन) हो जाती है, (जैसे), 'ज्योति', 'घन' 'बिन्दु' और 'बाट्य' इन (शब्दों में) । इसके अतिरिक्त—(कुछ शब्दों में) आदिम और अन्तिम ध्वनियों में विपर्यय (पारस्परिक परिवर्तन) हो जाता है, (जैसे) 'ओघ', 'मेघ', 'नाध', 'गाध', 'वधू' और 'मधु' इन (शब्दों) में । इसके अतिरिक्त—(कुछ शब्दों में) वर्ण (स्वर और व्यंजन में से अन्यतर या दोनों) का आगमन हो जाता है, (जैसे) 'आस्थद्', 'द्वार' (और) 'भरूजा' इन (प्रयोगों) में ॥१॥

व्याख्या—यास्क ने विभिन्न ध्वन्यात्मक परिवर्तन के जो उदाहरण दिए हैं, उन्हें इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) 'प्रत्तम्' और 'अवत्तम्' शब्दों में धातु का आदिम भाग अवशिष्ट रहता है और शेष का लोप हो जाता है, जैसे—

(क) प्र + √दा + त (क्त) > प्र + द + त > प्रत्त (इसमें 'दा' धातु का केवल आदिम अंश 'द्' अवशिष्ट है) ।

(ख) अव + √दा + त (क्त) > अव + द् + त > अवत्त (काटा गया) (यहाँ भी 'दो' में से केवल 'द' अवशिष्ट रह गया है) ।

(२) जिन स्थानों पर गुण और वृद्धि का निषेध होता है, ऐसे स्थलों पर √अस् धातु की आदिम ध्वनि 'अ' का लोप हो जाता है, जैसे—

(क) √अस् + तस् (वर्तमान, प्रथमपुरुष द्वि० व०) = स्तः (यहाँ 'अस्' के 'अ' का लोप और 'स्' को विसर्ग हो गया है)।

(ख) √अस् + अन्ति (झि) (वर्तमान, प्रथमपुरुष, बहुवचन) = सन्ति (यहाँ पर भी धातु के आदिम वर्ण 'अ' का लोप दृष्टिगत होता है)।

पाणिनि के 'क्ङिति च' सूत्र के द्वारा कित् (जिस में 'क्' का 'इत्' (लोप हुआ हो), ङित् (जिसमें 'ङ' का लोप हुआ हो) और 'गित्' (जिसमें 'ग्' का लोप हुआ हो) प्रत्ययों के रहते जिन स्थलों पर गुण और वृद्धि के विधान का निषेध होता है, उन स्थलों को यास्क ने 'निवृत्ति स्थान' कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्राचीन आचार्यों की पारिभाषिक संज्ञा है। आधुनिक विद्वान् ऐसे स्थलों को, धातु के दुर्बलरूप कहते हैं।

(३) कभी-कभी धातु के अन्तिम वर्ण का लोप हो जाता है, जैसे—

(क) गत्वा—√गम् + त्वा (क्त्वा) = गत्वा (इसमें धातु के अन्तिम वर्ण 'त्' का लोप हो गया है)।

(ख) गतम्—गम् + त (क्त) = गत, सु, अम् (यहां भी 'म्' लुप्त हो गया है)।

(४) कुछ स्थलों पर धातु की उपधा में विद्यमान वर्ण का लोप हो जाता है, जैसे—

(क) जग्मतुः √गम् + अतुस् (लिट्, प्रथमपुरुष, द्वितीयवचन) > गम् + अतुस् > गम् + गम् + अतुस् > गगम् + अतुस् > जगम् + अतुस् > जग्मतुः (यहां 'जगम्' जग्मुः—कीं उपधाभूत वर्ण ('ग' के 'अ' का लोप हो गया है)।

(ख) √गम् + उस् (झि) (लिट् प्रथमपुरुष, बहुवचन) शेष प्रक्रिया पूर्ववत्। यहाँ भी 'जगम्' के 'अ' का पूर्ववत् लोप हुआ है)।

किसी शब्द या धातु आदि के अन्तिम वर्ण से ठीक पूर्ववर्ती (उपान्त्य) वर्ण को 'उपधा' कहते हैं। पाणिनि के शब्दों से—'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा'।

(५) कभी-कभी उपधाभूत वर्ण परिवर्तित हो जाता है, जैसे—

(क) राजा—राजन् + सु, (प्रथमा एकवचन) > राजा (यहाँ 'राजन्' के 'न्' और 'सु' विभक्ति का लोप होने के साथ-साथ 'राजन्' के ('ज' में विद्यमान अ' (उपधा का परिवर्तन दीर्घ 'आ' में हो गया है)।

(ख) दण्डी—दण्डिन् + सु (प्रथमा, एकवचन) > दण्डी (यहाँ भी 'न्' और सु' के साथ-साथ उपधाभूत वर्ण 'इ' का परिवर्तन 'ई' में हो गया है)।

(६) कभी-कभी (एक) वर्ण का लोप हो जाता है, जैसे 'तत्वा यामि' के यामि' में। याचामि > याआमि > यामि (यहाँ 'च्' का लोप और तदनन्तर दोनों 'आ' की दीर्घ सन्धि हो गई है)।

वैसे 'वर्ण लोप' कहने मात्र से यह पता नहीं चलता कि कितने वर्ण का लोप होता है, किन्तु अगले वाक्य 'द्विवर्णलोपः' तथा प्रस्तुत उदाहरण को देखते हुए 'वर्णलोपः' का अर्थ 'एक वर्ण का लोप' मानना उपयुक्त है।

(७) कभी-कभी दो वर्णों का लोप हो जाता है, जैसे—

त्रि—ऋचः > त् + ऋचः > तृचः (इसमें त्रि' के 'र्' और 'इ' इन दो वर्णों का लोप हुआ है)।

(८) कुछ शब्दों में धातु की आदिम ध्वनि का परिवर्तन हो जाता है, जैसे—

(क) ज्योतिः—√द्युत् + इस् > (इसिन्) > ज्युत् + इस् > ज्योत् + इस् > ज्योतिः (इसमें √द्युत् आदिम वर्ण 'द्' का परिवर्तन 'ज्' में हो गया है)।

(ख) घनः—√हन् + अ (अप्) > घन् + अ > घन, सु, विसर्ग (इसमें धातु के प्रथम वर्ण 'ह्' का परिवर्तन 'घ्' में हो गया है)।

(ग) बिन्दुः—√भिद् + उ > भिन्द् + उ > बिन्द् + उ > बिन्दु, सु, विसर्ग (यहाँ धातु के प्रथम वर्ण 'भ्' का परिवर्तन 'ब' में हो गया है)।

(घ) बाट्यः—√भट् + य (ण्यत्) > भाट्य > बाट्य, सु. विसर्ग (यहाँ पर भी धातु के प्रथम वर्ण 'भ्' का परिवर्तन 'ब्' में हो गया है)।

(९) कुछ शब्दों में मूलभूत की आदिम और अन्तिम ध्वनियों में विपर्यय या पारस्परिक परिवर्तन हो जाता है, जैसे—

(क) स्तोका—श्चुत् + अ (घङ्) > श्चोत > स्कोत > स्तोक, टाप्, ('त्' के स्थान पर 'क्' और 'क' के स्थान पर 'त्' का परिवर्तन)।

(ख) रज्जुः √सृज् + उ > सर्ज् + उ > रज्ज् + उ > रज्जु + उ > रज्जु, सु, विसर्ग (यहाँ 'र्' और 'स्' का आद्यन्त विपर्यय है)।

(ग) सिकता—√कस् + त (क्त) + आ (टाप्) > कसिता > सिकता (यहाँ 'सि' और 'क' का विपर्यय है)।

(घ) तर्कु—√कृत् (कृती) + उ > कर्तु > तर्कु (काटने वाली वस्तु, कैंची आदि) (यहाँ 'क्' और 'त्' का पारस्परिक विपर्यय है)।

(१०) कुछ शब्दों में धातु की ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है, जैसे—

(क) ओघः—√वह् + अ (घञ्) > वह > ओह > ओघ, सु, विसर्ग (यहाँ धातु की अन्तिम ध्वनि 'ह्' का परिवर्तन 'घ्' में हो गया है)।

(ख) मेघः—√मिह् + अ (घञ्) > मेह > मेघ, सु, विसर्ग (यहाँ धातु की अन्तिम वर्ण 'ह्' का परिवर्तन 'घ्' में गया है)।

(ग) नाधः—√नह् + अ (घञ्) नाह > नाध, सु, विसर्ग (यहाँ धातु के अन्तिम वर्ण 'ह्' का परिवर्तन 'ध् में हो गया है)।

(घ) गाधः—√गाह् + अ (घञ्) > गाह > गाध, सु, विसर्ग (यहाँ धातु के अन्तिम वर्ण 'ह्' का परिवर्तन 'घ्' में हो गया है)।

(ङ) वधूः—√वह् + ऊ > वहू > वधू, सु, विसर्ग (यहाँ भी धातु के अन्तिम वर्ण 'ह्' का परिवर्तन 'घ्' में हो गया है)।

(च) मधु—√मद् (मदी) + उ > मदु > मधु, सु, और उसका लोप (यहाँ धातु के अन्तिम वर्ण 'द्' का परिवर्तन 'घ्' में हो गया है)।

(११) कभी कभी शब्दों के आदि, मध्य अथवा अन्त में कुछ नवीन ध्वनियों का उपजन या आगम हो जाता है, जैसे—

(क) आस्थत्—√अस् धातु से लुङ् लकार प्रथम पुरुष में तिप्' प्रत्यय अस् + त > आस्त् बीच में 'थ' (पाणिनि थुक्' ७/४/१७ का आगम)। इसमें 'स्' और 'त्' के बीच थ् और अ (थ) ध्वनियों का आगम हुआ है)।

(ख) द्वारः—√वृ + णिच् + घञ् > वार > द्वार, सु, विसर्ग (यहाँ शब्द के पहले उच्चारण की सुविधा के लिए 'द्' ध्वनि का आगम हो गया है)।

(ग) भरूजा—भ्रस्ज् (पाके) से स्त्री० में 'अङ्' प्रत्यय > भ्रस्ज् + अ > भ्रज

('स्' लोप) > भरूज, टाप् (अ)—यहाँ 'भ्' के आगे 'अ' और 'र्' के आगे 'ऊ' ध्वनियों का आगम हुआ है)।

अगले सन्दर्भ में यह बताया जा रहा है कि कुछ धातुएँ द्विप्रकृतिक होती हैं और उनसे भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्दों का निर्माण होता है।

मूल—तद्यत्रं स्वरादनन्तरान्तर्धातु भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येकऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति, तद्यथैतद्—ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः कुणारुम् इति।

अनुवाद—तो जिस धातु में, धातु के भीतर ही स्वर के अव्यहित पूर्व या पश्चात्, कोई अन्तस्या (य्, व्, र्, ल्) होता है, वह (धातु) दो प्रकार की प्रकृतियों या स्वभावों का स्थान (आश्रय) है, ऐसा (विद्वान् लोग) कहते हैं। उन (दो प्रकृतियों वाली धातुओं) में सिद्धा प्रकृति (अधिक प्रयोग वाली व्यञ्जन प्रकृति) भूत धातु के (किसी शब्द के निर्वचन में) असमर्थ हो जाने पर (उससे) भिन्न (असिद्धा प्रकृति वाली धातु) से (उसका) उपपादन करने की इच्छा करनी चाहिए। उन (असिद्धा प्रकृति वाली धातुओं में) अल्प मात्रा में बनने वाले कुछ ही शब्द होते हैं, जैसे ये—ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुम्।

व्याख्या—उद्धृत पंक्तियों में यास्क ने जो विचार व्यक्त किया है, उसका आशय यह है कि भाषा (विशेषकर संस्कृत) में कुछ धातुएँ ऐसी होती हैं जिनके दो-दो रूप होते हैं। ऐसी धातुएँ वे होती हैं, जिनमें धातु के भीतर ही किसी स्वर के आगे और पीछे अव्यवहित रूप में कोई अन्तस्था (य्, व्, र्, ल्) होता है। अन्तस्था वाली इन्हीं धातुओं को 'सिद्धा' कहा गया है, क्योंकि इनसे अधिकांश रूप सिद्ध होते हैं। किन्तु इन्हीं की दूसरी प्रकृति वाली धातुओं में उपर्युक्त अन्तस्थाओं के स्थान पर क्रमशः इ, उ, ऋ, और लृ स्वरों का दर्शन होता है। संस्कृत व्याकरण में 'सम्प्रसारण' कहा जाता है (पाणिनि 'इग् यणः

सम्प्रसारणम्')। इस प्रकार इन धातुओं की दो-दो प्रकृतियाँ होती हैं—(१) व्यञ्जनप्रकृति, जिनमें अन्तस्था विद्यमान रहते हैं। इन्हें ही 'सिद्धा' भी कहा गया है। (२) स्वरप्रकृति, इनमें अन्तस्थाओं के स्थान पर स्वर होते हैं। ऐसी कुछ धातुएँ ये हैं—

व्यञ्जनप्रकृतिक	स्वरप्रकृतिक	परिवर्तन
१. यज्	इज्	(य > इ)
२. वह	उह	(व > उ)
३. ग्रह्	गृह्	(र > ऋ)
४. म्रद्	मृद्	आदि

यास्क का कहना है कि कुछ शब्द व्यञ्जनप्रकृति वाली धातु से बनते हैं और कुछ स्वरप्रकृति वाली से। इसलिए, यदि किसी शब्द का निर्वचन व्यञ्जन प्रकृति वाली धातु से नहीं होता है तो उसकी सिद्धि उसी की स्वरप्रकृति वाली धातु से करनी चाहिए, उदाहरण के लिए—इष्ट, ऊढ, गृहीत और मृदु शब्द उपर्युक्त धातुओं की व्यंजन प्रकृति के बजाय स्वरप्रकृति से बनेंगे किन्तु स्वरप्रकृति वाली धातुओं से बनने वाले शब्दों की मात्रा व्यञ्जनप्रकृति वाली धातुओं से बनने वाले शब्दों की अपेक्षा कम होती है। ऐसे कुछ शब्द ये हैं—

(१) ऊतिः—√अव् + ति (क्तिन्) > ऊ + ति > ऊति, सु, विसर्ग।

(२) मृदुः—√म्रद + उ > मृद् + उ > मृदु, सु, विसर्ग।

(३) पृथुः—√प्रथ् + उ > पृथ् + उ > पृथु, सु, विसर्ग।

(४) पृषतः—√प्रुष् + अत (अतच्) > पृषत, सु, विसर्ग।

(५) कुणारुम्—√क्वण् + आरु (कारु) > कुण् + आरु > कुणारु, सु और उसे 'अम्'।

वाक्यस्थ 'अनन्तरा' शब्द का अर्थ है अव्यवहित, ठीक पूर्व या बाद की ध्वनि—'अविद्यमानम् अन्तरं यस्याः साः—ऐसी ध्वनियों को अव्यवहित या अनन्तर कहा जाता है, जिन दोनों के बीच कोई अन्य ध्वनि न हो, किसी का व्यवधान न हो।

'अन्तस्था' से तात्पर्य य्, व्, र्, ल् व्यञ्जनों से है। इन्हें अन्तस्था कहे जाने का स्वारस्य यह है कि ये स्वर और व्यञ्जन के बीच में स्थित हैं—कभी

स्वर रूप में रहते हैं और कभी व्यञ्जन रूप में। 'द्विप्रकृतीनाम्' का अर्थ है—दो प्रकार की प्रकृतियों वाली—द्वे प्रकृती येषां तेषाम्। 'अल्पनिष्पत्तयः' का अर्थ है—अल्प मात्रा में बनने वाले—'अल्पा निष्पत्तिः येषां ते।

निम्नलिखित पंक्तियों में यास्क यह बताने जा रहे हैं कि शब्दों के निर्वचन के सन्दर्भ में भाषा के इतिहास को भी देखना चाहिए।

मूल—अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते—दमूना, क्षेत्रसाधाः इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः—उष्णम्, घृतम् इति।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त—बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त धातुओं से बनने वाले वैदिक कृदन्त शब्दों का (वेदों में) प्रयोग किया जाता है, जैसे—दमूनस्, क्षेत्रसाधस्, ये शब्द। इसके अतिरिक्त—वेदों में प्रयुक्त धातुओं से बनने वाले कृदन्त शब्दों का प्रयोग बोल-चाल की भाषा में होता है। जैसे—उष्णम्, 'घृतम्' ये शब्द।

व्याख्या—इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि एक भाषा के ऐतिहासिक दृष्टि से कई रूप हो सकते हैं और उनमें से प्रत्येक में एक-दूसरे के शब्दों का प्रयोग हो सकता है। ऐसी स्थिति में शब्दों का निर्वचन करने वाले को भाषा के सभी ऐतिहासिक रूपों का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा वह निर्वचन में गलती कर सकता है। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए यास्क ने संस्कृत के लौकिक और वैदिक शब्दों की चर्चा की है। वे कहते हैं कि वैदिक भाषा में बहुत से ऐसे कृदन्त शब्दों का प्रयोग होता है, जिसकी मूल भूत धातुओं का प्रयोग वैदिक भाषा में न होकर लौकिक भाषा में प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है—कि धातु से बनने वाले तिङन्त रूप तो लौकिक भाषा में हैं किन्तु उनसे बनने वाले कृदन्त शब्द वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं। नैरुक्तों के धातुज् सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द का मूल धातु होती है, अतः कृदन्त शब्दों का मूल भी कोई धातु ही होनी चाहिए। चूंकि वह धातु के प्रथम रूप वैदिक में न प्राप्त होकर उसके परवर्ती रूप में लौकिक भाषा में प्राप्त होती है, इसलिए सम्बद्ध वैदिक शब्दों का निर्वचन उसी लौकिक धातु

करना चाहिए। उदाहरण के लिए 'दमूनस्' और 'क्षेत्रसाधस्' इन वैदिक शब्दों को लिया जा सकता है। इनमें 'दमूनस्' शब्द √दम् धातु ऊनस् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है और उसका अर्थ है वह व्यक्ति जो इन्द्रियों का दमन कर चुका हो, दान्त। परन्तु इसके मूल में विद्यमान √दम् धातु के तिङन्त रूप वेद में न प्राप्त केवल लौकिक संस्कृत में ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार 'क्षेत्रसाधस्' शब्द भी क्षेत्र + √साध् + असुन् के रूप में सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होता है—साधक। किन्तु √साध् धातु केवल लौकिक संस्कृत में प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में इन शब्दों का निर्वचन लौकिक संस्कृत की उक्त धातुओं से कर लेनी चाहिए। क्योंकि ऐसा सम्भव है, वे धातुएँ वेद में भी रही होंगी, किन्तु सामग्री के नष्ट हो जाने या अन्य किन्हीं कारणों से वे वर्तमान वैदिक साहित्य में न मिल रही हों।

इसी प्रकार कुछ कृदन्त शब्द ऐसे भी मिलते हैं, जो प्रयुक्त तो होते हैं लौकिक संस्कृत में, किन्तु उनसे सम्बद्ध धातु के तिङन्त रूपों का प्रयोग लौकिक संस्कृत में न पाया जाकर वैदिक भाषा में ही प्राप्त होता है। 'उष्ण' और 'घृत' ऐसे ही शब्द हैं। 'उष्ण' शब्द दाह अर्थ वाली √उष् धातु और 'नक्' प्रत्यय और 'घृत' शब्द क्षरण तथा दीप्ति अर्थ वाली √घृ धातु 'तन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है चूंकि ये धातुएँ केवल वैदिक भाषा में प्राप्य हैं, इसलिए उनसे ही उक्त रूपों का निर्वचन करना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि यास्क संस्कृत के दोनों रूपों—वैदिक और लौकिक से केवल परिचित ही नहीं थे अपितु उसके पौर्वापर्य रूप ऐतिहासिक विकास के भी अच्छे जानकार थे।

देश की दृष्टि से भी एक ही भाषा के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं—इसलिए शब्दों के निर्वचन में इस तथ्य को भी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए—इस बात का प्रतिपादन अगली पंक्तियों में किया गया है।

मूल—अथापि प्रकृतयः एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतयः एकेषु। शवतिगतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। कम्बोजाः कम्बलभोजाः। कयनीय-

भोजाः वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्थेषु भाषन्ते। शवः इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त—देश के कुछ भागों में केवल प्रकृति या (तिङन्त रूप) ही बोली जाती हैं। (जबकि) कुछ में केवल विकृतियां (धातु से बनने वाले कृदन्त शब्द) ही प्रयुक्त होती हैं (उदाहरण के लिए) कम्बोज देश (आधुनिक काबुल-कन्धार का प्रदेश) में √शिव धातु (और उसके आख्यात रूपों) का प्रयोग गति के अर्थ में होता है। 'कम्बोज' (काम्बोज इसलिए कहलाते क्योंकि वे) कम्बल अथवा कमनीय पदार्थ का उपभोग करने वाले हैं। कम्बल कमनीय होता है। (इसके विपरीत) अर्यों में इस धातु का विकार (कृदन्त शब्द) 'शव' को बोलते हैं (इसी प्रकार) √दा धातु का कटाई के अर्थ में प्रयोग पूरब (के देशों) में (और उसके कृदन्त रूप) 'दात्र' (का प्रयोग) उत्तरी (भागों) में (होता है)।

व्याख्या—इन पंक्तियों का आशय यह है कि एक व्यापक भाषा किसी महान् देश या भू-खण्ड के विभिन्न भागों में विभिन्न रूपों में अवस्थित होती है, किसी प्रदेश या भू-भाग में यदि उसकी किसी धातु के तिङन्त या आख्यात रूपों का प्रयोग होता है तो अन्य प्रदेश या भू-भाग में उससे बने कृदन्त का प्रयोग होता है। (इसलिए किसी प्रदेश के शब्द का निर्वचन करते हुए दूसरे प्रदेश की भाषिक सामग्री का भी उपयोग अवश्य करना चाहिए) उदाहरण के लिए कम्बोज प्रदेश (आधुनिक अफगानिस्तान का काबुल-कन्धार प्रदेश) में, संस्कृत की √शिव् धातु का गमन के अर्थ में प्रयोग आख्यात रूप में होता है (विद्वानों का कहना है कि पश्वों में इसका प्रयोग अब भी होता है) जबकि (मध्यदेशवर्ती) आर्यों में इसी के कृदन्त रूप 'शव' का (मुर्दे के अर्थ में) होता है। इसी प्रकार पूरवी प्रदेशों में √दा का प्रयोग काटने के अर्थ में होता है जबकि उसके कृदन्त रूप 'दात्र' का प्रयोग (काटने के साधन दरांती के अर्थ में) उत्तरी प्रदेशों में होता है (पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आज भी यह इस अर्थ में प्रयुक्त होता है)।

इस सम्बन्ध में महाभाष्य का निम्नलिखित सन्दर्भ भी द्रष्टव्य है—

'एतस्मिन्नतिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते । तद् यथा—शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एव-मार्या भाषन्ते शव इति । हम्मतिः सुराष्टेषु, रंहितः प्राच्यमध्येषु । गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते । दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु ।

(म० भा० पस्पशाह्निक)

इसी सम्बन्ध में यास्क ने 'कम्बोज' शब्द का निर्वचन देने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में यह कम्बलभोज या कमनीयभोज शब्द से बना है—

(क) कम्बलभोज > कम्बोज ('ब' के 'अ', 'ल' और 'भ', का लोप)। (ख) कमनीयभोज > कम् + भोज ('अ' और 'नीय' का लोप) > कम्बोज (भ् का परिवर्तन 'ब' में)। उन्होंने 'कम्बलः कमनीयो भवति' कहकर 'कम्बल' शब्द को भी √कम् धातु से जोड़ना चाहा। 'कम्बल' को 'कम्बल' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि लोगों के लिए वह कमनीय (कामना का विषय) होता है √कम् + बल। कह नहीं सकता कि यास्क के इस निर्वचन में कितनी सार्थकता है, परन्तु काबुल के सुन्दर कम्बलों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से यास्क के इस निर्वचन का महत्त्व समझ में आ सकता है।

निम्नलिखित पंक्ति में, उपर्युक्त समास प्रकरण का उपसंहार करते हुए लेखक कहता है।

मूल—एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्।

अनुवाद—इस प्रकार (ऊपर बताए गए ढंग से) इकले समासरहित और अतद्धितान्त) शब्दों का निर्वचन करना चाहिए।

व्याख्या—लेखक का कहना है कि यहाँ तक निर्वचन के जिन सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है, जैसे—लोप, आगम, वर्णविकार, वर्णविपर्यय, सम्प्रसारण भाषा का ऐतिहासिक विकास और उसका भौगोलिक प्रसार आदि—उन सबके आधार पर भाषा के उन शब्दों का निर्वचन करना चाहिए जो अकेले हों अर्थात् जो न तो किसी समस्त शब्द के अन्तर्गत आते हों और न जिनके अन्त में कोई

तद्धित प्रत्यय आता है, ऐसा इसलिए कि यास्क ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के शब्दों के लिए जैसा कि इसके बाद के प्रकरण से स्वयं सिद्ध है, उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ और सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि अकेले शब्दों का निर्वचन केवल उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिए, किन्तु समस्त और तद्धितान्त शब्दों को निर्वचन में इनके साथ ही कुछ अन्य बातों का भी ध्यान रखना चाहिए। (एकानि च तानि पदानि-एकपदानि)।

समस्त और तद्धितान्त शब्दों का निर्वचन कैसे करना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए यास्क इन पंक्तियों में कहते हैं।

मूल—अथ तद्धित समासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वम्पूर्वम्, अपमरपर प्रविभज्य निर्ब्रूयात्।

अनुवाद—और तद्धित (प्रत्यय के योग) और समास से बने एक जोड़ तथा अनेक जोड़ वाले शब्दों में (सबसे) पहले (शब्द) को (और उसके) पश्चात् बाद वाले (शब्द) को, विग्रह के द्वारा अलग-अलग करके (उनका) निर्वचन करना चाहिए।

व्याख्या—तद्धितान्त और समस्त शब्द दो प्रकार के हो सकते हैं—(१) ऐसे शब्द जिनमें एक प्रकृति और एक प्रत्यय (तद्धितान्त में) अथवा दो शब्दों के योग से (समस्त शब्दों में) केवल एक जोड़ हो, जैसे—दण्ड्य (तद्धितान्त), जिसमें 'दण्ड' (प्रकृति) + य (तद्धित प्रत्यय) का योग है (और फलतः उनके मिलने से एक सन्धि या जोड़ है) अथवा 'राजपुरुषः' (राज्ञः पुरुषः) जिसमें 'राजन्' और 'पुरुष' इन दो शब्दों का योग है। (२) ऐसे शब्द जिनमें एक शब्द और एक से अधिक प्रत्ययों (तद्धितान्त में) अथवा दो से अधिक शब्दों (समस्त में) के योग से बनने वाले एक से अधिक जोड़ हों। तीन शब्दों के योग में दो, चार के योग में तीन जोड़ होते हैं। इस प्रकार जितने ही अधिक शब्दों का योग होगा, उतने ही जोड़ होंगे। जैसे—आवश्यकता, अवश्य शब्द में पहले वुञ् (अक) प्रत्यय करके 'आवश्यक' बनाया जाता है और तत्पश्चात् 'तल' (ता) प्रत्यय जोड़ा जाता है, में अवश्य + अक + ता' के रूप में अनेक (दो)

अनेक (दो) जोड़ हैं (वैसे 'अवश्य' शब्द में भी अ (नञ्) + √वश् + य के रूप में अनेक जोड़ हैं), तथा 'जितेन्द्रियश्चयः, जिसमें जितः इन्द्रियाणां च यः येन सः'। इस बहुव्रीहि समास के आधार पर जित + इन्द्रिय + च य' इन तीन शब्दों का योग होने से अनेक (दो) जोड़ हैं। यास्क का कहना है कि ऐसे शब्दों का निर्वचन करने के पहले उनका तद्धित और समास की दृष्टि से विग्रह करना चाहिए और तदनन्तर उनमें विद्यमान शब्दों का क्रम से निर्वचन करना चाहिए।[1]

आगे की पंक्तियों में दो तद्धित शब्दों के उदाहरण देकर उक्त सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा रहा है।

मूल—दण्डचः पुरुषो—दण्डमर्हतीति वा दण्डेन सम्पद्यते' इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः 'अक्रूरो ददते मणिम्' इत्यभिभाषन्ते; दमनादित्यौपमन्यवः। 'दण्डमस्याकर्षत' इति गर्हायाम्। कक्ष्या रज्जुरश्वस्य, कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः। क्सः इति नामकरणः, ख्यातेर्वाऽनर्थकोऽभ्यासः, किमस्मिन् ख्यानमिति वा, कर्षतेर्वा। तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षो बाहुमूलसामान्यादश्वस्य।

अनुवाद—'दण्डच पुरुष' इसमें 'दण्डच' शब्द का अर्थ है, 'दण्ड के योग्य' अथवा 'दण्ड के द्वारा सम्पन्न होने वाली वस्तु'। 'दण्ड' (शब्द) धारण अर्थ वाली √दद् (धातु) से व्युत्पन्न होता है। 'अक्रूर' मणि को धारण करता है, ऐसा (लोग) कहते हैं। औपमन्यव का कहना है कि 'दण्ड' को 'दण्ड' दमन-करने के कारण' कहते हैं। इस पर डंडा खींच दो (लगा दो)। यह निन्दा अर्थ में

---

१. यह बात समस्त शब्दों पर तो ठीक से लागू हो जाती है, किन्तु तद्धित शब्दों पर नहीं, क्योंकि उसमें एक प्रकृति के बाद अनेक प्रत्यय ही होते हैं, जिनमें निर्वचन की आवश्यकता नहीं समझी जाती। इस सन्दर्भ में 'परम्' शब्द से यास्क का अभिप्राय कदाचित् तद्धितान्त शब्द के बाद में आने वाले विशेष्य शब्द से हो, जैसे—'दण्डचः पुरुषः' में 'पुरुष' शब्द। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पहले तद्धितान्त शब्द का निर्वचन करे और तत्पश्चात् उसमें विशेष्य का।

प्रयुक्त होता है। 'कक्ष्या' घोड़े की रस्सी को कहते हैं, (क्योंकि) वह (घोड़े के) कक्ष (काँख) का सेवन करती है। 'कक्ष' (शब्द) में √गाह् (धातु) से 'क्ष' यह नामपद बनाने वाला प्रत्यय है। अथवा √'ख्या' धातु को, विना किसी प्रयोजन के द्वित्व हो गया है। अथवा 'इसमें क्या देखना' इस कारण (यह कक्ष शब्द बना है)। अथवा √कष् धातु से व्युत्पन्न है। उसकी समानता के कारण 'कक्ष' शब्द का अर्थ 'मनुष्य की काँख' होता है (और मनुष्य के) बाहुमूल की समानता के कारण (यह) अश्व (की काँख के अर्थ को व्यक्त करता है)।

व्याख्या—'दण्ड्यः पुरुषः' यह एक पर्व तद्धित शब्द का प्रथम उदाहरण है। इसमें 'दण्ड्यः' विशेषण है और 'पुरुषः' विशेष्य। 'दण्ड्यः' का निर्वचन करते हुए यास्क ने उसमें विद्यमान 'य' (यत्) प्रत्यय के दो अर्थ बतलाए हैं— 'अर्हता' और 'सम्पादन'। अर्थात् जो दण्ड के अर्ह या योग्य हो वह अथवा 'दण्ड' के द्वारा जो वस्तु या कार्य सम्पन्न किया जाए, उसे 'दण्ड्य' कहा जाता है। 'अर्ह' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय का पाणिनि ने भी ('तदर्हति' सूत्र के द्वारा) विधान किया हुआ है।

'दण्ड' को यास्क √दद् धातु, जिसका अर्थ धारण करना है, से व्युत्पन्न मानते हैं। पाणिनि के धातुपाठ में यह धातु नहीं है। सम्भव है, यास्क के समय में ऐसी कोई धातु रही है। इस सम्बन्ध में यास्क ने अपने समय में प्रचलित वाक्यगत (ददते) से उसको पुष्ट किया है। इस प्रकार, इस मत में दण्ड > √दद् + ड से निष्पन्न है। 'द्' को 'ण्' हो गया है। औपमन्यव इसे √दम् धातु से मानने के पक्ष में हैं, अर्थात् जिससे लोगों का दमन किया जाए उसे 'दण्ड' कहते हैं। इस मत में—दण्ड शब्द दम् + ड > दण्ड के रूप से निष्पन्न माना जाए, या दूसरा उदाहरण इसी अर्थ को पुष्ट कर रहा है।

'कक्ष्या' का अर्थ निर्वचन किया गया है, 'कक्षं सेवते' अर्थात् जो रस्सी घोड़े की कक्ष या काँख का सेवन करती है, उसके नीचे पड़ी रहती है, 'कक्ष्या' कहते हैं। फलतः इसका शब्द-निर्वचन होगा—कक्ष + य + आ (टाप्) > कक्ष + या > कक्ष्या।

'कक्ष्या' के घटक 'कक्ष' निर्वचन यास्क ने जो दिए हैं, वे ये हैं—

(१) जिसमें (रस्सी) अवगाहन करे उसे 'कक्ष' कहते हैं—इस अर्थ

√गाह् धातु और 'क्स' प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना है (गाह् + क्स > गा + क्स > ग + क्स > क + क्ष > कक्ष)। (२) √ख्या धातु को बिना किसी प्रयोजन[1] के द्वित्व करके सिद्ध किया जा सकता है—ख्या > ख्या + ० > ख + क्ख + ० > त + क्ष + ० > कक्ष। (३) किमस्मिन् ख्यानम्—इसके क्या दर्शनीय अर्थात् कुछ भी नहीं—इस अर्थ में 'किम् + √ख्या + ० > क + क्ख + ० > क + क्ष + ० > कक्ष)। दुर्गाचार्य ने इस निर्वचन में स्त्री के काँख का वाचक बतलाया है। (४) चौथा निर्वचन √कष् धातु जिसका, अर्थ रगड़ना है, से माना गया है—अर्थात् पसीने से युक्त होने के कारण जिसे बार-बार रगड़ा जाता है, उसे 'कक्ष' कहते हैं। इस अर्थ में इसका निर्वचन होगा—√कष् + स (प्रत्यय) > कक् + ष > कक्ष।

कषण अर्थात् रगड़े जाने की समानता के कारण मनुष्य की काँख को भी कक्ष कहा जाने लगा—तथा मनुष्य की बाहुमूल की समानता के कारण बाद में अश्व की काँख को भी इस शब्द से अभिहित किया जाने लगा।

अगले सन्दर्भ में एकपर्व तथा अनेकपर्व वाले समस्त शब्दों के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

मूल—राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः राजा। राजतेः। पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तपुरुषमभिप्रेत्य। 'यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।' इत्यपि निगमो भवति। विश्चकद्राकर्षः। वीति, चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना; कद्रातीति द्रातिकुत्सना; 'चकद्राति' कद्रातीति सतोऽन-

---

१. पाणिनि तन्त्र में धातु को 'द्वित्व' प्रायः लिट् लकार के अर्थ में होता है (जैसे 'जगाम' में मम् + गम् का द्वित्व)। परन्तु यहाँ ऐसा कोई अर्थ अभिप्रेत नहीं है। यास्क ने 'द्वित्व' के लिए 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग किया है, जो द्वित्व की प्राचीन संज्ञा है।

र्थकोऽभ्यासः, तदस्मिन्नस्तीति विश्चकद्रः। [विश्चकद्रमाकर्षति इति विश्चकद्राकर्षः] कल्याणवर्णरूपः। कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः।

अनुवाद—राजा का पुरुष राजपुरुष। राजा (राजन्) शब्द √राज् धातु से (निष्पन्न होता है) 'पुरुष' (पुरुष इसलिए कहलाता है कि वह) 'पुर' में निवास करता है, या 'पुर्' में सोता है' या 'अन्तर को पूर्ण करता है' इस अर्थ वाले 'अन्तरपुरुष' (अन्तरात्मा) को लक्ष्य कर √पूरि (धातु) से (निष्पन्न हो सकता है)। (इसी अन्तिम अर्थ को ध्यान में रखकर) यह वैदिक मन्त्र है—

'कोई भी वस्तु जिससे न बढ़कर है और न घटकर, जिससे कोई सूक्ष्म नहीं है और न जिससे कोई महान् (ही) है, जो वृक्ष के समान तनकर स्वर्ग में अकेले (ही) खड़ा है, उस पुरुष (अन्तरात्मा) ने इस सम्पूर्ण विश्व को भर दिया है।

'विश्चकद्राकर्ष' अर्थात् कुत्ते की सी गति वाला जुए पासा। 'वि' इससे युक्त 'चकद्र' यह शब्द कुत्ते की सी गति वाले के अर्थ में प्रयुक्त होता है। √'द्रा' (धातु) का अर्थ है कुत्सित गति 'कद्रा' का अर्थ है कुत्सित द्रा (अत्यन्त कुत्सित चाल); 'चकद्रा' शब्द 'कद्रा' के निश्प्रयोजन द्वित्व से निष्पन्न है। यह (चकद्रा) इसमें है, इसलिये यह 'विश्चकद्र' (कहलाता) है।

कल्याणवर्णरूप अर्थात् सुन्दर रंग के समान रूप वाला। इसका रूप कल्याण (सोने) के वर्ण जैसा है (इसलिए यह कल्याणवर्णरूप है)। कल्याण कमनीय होता है। √वर्ण शब्द √वृ (आवृत करना) धातु से (निष्पन्न है)। 'रूप' शब्द √रुच् (चमकना) धातु से (निष्पन्न है)।

व्याख्या—यास्क ने 'राजपुरुष' के अङ्गभूत 'राजन्' (प्रातिपदिक) का निर्वचन √राज् (ऐश्वर्य) से किया है, अर्थात् राजते इति राजा (√राज् + अन्)। पाणिनि ने इस धातु को दीप्त्यर्थक बतलाया है। कालिदास ने इसका निर्वचन √रञ्ज् धातु से मानने का संकेत दिया है, जैसे कि 'रघुवंश' के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

'तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्'।

'पुरुष के निम्नलिखित तीन निर्वचन किए गए हैं—

(क) पुरि (नगरे) 'सीदति' इस अर्थ में पुरि + √सद् + अ (घञ्) > पुरिपादः > पुरुषादः पुरुषः, (ख) 'पुरि शेते' (नगर में सोता है, पड़ा रहता है) इस अर्थ में पुरि + शी (स्वप्ने) + अ (अच्) > पुरिशयः > पुरुषः, (ग) तीसरा निर्वचन भरना या पूर्ण करना अर्थ वाली √पॄ धातु से माना गया है, विशेषकर उसके 'अन्तरात्मा' वाले अर्थ को लेकर । क्योंकि आत्मा ने अपने व्यापक (ईश्वर) रूप में समस्त संसार को पूर्ण (व्याप्त) कर रखा है, इसलिए उसे 'पुरुष' कहते हैं—'पूरयतीति पुरुषः' इस अर्थ के अनुसार √पॄ + णिच् = पूरि + स (प्रत्यय) > पुरुष । 'स' को 'सर्व' का संक्षिप्त रूप भी माना जा सकता है। उदाहरणभूत वैदिक मन्त्र के 'पूर्णं' 'पुरुषेण' 'सर्वम्' में सम्भवतः इसी तथ्य की ओर संकेत है, किन्तु यास्क का ध्यान उस ओर नहीं गया प्रतीत होता है ।

'विश्चकद्राकर्ष' अनेक (दो) पदी समास का उदाहरण है । इसमें प्रमुखतः दो पद हैं—'विश्चकद्र' और 'आकर्ष' । इनमें से यास्क ने केवल 'विश्चकद्र' का निर्वचन किया है । उनकी दृष्टि में 'चकद्र'[1] शब्द 'वि' इस शब्द के साथ युक्त होकर 'कुत्ते की गति वाला' इस अर्थ को व्यक्त करता है । 'चकद्र' शब्द कद् (कु) पूर्वक √द्रा धातु, जिसका अर्थ कुत्सित चाल होता है, से निष्पन्न हुआ है—कुत्सिता द्रा—कद्रा > चकद्रा निरर्थक (द्वित्व होने पर) जिसका अर्थ होता है ('अत्यन्त कुत्सित चाल'), तदुपरान्त 'वि'[2] के साथ इसका बहुव्रीहि

१, 'कुत्सित गति' रूप अर्थ का बोधक शब्द 'चकद्रा' होना चाहिए, 'चकद्र' नहीं । किन्तु 'निरुक्त' के सभी संस्करणों में यही शब्द मिलता है ।

२. कतिपय विद्वानों ने यास्क के 'तदस्मिन्नस्तीति' इस वाक्य से यह अर्थ निकाला है कि पूर्ववर्ती 'वि' शब्द मतुप् प्रत्यय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । परन्तु यह उनका भ्रम ही प्रतीत होता है, क्योंकि यास्क ने इस प्रकार का और कोई उदाहरण नहीं दिया है । दूसरे 'वि' शब्द को उपसर्ग मानकर उसका 'चकद्रा' के साथ समास करके उपर्युक्त (मतुप् प्रत्यय वाले) अर्थ को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है । वास्तव में यास्क के उपर्युक्त वाक्य के केवल अर्थ को देखा जाना चाहिए, उसकी (मतुप् प्रत्यय के विग्रह में प्रयुक्त होने वाली) रचना-शैली को नहीं ।

समास—विशिष्टा (वि) चकद्रा अस्त्यस्येति—'विश्चकद्रः' (बीच में 'हरिश्चन्द्र' के समान 'श्' का आगम)। पश्चात् 'विश्चकद्रश्चासौ आकर्षश्च' के रूप में कर्मधारय समास से 'विश्चकद्राकर्ष' रूप सिद्ध होता है।

विभिन्न व्याख्याकारों ने 'आकर्ष' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं, किन्तु यहाँ उसका सही अर्थ 'जुए का पासा' ही प्रतीत है, जैसा कि श्री शिवनारायण शास्त्री ने सप्रमाण सिद्ध किया है। जुए की पासे की चाल कुत्ते की चाल के समान अत्यन्त कुत्सित होती है।

'कल्याण वर्णरूपः' तीन शब्दों के अनेकादी समास का उदाहरण है। इसका अर्थ है सुन्दर (कल्याण) रंग के समान रूप वाला—कल्याणश्चासौ वर्णः कल्याणवर्णः, तस्य रूपमिव रूपं यस्यासौ—'कल्याणवर्णरूपः'। 'कल्याण' को यास्क ने 'कमनीय' से जोड़ा है क्योंकि प्रत्येक कल्याण चाहा जाता है। इस प्रकार उसकी निष्पत्ति √कम् (इच्छार्थक) + याण > कल्याण ('म्' का परिवर्तन 'ल्' में) के रूप में प्रतीत होती है।

'वर्ण' शब्द का निर्वचन √वृञ् (आच्छादनार्थक) + न 'वर्ण' और 'रूप' का निर्वचन √रुच् + रूप के रूप में किया गया है, जैसा कि संकेतों से स्पष्ट है।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हुए यास्क अग्रिम पंक्तियों में कहते हैं।

मूल—एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात्। नैकपदानि निर्ब्रूयात्।

अनुवाद—इस प्रकार (ऊपर बताए गए के अनुसार) तद्धितान्त और समस्त शब्दों का निर्वचन करना चाहिए। (किन्तु) इक्के-दुक्के (सन्दर्भ-रहित) शब्दों का निर्वचन नहीं करना चाहिए।

व्याख्या—यास्क का कथन है कि तद्धितान्त और समस्त शब्दों का निर्वचन उपर्युक्त रीति से करना चाहिए अर्थात् सबसे पहले उनका विग्रह करना चाहिए

१. द्रष्टव्य 'निरुक्त' (१, २, ७ अध्याय) पृ० १२६।

और उसके बाद में उनमें आने वाले शब्दों का उनके क्रम से—पहले का पहले और बाद वाले का बाद में—निर्वचन करना चाहिए।

'नैक···याता'—से यास्क का आशय यह है कि उन्हीं शब्दों का निर्वचन करना चाहिए, जिनका सन्दर्भ अज्ञात हो। जिनका सन्दर्भ ज्ञात हो, जो वाक्य या सन्दर्भ से विछिन्न होकर इक्के-दुक्के के रूप में प्राप्त होते हैं, उनका निर्वचन नहीं करना चाहिए। ऐसा इसलिए कि यास्क निर्वचन का आधार अर्थ को मानते हैं और जटिल रचना वाले शब्दों का अर्थबोध केवल उनके सन्दर्भ के आधार पर ही हो सकता है, सन्दर्भ के अभाव में नहीं। इसलिए जिन शब्दों का सन्दर्भ न हो, उनके निर्वचन का प्रयास ही नहीं करना चाहिए। (एकानि सन्दर्भरहितानि पदानि एकपदानि)॥३॥

अगले सन्दर्भ में, 'निरुक्त' का अध्ययन करने का अधिकारी कौन है, यह बतलाया गया है।

मूल—नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा; नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्, यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्, मेधाविने, तपस्विने वा।

अनुवाद—(शब्दों का) निर्वचन (अथवा उसकी विद्या का उपदेश) व्याकरण न जानने वाले (व्यक्ति) के लिए नहीं करना चाहिए, (जिज्ञासा की भावना से विनीत शिष्य के रूप में) निकट न आने वाले के लिए नहीं करना चाहिए (और) इस (निरुक्तशास्त्र) को न समझने वाले व्यक्ति के लिए (भी) नहीं करना चाहिए, क्योंकि (शास्त्र को) न समझने वाले व्यक्ति भी, विज्ञान के प्रति, सदैव दोषबुद्धि होती है (वह उसमें केवल दोष ही ढूंढता है)। जिज्ञासा की भावना से शिष्य के रूप में) निकट आने वाले के लिए (निरुक्तशास्त्र का उपदेश) करना चाहिए, जो (निरुक्तशास्त्र को) विशेष रूप से समझने में समर्थ हो (उसके लिए इसका उपदेश करना चाहिए) तथा जो मेधावी और तपस्वी (कष्ट सहिष्णु) हों (उनके लिए इसका उपदेश करना चाहिये)।

व्याख्या—यास्क ने निर्वचन का उपदेश प्राप्त करने वाले व्यक्ति में तीन बातों का होना अत्यावश्यक बताया है—

(१) **व्याकरण का ज्ञान**—यास्क ने 'निरुक्त' को व्याकरण का पूरक (व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्) कहा है। व्याकरण प्रकृति प्रत्यय ज्ञानपूर्वक 'पद' का ज्ञान कराता है और तदुपरान्त 'निरुक्त' उसके अर्थ का ज्ञान। इसलिए 'निरुक्त' के अध्ययन में उतरने से पूर्व व्यक्ति को व्याकरण का अच्छा अभ्यास कर लेना चाहिए।

(२) **जिज्ञासा**—यह वह गुण है जिसके अभाव में व्यक्ति वैयाकरण और असाधारण मेधावी होते हुए भी निर्वचन-शास्त्र में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि वह कुछ जानने के लिए नहीं अपितु दूसरों पर अपना पाण्डित्य प्रकट करने के लिए दूसरों को खोजेगा। जिज्ञासा मनुष्य को विनीत बनाती है और फलतः वह शिष्य बनकर गुरु से विद्या ग्रहण करता है।

(३) **इदं विदता**—अर्थात् निरुक्त को समझने के सामर्थ्य। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि प्रत्येक व्यक्ति की रुचि और सामर्थ्य भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। एक शास्त्र का धुरन्धर विद्वान् आवश्यक नहीं कि दूसरे शास्त्रों में वैसी सामर्थ्य और गति प्राप्त कर ले। इसलिए निरुक्त का अध्ययन करने के इच्छुक व्यक्ति में, अन्य बातों के अतिरिक्त इस विशिष्ट गुण का होना भी अत्यावश्यक है।

अध्येता का मेधावी और तपस्वी (कष्ट-सहिष्णु या परिश्रमी होना) सामान्य गुण है।

इसी सन्दर्भ में यास्क ने स्वोपज्ञ अथवा परम्परा-प्राप्त निम्नलिखित उद्धृत किया है।

मल—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥१॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णाविदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥२॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥३॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूहि निधिपाय ब्रह्मन् ॥४॥
निधिः शेवधिरिति ॥४॥

अनुवाद—विद्या ब्राह्मण के पास आई (और बोली—हे ब्रह्मन् ! तुम) मेरी रक्षा करो; मैं तुम्हारी निधि हूँ। (तुम) मेरा उपदेश, असूया (गणों को दोष के रूप में देखना) करने वालें, कुटिल और अजितेन्द्रिय (व्यक्ति) को मत करना, ऐसा करने से मैं शक्तिशालिनी होऊँगी ॥१॥ कष्ट न देता हुआ तथा (आनन्दरूपी) अमृत प्रदान करता हुआ जो (गुरु) सत्य (ज्ञान) के द्वारा (शिष्य के) कानों को कुरेदता है (कानों के माध्यम से शिष्य को ज्ञान प्रदान करता है) उस (गुरु) को (अपना) पिता और माता मानना चाहिए तथा उससे किसी भी अवस्था में द्रोह नहीं करना चाहिए ॥२॥ (किसी गुरु के द्वारा) पढ़ाए गए जो ब्राह्मण (शिष्य) वाणी, मन और कर्म से गुरु का आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरु के कृपापात्र (रक्षणीय) नहीं होते उसी प्रकार, (उनके द्वारा अध्ययन किया जाता हुआ) वह (शास्त्र) भी उनकी रक्षा नहीं करता ॥३॥ (इसलिए) हे ब्रह्मण ! (तुम) जिस किसी को भी पवित्र, प्रमाद न करने वाला, मेधावी, ब्रह्मचर्य से युक्त (तपस्वी) समझते हो (तथा) जो तुमसे किसी भी अवस्था में—कभी भी—द्रोह न करता हो, उस (ज्ञानरूपी) निधि की रक्षा करने वाले के लिए मेरा उपदेश करना ॥४॥

'शेवधि' का अर्थ निधि (खजाना है) ।

व्याख्या—इन चारों श्लोकों में गुरु के महत्त्व के प्रतिपादन के साथ-साथ, गुरु के प्रति शिष्य के कर्त्तव्य और विद्या ग्रहण के लिए आवश्यक उसके गुणों का वर्णन किया गया है । इनमें शिष्य के लिए जिन आवश्यक बातों का उल्लेख किया गया है, वे ये हैं—

(१) असूया, (२) निश्छलता, (३) जितेन्द्रियता, (४) पवित्रता, (५) अप्रमाद (६) ब्रह्मचर्य, (७) निधियत्व अर्थात् विद्यारूपी खजाने की रक्षा करने की सामर्थ्य और (८) गुरुभक्ति। यास्क द्वारा ऊपर बताए गए गुणों में 'इदं विदता' में 'असूया' ओर 'निश्छलता का, जिज्ञासा में गुरुभक्ति का, 'तपस्या' में अप्रमाद, ब्रह्मचर्य और जितेन्द्रियता का तथा वैयाकरणत्व में निधित्व का समाहार हो जाता है 'मेधावित्व दोनों में सामान्य है।

इन पंक्तियों में शिष्य के जिस गुण पर सर्वाधिक बल दिया गया है, वह है उनका निधित्व—विधा निधि की रक्षा में समर्थ होना। निधि की यह रक्षा उसकी असाधारण विद्वत्ता और सत्पात्रों में विद्या के प्रवचन से ही हो सकती है। जिस व्यक्ति में इस प्रकार की योग्यता का आभास हो, उसी को विद्या का उपदेश करना चाहिए, अन्य को नहीं—यह आशय है।

प्रथम श्लोक के 'शेवधि' का शब्द का अर्थ यास्क ने निधि दिया है, इससे उसका निर्वचन 'शेव + √धा + इ (कि)' के रूप में स्पष्ट है।

उपर्युक्त श्लोकों से मिलते-जुलते कुछ मनु में भी मिलते हैं—

विद्या ब्रह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्षमाम्।
असूयकाय मां मां दा स्तथा स्यां वीर्यवत्तमा।।
यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपाया प्रमादिने।।

(मनुस्मृति २/११४, ११५)

।। प्रथम पाद समाप्त ।।

—:०:—

द्वितीयः पादः

यहाँ तक यास्क ने, निर्वचन से सम्बद्ध आवश्यक बातों की जानकारी दी है और अब वे 'निघण्टु' में संकलित पर्यायवाची तथा अन्य प्रकार के शब्दों में से कुछ का निर्वचन प्रारम्भ करने जा रहे हैं । (निघण्टु के जिस शब्द-समूह से यास्क निर्वचनार्थ शब्द चयन करेंगे, उसका उल्लेख हम स्थान-स्थान पर पादटिप्पणियों में करते जायेंगे)

मूल—अथातोऽनुक्रमिष्यामः ।

अनुवाद—इसके पश्चात् (अब), यहाँ से (शब्दों के निर्वचन का) प्रारम्भ करेंगे ।

व्याख्या— यहाँ तक निर्वचन से सम्बद्ध बातों का प्रतिपादन किया गया, फलतः अब शब्दों का निर्वचन अवसर प्राप्त है । इसीलिए, यास्क, इस द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद से निर्वचन प्रारम्भ करेंगे ।

इस सम्बन्ध में वे सर्वप्रथम 'गो' के निर्वचन को ले रहे हैं ।

मूल—(१) गौरिति[1] पृथिव्या नामधेयम्—यद् दूरं गता भवति; यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति । गातेर्वोकारो नामकरणः ।

अनुवाद—'गो' यह पृथिवी का नाम (वाचक शब्द है)—क्योंकि यह दूर तक गई है; क्योंकि इस पर (भौतिक) पदार्थ गमन करते हैं; अथवा

---

१. निघण्टु में संकलित पृथिवी के पर्यायवाची शब्द ये हैं—
(१) गौः, (२) रमा, (३) ज्मा, (४) क्ष्मा, (५) क्षा, (६) क्षमा, (७) क्षोणी, (८) क्षितिः, (९) अवनिः, (१०) उर्वी, (११) पृथिवी, (१२) मही, (१३) रिपः, (१४) अदितिः, (१५) इळा, (१६) निर्ऋतिः, (१७) भूः, (१८) भूमिः, (१९) पूषा, (२०) गातुः, (२१) गोत्राइत्येक विंशतिः पृथिवी-नामधेयानि ।

√गा धातु में नाम बनाने वाले प्रत्यय 'ओ' (के योग) से (यह निष्पन्न हुआ है)।

व्याख्या—पृथिवी के वाचक शब्द 'गो' का निर्वचन यास्क ने एक ही अर्थ वाली दो धातुओं—'गम्' और 'गा' (पाणिनि 'इण्' > गाङ्) से मानते हैं। 'ओकारो नामकरण:' का सम्बन्ध दोनों से है। पृथिवी को 'गो' इसलिये कहते हैं, क्योंकि वह दूर-दूर तक गई (फैली) हुई है, या इसलिए कि उस पर पदार्थ गमन करते हैं। दोनों ही अर्थों में 'गमन' क्रिया (√गम् धातु) का दर्शन हो रहा है। फलत: 'गो' का निर्वचन √गम् + ओ (पाणिनि—'डो') > गो होगा। 'गा' के रूप लौकिक संस्कृत में प्राप्य नहीं हैं। हो सकता है कि यास्क के समय यह धातु प्रचलन में रही हो। पाणिनि ने इसके स्थान पर 'इण्' और कुछ लकारों में उसके स्थान पर √गाङ् (अगात् जैसे रूपों में) का आदेश माना है। अस्तु 'गो' की व्युत्पत्ति 'गो' से मानने पर निर्वचन वाक्य में उसके 'गाति' जैसे रूपों का अध्याहार करना होगा—अर्थात् 'गातीति-गो:' (गा + ओ > ग् + ओ = गो)।

आगे की पंक्तियों में 'गो' शब्द के अन्य (ताद्धित और मुख्य) अर्थों के सम्बन्ध में उसके निर्वचन को स्पष्ट किया जा रहा है।

मूल—(२) अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति—(क) 'ग्रोभि: श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ९/४६/४) इति पयस:। मत्सर: सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मण:। 'मत्सर:' इति लोभ नाम। अभिमत्त: एनेन धनं भवति। पय: पिबतेर्वा, प्यायतेर्वा। क्षीरं क्षरते:, घसेवेरो नामकरण:, 'उशीरम्' इति यथा। (ख) 'अंशुं दुहन्तो ऽध्यासते गवि, (ऋ० १०/९४/९) इत्यधिषवणचर्मण:। अंशु: शमष्टमात्र: भवति, अननाय शं भवतीति वा। चर्म चरतेर्वा, उच्चृतं भवतीति वा। (ग) अथापि चर्म च श्लेष्मा च—'गोभि: सन्नद्धो असि वीळयस्व' (ऋ० ६/४७/२६) इति रथस्तुतौ। (घ) अथापि स्नाव च श्लेष्मा च 'गोभि: सन्नद्धा पतति प्रसूता' (ऋ० ६/७५/११) इतीषु स्तुतौ।

(ङ) ज्यापि गौरुच्यते । गव्या चेत् ताद्धितम् । (इ) अथ चेन्न गव्या, 'गमयतीषून्' इति । 'वृक्षे-वृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वय: प्र पतान् पूरुषाद:' (ऋ० १०/२७/२२) वृक्ष-वृक्षे=धनुषि-धनुषि । वृक्षो व्रश्चनात् नियता मायत् गौ:—शब्दं करोति; मीमयति: शब्दकर्मा । ततो वय: प्रपतन्ति पुरुषानदनाय । विरिति शकुनिनाम । वेतेर्गतिकर्मण: । अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त, इसी (गमन करने के) कारण, यहाँ (यह 'गौ' शब्द) पशु का (भी) नाम (वाचक) है । इसके अतिरिक्त इस (गाय नामक पशु के वाचक) शब्द में तद्धित अर्थ में पूर्ण (गो) शब्द वाले वैदिक उदाहरण होते हैं—'मत्सर (मतवाला बना देने वाले) को 'गो' (दुग्ध) के साथ पकाओ ।'[1] इस (उदाहरण) में (गो शब्द) दुग्ध (के अर्थ) का (वाचक है) । 'मत्सर' (शब्द) का अर्थ 'सोम' है (और वह) 'तृप्त करना' अर्थ वाली √मन्द् धातु से (निष्पन्न होता है) । (लोक में) 'मत्सर' लोभ का नाम है, (क्योंकि) इसके द्वारा (व्यक्ति) धन के प्रति मतवाला हो जाता है । 'पयस्' शब्द या तो √पिब् (पाणिनि 'पा') धातु से (निष्पन्न होता है) या √प्यै धातु से । ('पयस्' का पर्यायवाची) क्षीर' (शब्द) √क्षर् धातु से (निष्पन्न होता है) या (√वश् धातु से) 'उशीर' के समान, √घस् धातु से 'ईर्' नामकरण (नाम बनाने वाले प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है) । (ख) अंशु (सोमरस) को दुहते हुए 'गो' पर बैठते हैं ।[2] इसमें 'गो' शब्द अधिषवणचर्म (जिस पर बैठकर सोम को कूटा जाता था ऐसा विशिष्ट चमड़ा) का वाचक है । (सोमरस) 'अंशु' (इसलिए है

१. मन्त्र इस प्रकार है—
आधावतासुहस्त्य: शुक्रा गृम्णीत् मन्थिना ।
गोभि: श्रीणीत मत्सरम् ॥ (ऋ० ९/४६/४)

२. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि ।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते ॥
(१०/४/९)

कि वह) 'पीनेमात्र से कल्याणकारी होता है' अथवा जीवनयात्रा के लिए कल्याणकारी होता है, 'चर्म' शब्द या तो √चर् धातु से (निष्पन्न होता है) या (वह मृत पशुओं के शरीर से) उधेड़ा हुआ होता है—इसलिये (उसे चर्म कहा जाता है)। (ग) इसके अतिरिक्त 'गो' (शब्द) चमड़ा और सरेस को भी (कहते हैं)—जैसे रथ की प्रशंसा में (प्रयुक्त) 'गो' (के चमड़े और सरेस से) वेष्टित (हे रथ ! तु) मजबूत हो[1] इस (मन्त्र का 'गो' शब्द)। (घ) इसके अतिरिक्त ('गो' शब्द) नस और सरेस (के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है) जैसे—वाण की प्रशंसा में (प्रयुक्त) 'गो' (गाय की नसों और सरेस) से मंढा हुआ (तथा धनुष से) फेंका हुआ (वाण) उड़ रहा है।[1] इस मन्त्र का ('गो' शब्द)। (ङ) प्रत्यञ्चा को भी 'गो' कहते हैं। यदि वह गाय (के चमड़े आदि) से बनी हो तो तद्धित (लक्ष्यार्थ) है और यदि गाय के (चमड़े आदि) से निर्मित नहीं हो तो उसे 'गो' इसलिए (कहते हैं क्योंकि) वह बाणों को गमन कराती (और उन्हें फेंकती है)। वृक्ष-वृक्ष में बंधी हुई प्रत्यचा (गो) शब्द कर रही है (और) उससे मनुष्यों का भक्षण करने वाले पक्षी (बाण) उड़ रहे हैं।' वृक्ष-वृक्ष में धनुष-धनुष में। वृक्ष शब्द √व्रश्च् धातु से (निष्पन्न होता है)। बंधी प्रत्यचा 'मीम्' करती है अर्थात् शब्द करती है। √मीम् धातु 'शब्द क[रने]' अर्थ वाली है। उससे पुरुषों को खाने के लिए पक्षी (बाण) उड़ते (तेज चलते) हैं। 'वि' हय पक्षी का नाम है (वह) गति अर्थ वाली √वी धा[तु से] (निष्पन्न है), इसके अतिरिक्त वह, इसी कारण अथवा धातु से 'बाण' का नाम (वाचक शब्द) होता है।

---

१. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वाऽऽस्थाता ते जयतु जेत्वानि॥
(ऋ० ६/४७

२. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥
(ऋ० ६/७५

व्याख्या--इस समस्त सन्दर्भ में यास्क ने 'गो' शब्द के दूसरे 'गोपथ' रूप मुख्य अर्थ तथा उसके कतिपय लक्ष्यार्थों को प्रस्तुत किया है। जैसे—

वे कहते हैं कि जिन कारणों से 'गो' शब्द पृथिवी का वाचक है, उन्हीं कारणों से वह 'गाय' पशु का भी वाचक है अर्थात् गाय गमन करती है (गौः गच्छति) और प्राणी उसके द्वारा गमन करते हैं (भूतानि अनया गच्छन्ति) इन व्युत्पत्तियों के अनुसार 'गो' शब्द, पशु अर्थ में भी √गम् अथवा √गा धातु और 'ओ' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होगा।

इसके लक्ष्यार्थों की चर्चा करते हुए यास्क कहते हैं—'अस्यां तद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा[1] भवन्ति।' इस पंक्ति का आशय यह कि 'गो' शब्द का यह जो 'पशु' रूप अर्थ होता है, उसके ताद्धित अर्थात् लक्ष्यार्थ में भी, वैदिक मन्त्रों में, पूरे 'गो' शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् वेदों में 'गो' शब्द का प्रयोग केवल 'गाय' नामक पशु के ही अर्थ में नहीं पाया जाता अपितु उससे सम्बद्ध विभिन्न पदार्थों जैसे—गाय का चमड़ा, सरेस, नश और उसके चमड़े से बने पदार्थों के अर्थ में भी होता है। ये सम्बद्ध अर्थ लक्ष्यार्थ हैं, किन्तु यास्क इन्हें ताद्धित (तद्धित प्रत्यय 'अण्' आदि के योग से निष्पन्न होने के कारण) कहते हैं।

'गो' शब्द के लक्ष्यार्थ निम्न हैं :—

(क) 'गोभिः···मत्सरम्, में सोम रस को 'गो' के साथ पकाने के लिए कहा गया है, चूँकि उसे गाय पशु के साथ नहीं पकाया जा सकता, इसलिए इसका मुख्य अर्थ 'गाय पशु' लेकर लक्ष्यार्थ 'गोदुग्ध' लिया जाता है। तात्पर्य है कि इस उदाहरण में 'गो' शब्द 'गोदुग्ध' रूप लक्ष्यार्थ का बोधक है।

प्रस्तुत उदाहरण के कुछ शब्दों के निर्वचन पर भी यास्क की दृष्टि गई है। जैसे—

'मत्सर' सोम को कहते हैं क्योंकि उसे पीकर लोग तृप्त होते हैं, इसलिए 'तृप्ति' अर्थ वाली √मन्द् धातु 'सर' प्रत्यय के योग से यह शब्द निष्पन्न होता है। √मन्द + सर > मद + सर > मत्सर।

---

१. यहाँ 'निगम' शब्द का अर्थ वैदिक मन्त्र या प्रयोग है।

क्योंकि लोभ के कारण व्यक्ति धन के प्रति मतवाला हो जाता है, इसलिए, कालान्तर में (लोक में) यही शब्द 'लोभ' का भी बोधक बन गया।

'पयस्' जिसका प्रयोग स्वयं यास्क ने किया है, का निर्वचन वे धातुओं से करते है (i) क्योंकि उसे पिया जाता है। (पीयेत इति पयः) इसलिए √पा (पानार्थक) + अस् (असुन्) > पे + अस् > पयस् (और) (ii) क्योंकि उसके द्वारा लोग पुष्ट होते हैं, इसलिए √प्यैं (पा प्यासी) + अस् (असुन्) > प्य + अस् > ('य' 'अ' का व्यत्यय करने पर) 'पयस्' शब्द सिद्ध होता है।

'क्षीर' शब्द का प्रयोग न तो वैदिक उद्धरण में है और न ही यास्ककृत व्याख्या में। फिर भी वह 'पयस्' का पर्यायवाची है, इसलिए स्मरण होने मात्र से यास्क उसका भी निर्वचन करते हैं—'क्षीर' क्योंकि थन से चूता है, इसलिए वह 'क्षीर' है (क्षरतीति क्षीरम्') और इसीलिए वह √क्षर् (चूना अर्थ वाली) धातु और 'ईर' प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना जाएगा। इसका दूसरा विकल्प यह है कि जिस प्रकार √वश् धातु और 'ईर' प्रत्यय के योग 'उशीर' (वश् + ईर > उश् + ईर > उशीर) सिद्ध होता है उसी प्रकार भक्षणार्थक √घस् धातु और 'ईर' प्रत्यय के योग से उसे निष्पन्न माना जा सकता है (घस् + ईर > गस् + ईर > कस् + ईर > क्ष् + ईर > क्षीर) और उसका अर्थ होगा ऐसा पदार्थ जो भक्षणीय हो (घस्यते इति क्षीरम्)।

(ख) 'अशुं··· · गवि' यह दूसरे लक्ष्यार्थ का उदाहरण है। इसमें सोम दुहते या कूटते समय 'गो' पर बैठने का उल्लेख है, किन्तु 'गाय' रूप पशु पर बैठकर तो यह काम किया नहीं जा सकता, इसलिए यहाँ पर उसका मुख्य 'गाय' रूप पशु अर्थ न लेकर लक्ष्यार्थ 'गोचर्म' लिया जाता है। तात्पर्य यह यहाँ 'गो' शब्द 'गोचर्म' रूप लक्ष्यार्थ का बोधक है, 'गोपशु' रूप मुख्यार्थ नहीं।

इस उदाहरण के 'अंशु' और लक्ष्यार्थ 'चर्म' का निर्वचन इस प्रकार करते हैं :—

'अंशु' सोमरस को कहते हैं, क्योंकि वह पीते या व्याप्त होते ही कल्याणकारी होता है। 'व्याप्त' के 'अष्ट' और कल्याणकारी के 'शम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अष्ट' शब्द √अश् (व्याप्त्यर्थक) से बनता है। इसलिए √

+शम् > अंशु ('श' का लोप और 'म्' का 'अ' के बाद आगमन) । दूसरा निर्वचन √अन् + शम् के रूप में किया गया है, क्योंकि वह 'अनन' अर्थात् (सांस लेना) जीवन के लिए कल्याणकारी है—√अन् + शम् > अंशम् > अंशु ('म्' का लोप और 'अ' का 'उ' के रूप में परिवर्तन) ।

'चर्म' के दो निर्वचन हैं । क्योंकि 'चर्मन्' के कारण शरीर को गति मिलती है, इसलिए गत्यर्थक √चर् धातु मन् प्रत्यय करके इसे सिद्ध किया जाता है । (√चर् + मञ् > चर्मन्) । दूसरा निर्वचन √चृत् धातु से किये जाने का संकेत है । क्योंकि पशु के मर जाने के पश्चात् चमड़ा उसके शरीर पर से उधेड़ा जाता है । फलतः—√चृत् + मन् > चर् + मन् = चर्मन) ।

(ग) 'गोभिः······वीळयस्व' यह तीसरे लक्ष्यार्थ का उदाहरण है । इसमें रथ का वर्णन करते हुए उसके 'गो' से मढ़े जाने का उल्लेख है । जिसके द्वारा किसी को मढ़ा जाता है वह रस्सी जैसा ही कोई पदार्थ हो सकता है 'गाय' जैसा नहीं । फलतः यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ 'गाय' नहीं, अपितु गाय के चमड़े की बनी रस्सी अथवा सरेस ही ग्राह्य है । यह गो शब्द का लक्ष्यार्थ है ।

(घ) 'गोभिः····· प्रसूता' यह गो शब्द के चतुर्थ लक्ष्यार्थ का उदाहरण है । इसमें बाण का वर्णन है और 'गो' से मढ़ा हुआ या वेष्टित होकर तेजी से गति करने का उल्लेख है । बाण गाय की नस और सरेस से मढ़ा जा सकता है, गाय नामक पशु से नहीं । फलतः यहाँ पर भी 'गो' शब्द 'गाय का बोधक न होकर गाय की नस और सरेस का बोधक है ।

(ङ) पाँचवें लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में यास्क का कहना है कि धनुष की प्रत्यंचा, यदि वह गाय के चमड़े की बनी हो (गोविकारः गव्या — गो + यत् + आ (टाप्) तो 'गो' शब्द का लक्ष्यार्थ होगा । किन्तु यदि वह गाय के चमड़े से बनी हुई न होकर अन्य किसी से बनी हुई हो तो उस स्थिति में वह गो शब्द वाच्य होते हुए 'गो' शब्द का लक्ष्यार्थ न होगी । ऐसी स्थिति में उसे 'गो' शब्द का तीसरा मुख्यार्थ मानना चाहिए और उसका निर्वचन करना चाहिए । √गम् + णिच् + ओ' से क्योंकि वह बाणों का गमन कराती है, उसका प्रक्षेपण करती है, इसलिए उसे 'गौः' कहते हैं ।

इस लक्ष्यार्थ के लिए दिए गए उद्धरण के 'वृक्ष' शब्द का अर्थ यास्क ने 'धनुष' किया है तथा उसका निर्वचन 'काटा जाना' अर्थ वाली √'व्रश्च्' धातु से किया गया है। पेड़ और धनुष दोनों ही काटे जाते हैं (पेड़ कुल्हाड़े आदि से, धनुष बाण से) इसलिए दोनों ही 'वृक्ष' हैं—व्रश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः—√व्रश्च् + स > वृक् + ष > वृक्ष)।

'अमीमयत्' का अर्थ यास्क ने 'शब्दं करोति' किया है। अनेक व्याख्याकारों ने इसे √मीम् धातु का रूप माना है। किन्तु श्री शिवनारायण शास्त्री के मतानुसार यह अभ्यस्त 'मी' धातु का रूप है, जिसका अर्थ 'शब्द करना' होता है तथा जिससे 'मायु' जैसे शब्द बनते हैं। (द्रष्टव्य—शिवनारायण शास्त्री 'निरुक्त' पृ० १३२)।

'वयः' के प्रातिपदिक के 'वि' के दो अर्थ किए गए हैं, 'पक्षी' और 'वाण'। और दोनों ही अर्थों में इसे गत्यर्थक √वी धातु से माना गया है—√वी + इण् > वि।

अगली पंक्तियों में 'गो' शब्द के कुछ अन्य अर्थों पर प्रकाश डाला गया है।

मूल—(३) आदित्योऽपि गौरुच्यते—'उतादः परुषे गवि'[1] (ऋ० ६/५६/३)। पर्ववति। भास्वतीत्यौपमन्यवः। (४) अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते। तदेतेनोपेक्षितव्यम्—'आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति' इति। 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः' (वा० सं० १८/१४) इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते—'अत्राह गोरमन्वत'[2]

१. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
'उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद्रथीतमः ॥' (६/५६/३)

२. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—
अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे। (ऋ० १/८४/१५)

(ऋ० १/८४/१५) इति। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। (१५) सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते ॥६॥

अनुवाद—(३) आदित्य को भी 'गो' कहते हैं—'और उस (हिरण्मय चक्र को) पर्ववाले आदित्य में (इस उद्धरण में आए 'पुरुषे' शब्द का अर्थ) पर्ववाला (जोड़ वाला) है। औपमन्यव के मत में (इसका अर्थ) 'चमकीला' है। (४) इसके अतिरिक्त इस (आदित्य) की एक रश्मि चन्द्रमा की ओर चमकती है। उसे इस के द्वारा समझना चाहिए, (क्योंकि) 'इस (चन्द्रमा) की चमक आदित्य के द्वारा ही होती है, यह (कहा गया है)। 'सूर्य की रश्मि सुषुम्ण है (और चन्द्रमा गन्धर्व है' यह भी वेदमन्त्र है। उसे भी 'गो' कहा जाता है। 'यहाँ आदित्य की (रश्मि को) माना' यह (उदाहरण है)। इसकी व्याख्या (हम) बाद में करेंगे। (५) सभी (प्रकार की) रश्मियों को 'गो' कहते हैं—॥६॥

व्याख्या–(४) 'गो' शब्द के चौथे (और अगव्या ज्या रूप अर्थ को लेकर पाँचवें) अर्थ को स्पष्ट करते हुए यास्क का कहना है कि 'गो' शब्द का अर्थ 'आदित्य' भी होता है। इसका उन्होंने जो वैदिक उदाहरण दिया है उसके 'परुषे' शब्द का अर्थ स्वयं यास्क ने 'पर्ववान्' (पोरों वाला या जोड़वाला) और औपमन्यव ने 'भास्वान्' (चमकीला) किया है। उदाहरणगत 'परुषे' शब्द 'गवि' का विशेषण है, इसलिए उसके उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में चाहे जो अर्थ लिया जाये—उसके आधार पर 'गवि' (जो कि 'गो' की सप्तमी एकवचन का रूप है, का अर्थ आदित्य ही होता है, क्योंकि आदित्य पर्ववान् और भास्वान् दोनों ही है)। इस प्रकार प्रस्तुत उद्धरण में 'गो' शब्द का अर्थ आदित्य है।

(५) 'गो' शब्द का पाँचवाँ (या छटा) अर्थ आदित्य की 'सुषुम्ण' नामक रश्मि भी होता है। वह रश्मि आदित्य से निकलकर चन्द्रमा में प्रवेश करती है और उसी के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है, क्योंकि उसका अपना कोई प्रकाश नहीं होता। इसी तथ्य को यास्क ने 'आदित्य-तोऽस्य दीप्तिर्भवति' अर्थात् चन्द्रमा का प्रकाश आदित्य के द्वारा होता है, इस वाक्य के द्वारा स्पष्ट किया है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने वाजसनेयी संहिता का एक उद्धरण दिया है, जिसमें (चन्द्रमा में प्रवेश करने वाली) सूर्य-

रश्मि को सुषुम्ण और चन्द्रमा को (उस रश्मि को धारण करने के कारण) 'गन्धर्व' कहा गया है। 'गन्धर्व' शब्द साभिप्राय है, क्योंकि उसका निर्वचन 'गाम् सूर्यरश्मि' धरतीति गन्धर्वः (गाम् + √धृ + व) किया जाता है। स्पष्ट है कि वाजसनेयी संहिता को 'गो' शब्द का सुषुम्ण रूप अभिप्रेत है। अन्त में यास्क ने उसका जो उदाहरण दिया है, उसमें प्रकरण की दृष्टि से, सूर्य की किरण ही 'अमन्वत' क्रिया का कर्म है, इसलिए 'गोः' शब्द का अर्थ 'आदित्य' ही होता है।

इस शब्द का छटा (या सातवाँ) अर्थ यास्क किरण करते हैं। इसके लिए अगले सन्दर्भ में उदाहरण स्वरूप वैदिक उद्धरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

मूल—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥(१/१५४/६)

तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय, यत्र गावो भूरिशृङ्गाः बहुशृङ्गाः। भूरीति बहुनामधेयं प्रभवतीति सतः। शृङ्गं श्रयतेर्वा, शृणातेर्वा, शम्नातेः वा, शरणायोद्गतमिति वा। शिरसो निर्गतमिति वा। अयासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं पराध्यर्स्थमवभाति भूरि। पादः-पद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशु-पादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभाग पाद-सामान्यात् इतराणि पदानि।

अनुवाद—'आप दोनों के उन निवासस्थानों पर (हम) जाने की कामना करते हैं, जहाँ बहुत (या बड़े) सींगों वाली (और) गतिशील गायें है। यहीं पर विशाल डगों वाले, वर्षणशील (विष्णु) का वह परम पद (सर्वोच्च स्थान) अत्यन्त सुशोभित होता है।'

आप दोनों के उन निवासस्थानों पर जाने की कामना करते हैं जहाँ पर बहुत (भूरि) सींगों वाली गाए हैं। 'भूरि' यह 'बहुत' का वाचक है। (क्योंकि वह) प्रकृष्ट रूप में होता है (प्रभवति) इस प्रकार कर्तृ कारक से सिद्ध होता है (इसलिए)। 'शृङ्ग' शब्द या तो √श्रि धातु से निष्पन्न होता है, या (हिंसार्थक)

'√शृ' धातु से, या 'शरणोद्गतम्' (इस शब्द समूह से), या 'शिरसोनिर्गतम्' (इस शब्द समूह से निष्पन्न हुआ है)। 'अयासः' का अर्थ गतिशील है। वहाँ विशाल या महान गति वाले विष्णु का, परार्द्ध्य में स्थित वह श्रेष्ठ स्थान बहुत प्रकाशित होता है। 'पाद' शब्द √पद् धातु से (सिद्ध होता है)। उसके रखे जाने के कारण (रखे जाने वाले स्थान को) 'पद' कहते हैं (किसी वस्तु के चौथाई) भाग के लिए (प्रचलित) 'पाद' शब्द का पशुओं के चार 'पाद' हैं। (चौथे) भाग के लिए (प्रचलित) 'पाद' की समानता के आधार पर अन्य (वस्तुओं के चतुर्थांश भी) पद (कहलाते हैं)।

व्याख्या—यास्क ने उद्धत वैदिकमन्त्र के कतिपय शब्दों का यथास्थान निर्वचन किया है। ऐसे कुछ शब्द ये हैं :—

'भूरि' का अर्थ 'बहुत' होता है (और इसी आधार पर 'भूरिशृङ्गाः' का अर्थ बहुत सींगों वाली है), क्योंकि वह (बहुत) 'प्रकृष्ट (समर्थ) रूप में होता है (प्रभवति), इसलिए जो वस्तुएँ अधिक होती हैं वे कार्यसम्पादन में प्रकृष्ट होती हैं। इसलिए √भू + रि (क्तिन्) के योग से यह सिद्ध होता है। 'शृङ्ग शब्द के अर्थ और ध्वनि-साम्य के आधार पर चार निर्वचन किए गए हैं जिनमें प्रथम दो धातुमूलक और अन्तिम दो शब्दसमूहमूलक हैं। (क) 'शृङ्ग' (सींग), क्योंकि 'शिर' का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है, (श्रयति मूर्द्धानम् इति शृङ्गम्। इसलिए √श्रि (आश्रयार्थक) + ग (गान्) > शृ + ग > शृङ्ग के रूप में वह सिद्ध होता है। वह प्रथम निर्वचन है। (ख) क्यों 'शृङ्ग' के द्वारा पशु अपने शत्रुओं की हिंसा करता है, उन्हें मार भगाता है (शृणोति हिनस्ति शत्रून् अनेनेति शृङ्गम्)—इसलिए हिंसार्थक √शृ + ग (गन्) > शृङ्ग' के रूप में उसकी निष्पत्ति होती है। यह दूसरा निर्वचन है। (ग) क्योंकि 'शृङ्ग' अपनी 'शरण' (रक्षा या बचाव) के लिए 'उदगत' (ऊपर की ओर उठे होते हैं, इसलिए 'शरण' के 'शर' और 'उद् गतम्' के 'ग' के संयोग से उसकी सिद्धि मानी जा सकती है (शर + ग > शृग > शृङ्ग)। यह तीसरा निर्वचन है। (घ) इसका चौथा निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं कि क्योंकि 'शृङ्ग' 'शिर' से 'निर्गत' (शिरसो निर्गतम्) होते हैं, इसलिए 'शिरस् और 'निर्गत' के 'ग' के संयोग से

उसकी सिद्धि मानी जा सकती है (शिरस् + ग > शिर + ग > शृ + ग > शृङ्ग)।

अग्रासः—का अर्थ 'अयन्' अर्थात् गतिशील है। यह √इण् + अ से निष्पन्न है। (प्र० ब० व० का रूप)।

'पाद' शब्द के निर्वचन में यास्क ने उसके क्रमिक अर्थविकास का सूक्ष्म परिचय दिया है। उनकी दृष्टि में 'पाद' शब्द √पद् (चलनार्थक) निष्पन्न होता है (पद्यतेऽनेनेति पादः—√पद् + घञ्) 'और यह अपनी प्रारम्भिक स्थिति में, पशुओं (और सम्भवत: मनुष्यों के भी) 'पैर' का वाचक था। बाद में 'पाद' को उठाकर जहाँ, जिस स्थान पर रखा जाता था उस स्थान को भी पद कहा जाने लगा। (अर्थात् 'पाद' का विकास 'पद' के रूप में हुआ)। पशु के चार 'पाद' होते हैं और उनमें से प्रत्येक (चौथा) भाग 'पाद' कहलाता है, इसलिए चार भागों वाली वस्तुओं के प्रत्येक (चौथे) को भी 'पाद' नाम से अभिहित किया जाने लगा। जैसे—चारपाई के प्रत्येक पाए को 'पाद' कहा जाता है। इसलिए चतुर्थांश के लिए प्रचलित 'पाद' शब्द का आधार पशु के 'पाद' हैं। बाद में चतुर्थांश के लिए प्रयुक्त यही 'पाद' शब्द, चार भागों की समानता के आधार पर श्लोक आदि के चतुर्थांश को भी पाद या चरण कहा जाने लगा। इस विवेचन से यास्क की अर्थविज्ञान में अच्छी गति का अनुमान होता है।

इसी सन्दर्भ में, अगली पंक्तियों में, निर्वचन के सिद्धान्तों पर एक बार प्रकाश डाला जा रहा है।

मूल—एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहाः विद्यन्ते, तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नाना कर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि।

अनुवाद—इसी प्रकार अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी सन्देह होते हैं। यदि वे समान कर्म (क्रिया) या अर्थ वाले हों तो उनके निर्वचन भी समान ही होंगे (किन्तु) यदि वे भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हुए तो उनके निर्वचन उनके अर्थ के अनुसार किया जाने चाहिएँ।

व्याख्या—महर्षि यास्क का कहना है कि जिस प्रकार 'गो' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार अन्य शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में भी संदेह उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसे सन्देहों का निराकरण उनके अर्थानुसारी निर्वचन के द्वारा ही हो सकता है। पदार्थ यदि भिन्न-भिन्न भी हों, परन्तु उनके अर्थ एक हों तो उनके निर्वचन समान ही होंगे—जैसे 'गो' शब्द का पृथ्वी और पशु रूप पदार्थों के अर्थ में, एक ही निर्वचन होता है, क्योंकि उनमें 'गमन' रूप कर्म या अर्थ सामान्य रूप में विद्यमान है। इसके विपरीत यदि उनके अर्थ अलग-अलग होंगे—तो उनके निर्वचन भी अलग-अलग होंगे, जैसे—'गो' शब्द का 'गव्या ज्या' रूप तद्धित अर्थ लेने पर 'गो' का निर्वचन होगा—'गच्छतीति गौः' (गम् + ओ)' किन्तु उसका 'अगव्या ज्या' रूप (मुख्य) अर्थ लेने पर उसका निर्वचन होगा 'गमयतीषूनिति गौः' (√गम् + णिच् + आ) ॥३॥७॥

इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के प्रथम भाग को उदाहरण के द्वारा—निम्न पंक्तियों में पुष्ट किया जा रहा है :

मूल—इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुत्क्रान्तानि। तत्र निर्ऋतिर्—निरमणात्, ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा। सा पृथिव्या सन्दिह्यते। तयोर्विभागः। तस्याः एषा भवति—॥७॥

अनुवाद—इस प्रकार पृथ्वी के पर्यायवाची ये २१ नामपद (यहाँ निघण्टु में) क्रमशः वर्णित किए गए हैं। उनमें से 'निर्ऋतिः' शब्द 'निर' पूर्वक √रम् धातु से निष्पन्न होता है, (किन्तु) कष्टप्राप्ति (या मृत्यु) रूप अर्थ वाला दूसरा 'निर्ऋति' शब्द 'निर्' उपसर्ग पूर्व √ऋच्छ् धातु से निष्पन्न होगा। उस कष्ट-प्राप्ति रूप 'निर्ऋति' का पृथिवी के अर्थ में सन्देह होता है। (किन्तु) उन दोनों में विभाग या भेद है। यह (अधोदत्त) मन्त्र उस (कृच्छ्रापत्ति रूप 'निर्ऋति') का (बोधक) है ॥७॥

व्याख्या—यास्क अपने सिद्धान्त के प्रथम भाग के उदाहरण के रूप में 'निर्ऋति' शब्द को प्रस्तुत करते हैं। यह पृथिवी के इक्कीस नामों में अन्यतम है,

इसलिए इसका एक अर्थ तो पृथिवी ही है, और इस अर्थ में इसका निर्वचन होगा—जिस पर लोग पूर्णतया रमते या आनन्द मनाते हों उसे निर्ऋति कहते हैं—निःशेषेण रमन्तेऽस्यामिति निर्ऋतिः । स्पष्ट है, यह 'निर्ऋति' शब्द निर् + √रम् + ति (क्तिन्) > निर् + ऋ + ति > निर्ऋति' से निष्पन्न होगा । किन्तु 'निर्ऋति' का एक दूसरा अर्थ भी है—कष्टप्राप्ति । इस अर्थ में उक्त शब्द का निर्वचन हो 'निर्' उपसर्गपूर्वक √ऋच्छ् (प्राप्त्यर्थक) धातु से (निर् + √ऋच्छ् + ति > निर्ऋतिः) ।

'सा……विभागः' इस अंश का आशय है कि कष्टप्राप्ति और पृथिवी इन दोनों अर्थों में 'निर्ऋति' शब्द का प्रयोग होता है इसलिए उसका कब कौन सा अर्थ होगा—इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो सकता है । किन्तु ऐसा तभी होगा जब इन अर्थों की विशेषताओं पर ध्यान न जाए । वास्तविकता यह है कि इन अर्थों में बहुत अन्तर है, और यदि प्रकरण को देखकर अर्थ किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि 'निर्ऋति' शब्द का कब कौन-सा अर्थ होगा ?

अगली पंक्तियों में इसका उदाहरण देकर उसकी द्व्यर्थक व्याख्या की जा रही है :

मूल—य ईं चकार न सो अस्य वेद, य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥
(ऋ० ११/६४/३२)

'बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते इति परिव्राजकाः । वर्षकर्मेति नैरुक्ताः । 'य ईं चकार' इति । करोति—किरती सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा । न सो अस्य वेद मध्यमः, स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योपहितम् । स मातुर्योनौ—माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि, योनिरन्त-

---

१. यास्क के 'निरमणात्' से ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'नि' उपसर्ग मान रहे हैं । किन्तु 'नि' कोई उपसर्ग नहीं है और न वैसा मानने पर 'निर्ऋति' का ऊपरी रेफ ही सिद्ध होगा । सम्भव है—'नीरमणात्' शब्द रहा हो और 'रोरि' से रेफ का लोप होने के बाद 'इ' को दीर्घ हो गया हो ।

रिक्षम्, महानवयवः, परिवीतः वायुना । अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव परियुतो भवति । वहुप्रजाः भूमिमापद्यत वषकमणा ।

अनुवाद—जिसने इसको बनाया (या बिखेरा), वह इसको नहीं जानता, जिसने इसको देखा, यह उससे छिपा हुआ है। माता के गर्भ में (जरायु) से परिवेष्टित तथा अधिक सन्तानों वाला व्यक्ति कष्ट (पृथ्वी) को प्राप्त हुआ।

परिव्राजकों का कहना है कि वहुत सन्तानों वाला (व्यक्ति) कष्ट को प्राप्त करता है। इसमें वृष्टि के कार्य (का वर्णन है) ऐसा निरुक्त के आचारों का मत है। 'जिसने इसको वनाया (या) बिखराया' इस वाक्य में ('विद्यमान चकार') की (मूलभूत) क्रियाएँ √कृ तथा √कॄ वर्षा के कार्य से सन्देहग्रस्त हैं। वही, मध्यम इसको नही जानता; वही मध्यम इसको जानता है, जिसने आदित्य से घिरे हुए (इसे) देखा था। वह माता की योनि में—'(इसमें) माता (शब्द) का अर्थ) आन्तरिक्ष है, (क्योंकि) इसमें भौतिक वस्तुएँ बनाई जाती हैं। 'योनि' (का भी अर्थ) अन्तरिक्ष हैं (क्योंकि) यह महान् अवयव वायु से परिवेष्टित है। यह दूसरा योनि (शब्द) भी इसी धातु से (निष्पन्न होता) है। (क्योंकि वह जरांयु से) घिरा हुआ होता है। बहुत सन्तानों को उत्पन्न करने वाला यह वर्षा के कार्य के द्वारा पृथ्वी पर प्रवेश करता है।

व्याख्या निरुक्त में उद्धृत ऋग्वेद के उक्त मन्त्र की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की जाती है—परिव्राजकों के अनुसार और नैरुक्तों के अनुसार। परिव्राजक 'निऋर्ति' शब्द का अर्थ 'दुःख' लेते हैं जबकि नैरुक्त लोग 'पृथ्वी'। इसी आधार पर उनकी व्याख्याओं में 'अन्तर' आ गया है। यास्क ने नैरुक्तों के पक्ष को लेकर मन्त्र की लगभग पूरी व्याख्या कर दी है जबकि परिव्राजकों के पक्ष का केवल संकेत ही किया है। दोनों पक्षों के अनुसार उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

परिव्राजक पक्ष—जो मनुष्य (गर्भाधान) करता है, वह गर्भ के रहस्य को नहीं जान पाता (क्योंकि गर्भाधान के मूल में या तो उसकी कामवासना होती है या सन्तानेच्छा। जो उसको देखता या जानता हैं वह उससे छिपा रहता है। (उधर) माता के गर्भ में जरायु में लिपटा हुआ बालक पृथ्वी पर आकर तथा

उस जैसी अनेक सन्तानों वाला उसका पिता बड़े परिवार का भरण-पोषण की कठिनाई से दुःख उठाता है।

नैरुक्त पक्ष—जो मेघ वर्षा करता है, वह उसे नहीं जानता अर्थात् उसे इस तथ्य का ज्ञान नहीं होता कि जिस जल को वर्षा के रूप में वह पृथ्वी पर डाल रहा है, वह कहाँ से आता है, किन्तु जो अन्तरिक्ष स्थानीय मेघ उसको गिरते हुए देखता रहता है, उससे वह छिपा रहता है। अन्तरिक्ष में वायु से लिपटा हुआ वह जल (वर्षा के समय) अधिक परिमाण में होकर पृथ्वी पर आ गिरता है।

इसकी कतिपय पंक्तियों की व्याख्या इस प्रकार है:—

चकारेति···वर्षकर्मणा—

इसका भाव यह कि 'चकार' यह रूप √कृ और √'कॄ' इन दोनों धातुओं के लिट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन में बनता है. इसलिये इसके 'किया' और 'बिखेरा' ये दोनों अर्थ होते हैं। ऐसी स्थिति में इस क्रियापद का सम्बन्ध गर्भाधान से है या वर्षा के कार्य से—यह सन्देह होता है। इसीलिए—इसके उपर्युक्त दोनों अर्थ लिए जाते हैं।

स एवा···आदित्योपहितम्—

इसका आशय यह है कि वर्षा का जल जो भाप के रूप में ऊपर जाकर बादल के रूप में परिणत होता है, आदित्य में स्थित होता है, इस तथ्य को अन्तरिक्ष स्थानीय मेघ जानता है।

कतिपय शब्दों के निर्वचन के जो संकेत दिए हैं—वे इस प्रकार हैं—

मातुः—इसका अर्थ 'अन्तरिक्ष' किया गया है। इसको 'माता' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें भौतिक पदार्थ बनाए जाते हैं या इसके द्वारा नापे जाते हैं—निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि—√मा + तृच्।

'योनिः'—इसका भी अर्थ यास्क ने (वर्षापक्ष में) 'अन्तरिक्ष' ही किया है क्योंकि वह महान् 'अवयव' है। इसका निर्वचन √यु + नि से और 'अवयव' का अव + √यु + अ से संभव है। स्त्री के 'भग' का वाचक 'योनि' शब्द भी उपर्युक्त धातु √यु और नि प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है, क्योंकि वह चर्म और स्नायु आदि से 'युत' होती है।

बहुप्रजाः—इसके अनेक अर्थ किए गए हैं। गर्भाधान के पक्ष में इसका अर्थ है, वह व्यक्ति जो अनेक सन्तनों वाला हो (बह्वी प्रजा यस्य सः), या अनेक बार जन्म लेने वाला बालक (बहु प्रजायते इति बहुप्रजाः)। वर्षा के पक्ष में इसका अर्थ है वह जल जो आकाश में जाकर प्रभूत मात्रा में संचित हो जाता है (बहु—प्रभूतं प्रजायते संपद्यते इति बहुप्रजाः)।

मूलस्थ 'हिरुक्' पद का अर्थ, वैसे तो 'निघण्टु' में 'निर्णीत' और 'अन्तर्हित' किया गया है, किन्तु प्रस्तुत में उसका अर्थ 'स्थित' या 'आच्छादित' प्रतीत होता है।

अगली पंक्तियों में देवता-स्वरूप की संदिग्धता के सम्बन्ध में बताया जा रहा है :

मूल—शाकपूणिः सङ्कल्पायञ्चक्रे—'सर्वा देवता जानामि' इति। तस्मै देवतोभयलिङ्गरूपा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ—'विविदिषाणि त्वा' इति। साऽस्मा एतामृचमादिदेश—'एषा मद्देवता' इति॥८॥

अनुवाद—शाकपूणि (नामक आचार्य) ने विचार किया—'(मैं) सभी देवताओं को जानता हूँ'। (उसी समय) उसके लिए लिङ्गों वाली देवता प्रकट हो गई। (वह) उसे नहीं जान पाया। (इसलिए) उससे पूछा—'(मैं) तुम्हें जानना चाहता हूँ'। उस (उभयलिङ्गी देवता) ने उसके लिए इस (वक्ष्यमाण) ऋचा को कहा—'इस ऋचा का देवता मैं ही हूँ'।

व्याख्या—उपर्युक्त पंक्तियों का तात्पर्य है कि शाकपूणि नामक आचार्य के मन में यह विचार आया कि वे सभी देवताओं को उनके स्वरूप को ठीक-ठीक जानते हैं, उनके सम्बन्ध में उन्हें कोई भ्रम नहीं। तभी उनके ध्यान में वेद का एक ऐसा मन्त्र आया जिसका देवता उभयलिङ्गी (दो देवताओं के लिङ्गों वाला) था। चूंकि वह देवता, शाकपूणं के द्वारा अब तक ज्ञात सभी देवताओं से विलक्षण था, इसलिये वे उसे जान न सके, और इसीलिए उस देवता के स्वरूप को जानने की उन्होंने आकांक्षा की.

शाकपूणि—यह प्राचीनकाल के अत्यन्त प्रसिद्ध देवशास्त्री प्रतीत होते हैं। ग्रन्थों में इनका उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है।

उभयलिङ्गा—दो देवताओं के लिङ्ग वाली---जिसमें देवताओं के विशि चिह्न हों- ऐसी देवता---'उभयोर्लिङ्गानि यस्यां सा' अथवा 'उभयानि लिङ्गा यस्यां सा'। 'लिङ्ग' से तात्पर्य देवता के उस विशिष्ट चिह्न से है, जिसका अ देवताओं में अभाव होता है। जिस 'ऋचा' में दो देवताओं के एक से भि होते हैं, उसे ही यहाँ 'उभयलिङ्गा' कहा गया है। आगे दी जाने वाली ऋ में इस प्रकार के दो देवता—स्त्रीलिङ्गपद बोध्य और पुंल्लिङ्गपद बोध्य दिव्य और माध्यमिक देवता— हो सकते हैं।

एषा मद्देवता—में 'मद्देवता' शब्द 'एषा' का विशेषण है। 'मद्देवता' अर्थ है—मैं हूँ देवता जिसका—'अहमव देवता यस्याः सा' इस प्रकार पूरे का अर्थ होगा—इस 'ऋचा' का देवता मैं ही हूं अर्थात् जो ऋचा दी जा र उसका देवता दो लिङ्गों वाला है।

अगली पंक्तियों में यास्क उपरि संकेतित 'ऋचा' और उसकी स्वकृत व्याख्या दे रहे हैं :

मूल—अय स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसना श्रिता। सा चित्तिभिर्नि हि चकार मत्य विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौ (ऋ० १/१६४/

अयं स शब्दायते, येन गौरभिवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं करो मायुमिव आदित्यमिति वा, वागेषा माध्यमिका। ध्वंसने मेघेऽधिश्रि सा चित्तभिर्निकरोनि मर्त्यम्। विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम्। वव्रि रूपनाम। वृणोतीति सतः। वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते।

अनुवाद—ध्वंसनशील (मेघ) पर आश्रित (वाणी) जिससे आच्छादित शब्द करती है, वह यह बोल रहा है। उसने (अपने वर्षण रूप) कार्यों से धर्मा (मनुष्य) को नीचे कर दिया है तथा विद्युत् का रूप धारण कर (उसने अपन या) आकार को छिपा लिया है।

यह वह शब्द कर रहा है। जिससे आच्छादित वाणी मायु अर्थात् करती है। अथवा 'मायु' का अर्थ सूर्य है। (ओर) यह वाणी मा यमिक (

लोक अन्तरिक्ष में स्थित मेघों की गर्जन रूपा) है। ध्वंसन अर्थात् ध्वसनशील मेघ पर आश्रित वह (वाणी) (अपने) कार्यों से मरणधर्मा (मनुष्य) को नीचे कर देती है (भयभीत कर देती है)। बिजली बनती हुई (वह) अपने रूप को छिपा लेती है। 'वव्रि' यह रूप का नाम है, (क्योंकि वह) 'आच्छादित करता है, इसलिए। वर्षा के द्वारा पृथिवी को आच्छादित करने के पश्चात् उसे पुनः ले लेती है।

व्याख्या—मन्त्र का आशय यह है—

विद्युत् के दो रूप होते हैं—(१) स्तनयित्नु—जो बादल के रूप में गर्जन और 'वर्षण' करता है तथा (२) विद्युत—जो प्रकाश करता है। यहाँ बताया गया है कि विद्युत् रूपी माध्यमिक वाणी मेघ में रहती है, जिसके कारण वह गर्जन करता है। वह अपनी गर्जना से लोगों को भयभीत करती है तथा वर्षा के कार्य को सम्पन्न कराने के पश्चात् अपने विद्युत् को छिपा लेती है।

इस मन्त्र में प्रयुक्त 'अयम्' 'सः' और 'येन' शब्दों से इसका देवता पुंल्लिङ्ग सूचित होता है जबकि 'अधिव्रता' 'अभिश्रिता' और 'सा' शब्दों से उसका स्त्री-लिङ्ग वाला होना बोधित होता है। इसी प्रकार इसमें एक ओर माध्यमिक देवता विद्युत् और दूसरी ओर द्युलोक के देवता आदित्य (क्योंकि वह पृथ्वी पर बरसाए गए जल को, अपनी किरणों के द्वारा, पुनः खींच लेता है) का वर्णन ध्वनित होता है। इसलिए इसका देवता उभयलिङ्गा है (वैसे भी इस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है, जिसका अर्थ होता है 'अनेक देवता')। जब तक इस प्रकार देवताओं के स्वरूप का स्पष्ट और निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक मन्त्र का अर्थ भी स्पष्ट नहीं हो पाता, यह यास्क का आशय है।

'वर्षेण···रादत्ते' इस पंक्ति का आशय यह है—(१) विद्युत् पक्ष में—विद्युत वर्षा के द्वारा पृथिवी को आच्छादित करने के बाद अपने रूप-प्रकाश—को समेट लेती, (२) आदित्य पक्ष में—आदित्य अपने द्वारा दिए गए जल की वर्षा से प्रथम तो पृथिवी को आच्छादित करता है और बाद में अपनी ऊष्मा से उसे (जल को) भाप के रूप में पुनः ले लेता है।

जिन निर्वचनों का संकेत किया गया है, वे ये हैं—

मायुम्—इसके 'शब्द' और 'आदित्य' ये दो अर्थ लिए गए हैं। दोनों ही अर्थों में इसका निर्वचन √मा (शब्द करना) यु है। मन्त्र के 'मिमाति मायुम्' से भी यह प्रतीत है कि मन्त्रकार को मायु' का सम्बन्ध 'मा' (मिमाति) से ही अभिप्रेत है।

वव्रिः—यास्क ने इसका अर्थ 'रूप' किया है और निर्वचन का संकेत 'वृञ्' (वरणे) से किया है। क्योंकि रूप आच्छादित करता है (वृणोति) इसलिए वह 'वव्रि' कहलाता है। निर्वचन इस प्रकार सम्भव—√वृ + इ > वृ + वृ (धातु का द्वित्व) + इ > व + वृ + इ > वव्र + इ > वव्रि) ॥६॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

अथ तृतीयः पादः

आगे की पंक्तियों में 'हिरण्य' के निघण्टूक्त पर्यायों की संख्या का उल्लेख करने के साथ ही उसका निर्वचन किया गया है :

मूल—हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। हिरण्यं कस्मात्? ह्रियत आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवति इति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः।

अनुवाद—बाद के पन्द्रह नाम 'हिरण्य' के नाम हैं। ('हिरण्य' को) 'हिरण्य' क्यों (कहा जाता है)? वह खींचा जाता हुआ (सुनारों के द्वारा) चुराया जाता है, इसलिए, अथवा (एक) व्यक्ति के पास से (दूसरे) व्यक्ति के पास (धन के रूप में) ले जाया जाता है, इसलिए, अथवा 'वह' हित करने के साथ-साथ रमणीय भी होता है, इसलिए अथवा इच्छार्थक +हर्य् धातु से निष्पन्न होने के कारण 'हिरण्य' कहलाता है)।

व्याख्या—यहाँ लोक में दृश्यमान अर्थों के आधार पर हिरण्य के चार निर्वचन किए गए हैं, (i) सोना, क्योंकि तार या पत्र के रूप में खींचे जाते समय सुनारों के द्वारा चुरा लिया (हरण) जाता है (ह्रियते आयम्यमानम्) इसलिये उसकी निष्पत्ति √हृ धातु और 'आयम्यमानाम्' के संयोग से इस प्रकार होगी—√हृ + म्य (उक्त शब्द का 'म्य' अंश) > हिर् + म्य > हिर + ण्य > हिरण्य। (ii) क्योंकि, सामान्य धन के रूप में, समाज में एक व्यक्ति के पास से दूसरे के पास उसे ले जाया जाता है, उसका हरण किया जाता है (ह्रियते) इसलिए उसका निर्वचन उक्त धातु और 'जन' शब्द से इस प्रकार होगा—√हृ + जन > हिर् > जन > हिर् + वन > हिर् + यण > हिरण्य ('य्' 'ण' का व्यत्यय)

(ii) सोना संकट के समय मनुष्य का हित करता है और साथ ही वह मन को रमाने (रमण) वाला होता है, इन दो विशेषताओं के कारण वह उक्त दोनों ही शब्दों से इस प्रकार बना हो सकता है 'हित + रमण + य (प्रत्यय) > हि + रण + य > हिरण्य। (iv) चौथे के निर्वचन के रूप में यास्क का कहना है कि क्योंकि सोना प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा चाहा जाता है, उसकी कामना की जाती है, इसलिए उसका विकास 'चाहना' अर्थ वाली 'हय्' धातु से भी इस प्रकार हो सकता है, √हर्य् + न (प्रत्यय) > हिर्य् + न > हिर्य् + ण > हिरण्य ('अ' का आगम तथा 'य' और 'ङ्' का व्यत्यय)।

टिप्पणी—निघण्टु में बताए गए 'हिरण्य' के १५ पर्याय ये हैं—(१) हेम, (२) चन्दम्, (३) रुक्यम्, (४) अयस्, (५) हिरण्यम्, (६) पेशः, (७) कृशनम्, (८) लोहम्, (९) कनकम्, (१०) काञ्चनम्, (११) भर्म, (१२) अमृतम्, (१३) मरुत्, (१४) दत्रम् (१५) जातरूपम्—इति पञ्चदश हिरण्यनामानि।

अगले सन्दर्भ में 'अन्तरिक्ष के पर्यायों की संख्या की सूचना के साथ उसका निर्वचन कया जा रहा है :

मूल– अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश। अन्तरिक्षै कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरेमे इती वा, शरीरेष्वन्तरक्षयम् इति वा।

अनुवाद—बाद के सोलह नाम अन्तरिक्ष के पर्यायवाची हैं। (द्युलोक और भूलोक के मध्यवर्ती प्रदेश को) 'अन्तरिक्ष' क्यों कहते हैं! (क्योंकि यह द्यावा-पृथिवी के) मध्य में पृथिवी तक स्थित होता है अथवा (यह) इन दोनों (दृश्य-मान द्यावापृथिवी) के मध्य में निवास करता है, अथवा शरीरों के अन्दर अक्षय या अविनाशी (रूप में स्थित है)।

व्याख्या—अन्तरिक्ष के तीन निर्वचन किए हैं—(i) क्योंकि यह अन्त-रिक्ष द्यावाभूमि के मध्य में (अन्तरा) भूमि के अन्त तक (क्षा + अन्त) फैला है, इसलिये इसे अन्तरिक्ष करते हैं। ऐसी स्थिति में 'अन्तरा + क्षा > अन्तरिक्ष ('रा' के 'आ' का परिवर्तन 'इ' तथा 'क्षा' के 'आ' का परिवर्तन 'अ' में) रूप में इसका निर्वचन सम्भव है। (ii) क्योंकि यह इन दोनों द्यावाभूमि (इमे) के

मध्य में (अन्तरा) निवास करता है (क्षियति) इसलिए यह अन्तरिक्ष है। इस अर्थ में यह उक्त तीनों पदों से निष्पन्न है—'इमे + अन्तरा + क्षय ('क्षि' का कृदन्त रूप) > इ + अन्तर + क्ष > अन्तरिक्ष ('इ' का 'र्' और 'क्ष' के मध्य आगमन। (iii) क्योंकि (अन्तर) अविनाशी रूप में (अक्षय) स्थित रहता है, अर्थात् शरीरों के नष्ट हो जाने पर भी उनमें रहने वाला आकाश या शून्य नष्ट नहीं होता, इसलिये यह 'अन्तरिक्ष' है। इस अर्थ में इसका निर्वचन 'अन्तर + अक्षय > अन्तरिक्ष के रूप में होगा।

टिप्पणी—निघण्टु में बताए गए अन्तरिक्ष के षोडश पर्याय, जिनका संकेत यास्क ने ऊपर किया है, ये हैं—

(१) अम्बरम्, (२) वियत्, (३) व्योम, (४) बर्हिः, (५) धन्व, (६) अन्तरिक्षम्, (७) आकाशम्, (८) आपः, (९) पृथ्वी, (१०) भूः, (११) स्वयम्भूः, (१२) अध्वा, (१३) पुष्करम्, (१४) सागरः, (१५) समुद्रः, (१६) अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि।

अगली पंक्तियों में अन्तरिक्ष के पर्याय 'समुद्र' का निर्वचन करते हुए उसके इतिहास पर प्रकाश डाला गया है।

मूल—तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यत। समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः 'समभिद्रन्त्येनमापः' सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा। तयोर्विभागः। तत्रेतिहासमाचक्षते। देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनोः राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणाः—'अधमस्त्वयाऽऽचरितः—ज्येष्ठ भ्रातरमन्तरित्यभिषेचितम्। तस्मात्ते देवो न वर्षतीति। शन्तनुर्देवापिः शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः—पुरोहितस्तेऽसानि, याजयानि च त्वेति। तस्यैतद् वर्षकामसूक्तम्। तस्यैषा भवति ॥१॥

अनुवाद—उन (अन्तरिक्ष के षोडष पर्यायों में) 'समुद्र' यह (पर्यायवाची शब्द) पृथिवी पर वर्तमान के साथ सन्दिग्ध है। (अन्तरिक्ष और पृथिवीस्थ

समुद्र को) 'समुद्र' क्यों कहा जाता है ? (क्योंकि) जल इससे ऊपर की ओर उछलते हैं, जल इसकी ओर दौड़ते हैं, इसमें प्राणी अच्छी प्रकार से प्रसन्न रहते हैं, (वह) अच्छे जल वाला है, अथवा अच्छी तरह से भिगो देता है, इसलिए (उसे 'समुद्र' कहा जाता है) । उन दोनों (समुद्रों) में विभाग का अन्तर है । इस सम्बन्ध में (प्राचीन आचार्य एक) इतिहास बतलाते हैं—ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि और शन्तनु (ये दोनों) कुरुवंशीय भाई थे । (उन दोनों में) छोटे शन्तनु ने (अपना) राज्याभिषेक करा लिया । देवापि ने तपस्या स्वीकार कर ली । उसके बाद शन्तनु के राज्य में देव ने बारह वर्ष तक वर्षा नहीं की। ब्राह्मणों ने उससे कहा तुमने पाप किया है (क्योंकि अपने) बड़े भाई का अतिक्रमण कर (तुमने अपना) अभिषेक करा लिया है, इसीलिए देव तुम्हारे लिए वर्षा नहीं कर रहा है । वह, उस शन्तनु ने देवापि को । राज्य देने की कामना की देवापि उससे बोला— मैं तुम्हारा पुरोहित हो जाऊँ (तथा) तुमसे यज्ञ करवाऊँ । यह उसका वर्षा की कामना से युक्त यह सूक्त है, यह (ऋचा) उसी (सूक्त) की है—॥१०॥

व्याख्या—यास्क ने इस अवतरण की प्रथम पंक्ति में यह बताया है कि अन्तरिक्ष के पर्यायों में पढ़े गए 'समुद्र' शब्द का पार्थिव समुद्र के साथ सन्देह है। इसका तात्पर्य यह है कि समुद्र शब्द, वेद में, जिस प्रकार अन्तरिक्ष अर्थ को व्यक्त करता है, उसी प्रकार पार्थिव समुद्र रूपी अर्थ को भी—अर्थात् 'समुद्र' के दो अर्थ हैं—अन्तरिक्ष और सागर । इसी सन्दर्भ में उन्होंने 'समुद्र' के पाँच निर्वचन किए हैं—

(१) (क्योंकि) जल इसमे ऊपर की ओर उठते या उछलते हैं (समुद्द्रवन्ति), इसलिए 'यह समुद्र' कहलाता है । यह अर्थ—'सम् + उद् + √द्रु + अ > समुद् द्र > समुद्र' के रूप में इसके निर्वचन का संकेत करता है । (२) (क्योंकि) जल इसकी ओर तेजी से चलते हैं, दौड़ते हैं (समभिद्रवन्ति), इसलिए इसे 'समुद्र' कहा जाता है । इस अर्थ का संकेत 'सम् + √द्रु + अ > समुद्र निर्वचन की ओर है । (३) (क्योंकि) जलचर प्राणी इसमें अच्छी प्रकार से मुदित रहते हैं (सम्मोदन्ते), इसलिए यह 'समुद्र' है । स्पष्ट है कि इसका संकेत—'सम् + √मुद + र ('रक' प्रत्यय) > समुद्र की ओर है । (४) इसे 'समुद्र' इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह 'अच्छे जल वाला' (समुदक) है—यह अर्थ इसके 'सम्' +

उदक > सम् + उदर > समुद्र' निर्वचन को सूचित करता है, यह क्योंकि अपने जल के द्वारा लोगों को, पदार्थों को अच्छी प्रकार से भिगो देता है (समुन्नत्ति), इस लिए भी यह 'समुद्र' है । इसका संकेत 'सम्' + √उन्द (भिगोना) अर्थ + र ('रक्' प्रत्यय) > सम् + समुद्र + र > समुद्र' निर्वचन की ओर है ।

यास्क ने इस आगे बताया है कि ये दोनों समुद्र एक नहीं हैं, अलग-अलग हैं । इन दोनों में विभाग है और वेद में, दोनों ही अर्थों में अलग-अलग इस शब्द का प्रयोग दृष्टिगत है । 'तयोर्विभागः' वाक्य का यही स्वारस्य है ।

यास्क ने सम्बन्ध में जिस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है, वह 'महाभारत' से सम्बद्ध है । उसके अनुसार देवापि और शान्तनु या शन्तनु भाई थे । देवापि बड़े थे और शान्तनु छोटे । देवापि वड़े होने के कारण यद्यपि राजगद्दी के अधिकारी थे, किन्तु विरक्त होने के कारण वे वन चले गए । इस लिए राज्य शन्तनु को मिला । भीष्म इन्हीं शन्तनु के पुत्र थे । किन्तु कुछ दिनों बाद शन्तनु दिवंगत हो गए । निरुक्त में उक्त उल्लेख से प्रतीत होता कि शन्तनु के द्वारा राज्य पर बलात् अधिकार कर लेने पर देवापि को वन का आश्रय लेना पड़ा था ।

'आर्ष्टिषेण' का सम्बन्ध केवल देवापि से है या दोनों से, इस सम्बन्ध में व्याख्याकारों में मतभेद है । ऋष्टिषेण का पुत्र होने के कारण दोनों आर्ष्टिषेण कहा जा सकता है । ये दोनों ही कुरुवंशीय थे, यह स्पष्ट है ।

'बभूवतुः' जैसे परोक्षभूत के रूपों का प्रयोग यह बतलाता है कि यह घटना निकटभूत में ही हुई थी, जिसे यास्क ने प्रत्यक्ष रूप में देखा ही नहीं किन्तु जिसकी उन्हें पूरी जानकारी थी ।

वर्षकामसूक्तम्—इसका अर्थ है—वर्षा की कामना जिसमें की गई है, वह सूक्त अथवा वर्षा की कामना करने वाले (देवापि) का सूक्त । प्रथम अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है ।

निम्न पंक्तियों में उपरि संकेतित ऋचा को उद्धृत करके उसकी व्याख्या की जा रही है

मूल—

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् ।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद वर्ष्या अभि ॥
(ऋ० १०/९८/५)

आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्येति वा । सेना सेश्वरा, समानगतिर्वा । पुत्रः पुरु त्रायते । निपणाद वा । पुन्नरकम तत-स्त्रायते इति वा । होत्रमृषिर्निषीदन् । ऋषिर्दर्शनात् । स्तोमान्ददर्शे-त्यौपमन्यवः । 'तद्येनास्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत् । तदृषी-णामृषित्वम्' इति विज्ञायते । देवापिर्देवानामाप्त्या स्तुत्वा च प्रादानेन च देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिं चिकित्वान् चेतनावान् । स उत्तर-स्मादधरां समुद्रम् । उत्तरः उद्धततरो भवति अधरोऽधोरः । अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥११॥

अनुवाद—अग्निहोत्र (यज्ञ) के निमित्त बैठे हुये, ऋष्टिषेण के पुत्र ऋषि देवापि ने देवताओं की सुबुद्धि की कामना की । उसने द्युलोक के वर्षाजन्य जल को, ऊपर के समुद्र से नीचे की ओर बहाया ।

आर्ष्टिषेण (का तात्पर्य है) ऋष्टिषेण का पुत्र अथवा इषितसेन का (पुत्र) । 'सेना' (का अर्थ है) स्वामी-सहित अथवा एक-सी गति वाली । 'पुत्र' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह बहुत रक्षा करता है या पिण्ड दान करने के कारण या पुत (नाम का जो) नरक है उससे रक्षा करता है । (अग्नि) होत्र के लिए बैठा हुआ ऋषि । 'ऋषि' (मन्त्रों का) दर्शन करने के कारण (कहलाता है) । औपमन्यव का कहना है कि उसने 'सूक्तों' का दर्शन किया । (ब्राह्मणों से) ऐसा जाना जाता है कि 'तपस्या करने उन (ऋषियों) के सम्मुख स्वयम्भु ब्रह्म (स्वयं) प्रकट हुआ, यह ऋषियों का ऋषित्व है ।' 'देवापि' (शब्द) स्तुति अथवा (हवि के प्रदान के द्वारा देवताओं की आप्ति से (निष्पन्न है) । 'देव-

सुमति' (का अर्थ है) देवताओं की कल्याणकारिणी बुद्धि। 'चिकित्वान्' (का अर्थ) चेतनावान् है। उसने उपर के (समुद्र की) ओर से नीचे के समुद्र की ओर। 'उत्तर' (का अर्थ है) दूसरों की तुलना में अधिक उठा हुआ। 'अधर' (का अर्थ है) नीचे की ओर जाना। 'अधस्' (का अर्थ है) 'दौड़ता नहीं है' इस प्रकार इससे ऊपर की ओर जाने का निषेध होता है। बाद की (आगे दी जाने वाली) ऋचा इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने वाली है ॥११॥

व्याख्या—'मन्त्रस्थ' 'समुद्रम्' शब्द या प्रयोग 'अधरम्' के साथ-साथ 'उत्तरस्मात्' के लिये भी, विभक्ति-विपर्यय के साथ होता है, क्योंकि ऐसा किए बिना मन्त्रार्थ संगत न होगा। इसलिए, यास्क की दृष्टि में समुद्र' शब्द का प्रयोग, ऋग्वेद में पार्थिव समुद्र और ऊपरी समुद्र (अन्तरिक्ष) दोनों ही धर्मों में है, यह मन्त्र को उद्धृत करने का उद्देश्य है। मन्त्रस्थ विभिन्न शब्दों के, उनके द्वारा संकेतित निर्वचन इस प्रकार हैं—

आर्ष्टिषेण—का अर्थ वे करते हैं, 'ऋस्टिषेणस्य' व्यक्ति का पुत्रः (ऋष्टि-सेन + अण्)। अर्थात् ऋष्टि (भाले) से युक्त सेना वाले व्यक्ति का पुत्र (ऋष्टियुक्ता सेना यस्य तस्य)। यह निर्वचन पाणिनि व्याकरण के अनुसार की उपपन्न है। 'ऋष्टि' की 'ऋ' की वृद्धि होने के पश्चात् 'आर्ष्टि बनना स्वाभाविक है। किन्तु यास्क ने 'इषितसेनस्य वा' कहकर इसका जो दूसरा अर्थ किया है, वह अर्थ की दृष्टि से (इषिता गतिशीला सेना यस्य तस्य—इस अर्थ मे) तो कदाचित् ठीक हो सकता है, किन्तु 'इषितसेन' का पुत्र 'आर्ष्टिषेण' किस व्याकरण से होगा, यह समझ में नहीं आया। विद्वान् व्याख्याकारों ने 'इषित' शब्द को, √ऋष्' धातु से निष्पन्न भाववाचक शब्द माना है। परन्तु ऐसा शब्द तो 'ऋष्टि' ही हो सकता है, 'इषित' नहीं। हाँ, यदि 'इषित' को 'ऋष्ठि' का विकसित (ऋष्टि > ऋषित > इषित) रूप मान लिया, जो कि स्वाभाविक है, उक्त निवचन सम्भव है।

सेना—'इन' शब्द के संस्कृत में दो अर्थ है—स्वामी और गति। इसी आधार पर यास्क ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) इनेन ईश्वरेण सहिता, स्स्वरा, अर्थात् स्वामीसहित, दूसरे शब्दों में, मनुष्यों का वह समूह जिसमे

उसका स्वामी राजा भी सम्मिलित हो, सेना (२) समानम् इनं गमनं यस्याः सा—जिसमें सम्मिलित प्रत्येक व्यक्ति की चाल एक जैसी हो, वह। गत्यर्थक 'इन' शब्द √इण् (गतौ) से निष्पन्न है।

पुत्र—इसके तीन निर्वचनों की ओर संकेत किया गया है—(१) पुरु त्रायते—(जो) पूर्णतया रक्षा करता है वह पुत्र है। फलतः 'पुरु + √त्रै + ० > पुत्रत्र > पुत्र ('रु' का लोप)। (२) 'निपरणाद् वा'—इसका तात्पर्य यह है कि जो पिता को पिण्डदान करे या उसका पालन-पोषण करे, उसे पूरा करे, उसे पुत्र कहते हैं। ऐसी स्थिति में, पालनार्थक √पृ धातु स 'त्र' प्रत्यय करके 'पुत्र' शब्द बनाया जा सकता है—√पृ + त्र > पृत्र > पुत्र (ऋ > उ)। (३) 'पुन् नरकम् ततस्त्रायते' इति वा अर्थात् 'पुत्' नरक को कहते हैं, जो पिता की उससे रक्षा करता है उसे पुत्र कहते हैं। इस प्रकार 'पुत् + √त्रै + ० > पुत् + त्र > पुत्र' के रूप में इसकी निरुक्ति स्पष्ट है।

ऋषि—इस सम्बन्ध के दो निर्वचन किए गए हैं—(१) पहला निर्वचन दर्शन अर्थ वाली √ऋष् धातु से किया गया है। ऋष्यतेऽनेति, ऋषिः—अर्थात् जो अपनी क्रान्त दृष्टि से सभी भूत-भविष्यत् आदि का साक्षात्कार करता है, वह ऋषि कहलाता है। फलत √ऋष् + इ > ऋषि। यह औपमन्यव का निर्वचन कहा गया है। क्योंकि, उसके अनुसार, ऋषि ने स्तोत्रों (सूक्तों) को देखा, इसलिए वह ऋषि है। (२) दूसरे निर्वचन में गत्यर्थक √ऋष् धातु से इसकी निष्पत्ति का संकेत है। क्योंकि, तपस्या करने वाले ऋषियों के पास स्वयम्भू वेद स्वयं आया; (अभ्यानर्षत्), इसलिए वे 'ऋषि' कहलाए। फलतः 'ऋष्यते प्राप्यतेऽनेति ऋषि'—√ऋष् (गत्यर्थक) + इ > ऋषि। इस सम्बन्ध में 'तद्··· ऋषित्वम्' के रूप में जो वाक्य दिया गया है, वह किसी ब्राह्मण-ग्रन्थ का है जो इस समय उपलब्ध नहीं है।

देवापि—जो स्तुति और हवि आदि के दान के द्वारा देवताओं की सुमिति की आप्ति (प्राप्ति) की आकांक्षा करता है, वह 'देवापि' है। इस अर्थ के अनुसार 'देव + √आप् (प्राप्त्यर्थक्) + इ > देवापि' के रूप में इसका निर्वचन स्पष्ट है।

उत्तर—इस शब्द का निर्वचन यास्क ने 'उद्धत' और तर (तरप्) प्रत्यय

के संयोग से माना है। जो अत्यन्त उद्धत (ऊपर उठा हुआ) हो, वह 'उत्तर' है। फलतः 'उद्धत + तर > उद् + तर > उत्तर। यह द्रष्टव्य है कि यहाँ 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'ऊपर स्थित' या 'ऊपर' है।

अधर—'अधर' का अर्थ, प्रस्तुत में 'नीचे स्थित' है फलतः उसका निर्वचन अधस् और √'रा' के योग से माना गया है। अर्थात् जो नीचे की ओर जाए, वह 'अधर' है—अधो रातीति 'अधरः' 'फलतः—'अधस् + √रा + ० > अधर'। इसी प्रसंग में यास्क ने 'नीचे' अर्थ वाले 'अधम्' के निर्वचन का भी संकेत कर दिया है। उनके अनुसार 'न धावतीत्यधः' अर्थात् जो (ऊपर की ओर) न दौड़े, न जाए, नीचे ही पड़ा रहे—वह 'अधस् है—अ (नञ्) + √धाव् + असुन् > अधावस् > अधास् > अधस्।

अगली पंक्तियों में देवापि और शन्तुन के उपर्युक्त इतिहास को और अधिक स्पष्टता मिली है :

मूल—

यद्देवापिः शन्तनेव पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥
(ऋ० १०/९८/७)

शन्तनुः। शन्तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा। अस्त्विति वा। पुरोहितः पुरः एनं दधति। होत्राय वृतः। कृपायमाणोऽन्वध्यायत्। देवश्रुतं दवा एवं श्रृण्वन्ति। वृष्टिवनिम्–वृष्टियाचिनम्। रराणो-रातिरभ्यस्तः। बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्। सोऽस्मै वाचमयच्छत्। बृहदुप व्याख्यातम्॥१२॥

अनुवाद—जब (अग्नि) होत्र के निमित्त वरण किए गए पुरोहित देवापि ने, कृपा करते हुए, शन्तुन के लिए ध्यान किया, तब उदार (दाता) बृहस्पति ने, देवताओं के द्वारा सुनी गई (तथा) वर्षा की याचिका (वर्षा कराने में समर्थ) वाणी इसे प्रदान की।

'शन्तुन' (शब्द का अर्थ है) 'हे शरीर, तेरा कल्याण हो' या अथवा 'शरीर के द्वारा इसका कल्याण हो' यह। 'पुरोहित' (पुरोहित इसलिए कहलाता है, क्योंकि लोग) इसे आगे रखते हैं। होत्र के निमित्त वरण किये गये

(देवापि ने) कृपा करते हुए ध्यान किया। 'देवश्रुतम्' (का अर्थ है) 'देवता इसे सुनते हैं'। 'वृष्टिवनिम्' का अर्थ वर्षा की याचिका (वाणी)। 'रराण' (इस शब्द में) √रा धातु अभ्यस्त है (अर्थात् यह 'रा' धातु इसमें दुहरी हो गई है)। बृहस्पति (उस अग्निहोत्र में) ब्रह्मा था। उसने इसको वाणी प्रदान की। 'बृहद्' की व्याख्या की जा चुकी है ॥१२॥

व्याख्या—शन्तनु ने वर्षा के निमित्त किए जाने वाले यज्ञ में देवापि को पुरोहित बनाया और उसने शन्तनु पर दया दिखाते हुए देवताओं का ध्यान किया (या यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित की)। (उस यज्ञ के ब्रह्मा) बृहस्पति ने, जो बहुत ही दानशील किं वा उदार हैं, उस देवापि को ऐसी वाणी प्रदान की जिसके द्वारा उसने देवताओं से वर्षा की प्रार्थना की तथा देवताओं ने उसे सुना, यह उपर्युक्त मन्त्र का सरलतार्थ है।

मन्त्रस्थ कतिपय शब्दों के संकेतित निर्वचन निम्न हैं—

शन्तनु—शब्द के दो अर्थ किए गए हैं—(i) हे तनु (शरीर)। तेरा शम् (कल्याण हो), (ii) तनु (शरीर) के द्वारा तेरा कल्याण हो। स्पष्ट है, दोनों अर्थों में इसका निर्वचन 'शम् + तनु > शन्तनु' होगा।

पुरोहित - इस शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क ने बताया है कि चूंकि लोग यज्ञ अथवा युद्ध आदि में इस (पुरोहित) को आगे (पुरः) रखते हैं, इसलिए इसे 'पुरोहित' कहा जाता है। स्पष्ट है, इसका निर्वचन 'पुरस् + √धा + क्त > पुरोहित' है।

'देवश्रुतम्'—का निर्वचन 'देव + √श्रु + क्त (त)' तथा देवावनिम् देव + √वन् + इ' स्पष्ट है। यास्क ने इसकी जो व्याख्याएँ की हैं उससे प्रतीत होता है कि वे इन्हें पुल्लिङ्ग विशेषण मानते हैं। परन्तु ये किसको विशिष्ट करते हैं? इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। प्रसङ्ग के अनुसार ये दोनों ही 'वाचम्' के विशेषण प्रतीत होते हैं और फलतः लिङ्ग विपर्यय के कारण पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त है।

रराणः—का अर्थ दानशील या उदार है। यास्क ने इसको 'रा' धातु जिसका अर्थ दान देना है, का अभ्यस्त या दुहरा रूप माना है। स्पष्ट है, उनका संकेत '√रा + आन (कानच्) > रा + रा + आन > ररा + आन > रराण' इस निर्वचन की ओर है।

बृहस्पतिः—का अर्थ 'वाणी का पति' (बृहतां वाणीनां पतिः बृहस्पति) है। इसके प्रथम घटक 'बृहद्' का 'पति' के साथ समास होने की स्थिति में 'त्' का लोप और 'स्' का आगम हो जाता है। 'बृहम्' का निर्वचन यास्क ने उस √बृह् धातु से माना है (बृह् + अत् > बृहत्) जिससे 'ब्रह्म' और ब्रह्मा' शब्द निष्पन्न होते हैं। इसकी व्याख्या उन्होंने निरुक्त के १/७ में की है।

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

अथ चतुर्थः पादः

अगली पंक्तियों में आदित्य और आकाश के सामान्य छह नामों का संकेत करने के उपरान्त 'आदित्य' की व्याख्या की गई है :

मूल—साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च। यानि त्वस्य प्राधान्येन, उपरिष्टात् तानि व्याख्यास्यामः। आदित्य कस्मात् ? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्रः इति वा। अल्पप्रयोगं त्वस्यैतद् आर्चभ्याम्नाये सूक्त-वाग्-सूर्यमादितेयम्। एवमन्यासामपि देवानानामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद् यथैतद्--'मित्रस्य, वरुणस्यार्यम्णो, दक्षस्य, भगस्यांशस्येति। अथापि मित्रावरुणयोः—'आदित्या दानुनस्पती' (ऋ० १/१३६/३) दानपती। अथापि मित्रस्यैकस्य—'प्र स' मित्र मर्त्यो अस्तु प्रयस्वान्, यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन' (ऋ० ३/५९/२) इत्यपि निगमो भवति। अथापि वरुणस्यैकस्य--'अथा वयमादित्य ! व्रते तव' (ऋ० १/२४/१५)। व्रतमिति कर्मनाम् वृणोतीति सतः। निवृत्तिकर्म वारयति इति सतः। इदमपि इतरत् व्रतमेतस्मादेव अन्नमपि व्रतमुच्यते, यदावृणोति शरीरम् ॥१३॥

अनुवाद—बाद के छह नाम आकाश और आदित्य के सामान्य नाम हैं। जो नाम इस (आदित्य) के प्रधानता से हैं (अर्थात् जो के मुख्य रूप से केवल 'आदित्य' अर्थ को ही व्यक्त करते हैं) उनकी व्याख्या हम बाद में अर्थात् (२/२/१

में करेंगे। आदित्य' (आदित्य) क्यों कहलाता है? (क्योंकि वह) रसों का आदान करता है ज्योतियों (तारों) की चमक का आदान करता है, अथवा (अपनी) कान्ति से आदीप्त होता है अथवा अदिति का पुत्र है इसलिए। (समस्त) ऋग्वेद में, इस (आदित्य का नाम (अदितिपुत्र अर्थ वाले) यह सूक्त-ऋक् के रूप में, बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। (जैसे)—'सूर्य अदिति का पुत्र' (१/८८/११) इसमें। इसी प्रकार अन्य देवताओं की भी आदित्य के नाम वाली स्तुतियाँ होती हैं। जैसे मित्र, वरुण, अर्यमन्, दक्ष, भग और अश की। (उदाहरण के लिये) मित्र और वरुण (दोनों) की—'अदिति के पुत्र-दानु के स्वामी अर्थात् दान के पति। इसके अतिरिक्त अकेले मित्र के विषय में–'हे मित्र, वह मनुष्य अन्न से सम्पन्न हो, जो व्रत के द्वारा तुम्हें युक्त करता है, यह भी वैदिक मन्त्र है। इसके अतिरिक्त अकेले वरुण के विषय में भी—'अरे अदिति-पुत्र (वरुण), हम तुम्हारे व्रत (शासन) में हैं'। 'व्रत' यह कर्म का नाम है, (क्योंकि वह) आवृत करता है। यह दूसरा 'व्रत' 'निवृत्ति' अर्थ वाला (शब्द) भी इसी से निष्पन्न होता है, (क्योंकि वह) निवारण करता है, इसलिए। अन्न को भी 'व्रत' कहा जाता है, क्योंकि वह शरीर को आवृत करता है ॥१३॥

व्याख्या—यहाँ साधारण नाम से तात्पर्य ऐसे नामों से है, आकाश के साथ-साथ आदित्य अर्थ को भी व्यक्त करते हैं। ये नाम ये हैं—'(१) स्वः, (२) पृश्निः, (३) नाकः, (४) गौः, (५) विष्टप्, (६) नभ इति साधारणानि।'

कुछ व्याख्येय पंक्तियाँ ये हैं—

यानि त्वस्य प्राधान्येन—इसका तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त छह नाम तो आकाश और आदित्य इन दोनों अर्थों को समान रूप से व्यक्त करते हैं। अतः इनके साधारण या सामान्य नाम हैं, किन्तु जो अर्थ मुख्य रूप से केवल आदित्य को ही व्यक्त करते हैं, जिनका अर्थ केवल आदित्य ही है, आकाश नहीं, ऐसे नामों की व्याख्या यास्क १०/१२/१८ में करेंगे।

अल्प···सूक्तभाक्—इसका तात्पर्य यह है कि समूचे ऋग्वेद में ऐसे सूत्र बहुत ही कम हैं, जिनका देवता अदिति-पुत्र अर्थ वाला आदित्य हो। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य अर्थों वाले 'आदित्य' सूक्तों का देवता है। **'सूर्ययादितेयम्' यह अदितिपुत्रार्थक आदित्य देवता वाला ऐसा ही सूक्त है। यहाँ**

'आर्चाभ्याम्नाय' का अर्थ ऋग्वेद संहिता है। ऋचामयम् आर्चः, आर्चश्चासौ अभ्याम्नायश्चेति आर्चाभ्याम्नायः—अर्थात् ऋचाओं का आम्नाय अर्थात् ऋग्वेद। सूक्तभाक्—से तात्पर्य ऐसे देवता से जो समस्त सूक्त का देवता हो, पूरे सूक्त में जिसकी स्तुति हो, जिसको लक्ष्य में रखकर सूक्त की रचना की गई हो। 'सूक्तं भजते इति सूक्तभाक्।

एवमन्या···भवन्ति—इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य का 'सूर्यमादितेयम्' इस सूक्त में आदित्य के नाम से स्तुति की गई है, उसी प्रकार अन्य बहुत से सूक्तों और मन्त्रों में आदित्य के नाम से की गई स्तुतियां आदित्य की न होकर अन्य देवताओं की हैं, क्योंकि अदितिपुत्र होने के नाते आदित्य केवल सूर्य ही नहीं अपितु अन्य देवता भी हैं। मित्र, वरुण आदि ऐसे ही देवता हैं।

संकेतित निर्वचन इस प्रकार हैं—

आदित्य—यास्क ने इसके चार निर्वचन किए हैं–(i) वह रसों (भूपृष्ठस्थ जल) का (भाप के रूप में) आदान करता है, इसलिए आदित्य है—'रसवन् आदत्त इत्यादित्यः'। यह अर्थ स्पष्टतः 'आ + √दा + य > आ + दा + त्य ('त्' का आगम) > आदित्य, निर्वचन को सूचित करता है। (ii) वह नक्षत्रों की कान्ति का आदान या हरण कर लेता है। क्योंकि सूर्य के सामने सब नक्षत्रों की कान्ति फीकी पड़ जाती है, इसलिए वह आदित्य है—'ज्योतिषां भासमादत्त इत्यादित्यः'। यह अर्थ भी उपर्युक्त 'आ + √दा + य' वाले निर्वचन को ही संकेतित करता है। (iii) वह अपनी कान्ति से, आभा से, सर्वतः दीप्त रहता है इसलिए आदित्य कहलाता है—'स्वभाषा आदीप्यतइत्यादित्यः।' इस अर्थ से 'आ + √दीप + य > आ + दी + त्य > आदित्य' निर्वचन की सूचना मिलती है। (iv) वह अदिति का पुत्र है इसलिए आदित्य है—अदितेः पुत्र इत्यादित्यः। स्पष्टतः इससे 'अदिति + य (पा० य०) निर्वचन अभिप्रेत है। पाणिनि को यही मान्य है।

व्रत—इसके तीन निर्वचन किए गए हैं—(i) वृणोति आच्छादयति पुमांसम्' इति व्युत्पत्ति के अनुसार 'व्रत' का अर्थ कर्म है, क्योंकि वह समस्त मानव-जीवन को आच्छादित किए रहता है। फलतः उसकी निष्पत्ति √वृ (आच्छाद-

नार्थक) + अत > व्रत, के रूप में देखी जा सकती है। (ii) 'व्रत' का दूसरा अर्थ संयम है। इसे 'व्रत' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह मनुष्य को 'दुष्प्रवृत्तियों से निवृत्त करता है, हटाता है—(नि) 'वारयतीति व्रतम्'। इससे √वृ (आच्छादनार्थक) + इ (णिच्) + अत > वृत > व्रत' निर्वचन सूचित होता है। (iii) 'व्रत' अन्न को भी कहते हैं, क्योंकि वह स्वजन्य शोणितादि के द्वारा शरीर को आच्छादित करता है—स्वजन्यैः शोणितादिभिः शरीरम् आवृणोति आच्छादयतीति व्रतम्'। इससे भी प्रथम शब्द निर्वचन ही सूचित होता है।

अब आकाश और आदित्य इन दोनों अर्थ को ध्यान में रखकर उसके वाचक छहों शब्दों के निर्वचन किये जा रहे हैं :

मूल—(१) स्वरादित्यो भवति—सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषाम्, स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता। (२) पृश्निरादित्यो भवति—प्राश्नुत एनं वर्णः' इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्, संस्पृष्टो भासेति वा। अथ द्यौः। संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। (३) नाकः आदित्यो भवति—नेता भासाम्-ज्योतिषां प्रणयः। अथ द्यौः—कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्ध प्रतिषिध्येत—'न वा अमुं लोकजग्मुष किञ्चनाकम्' (काठक सं २१/२)- न वा अमुं लोक जग्मुषे किंचनाकम्। न वा अमुं लोक जग्मुषे किञ्चनासुखम्, पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति। (४) गौरादित्यो भवति—गमयति—रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौः—यत्पृथिव्या अधिदूरंगता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति। (५) विष्टपादित्यो भवति—आविष्टो रसान् आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौः—आविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। (६) नभः आदित्यो भवति—नेता भासाम्, ज्योतिषाम् प्रणयः अपि वा मनः एव स्याद् विपरीतः, न 'न भातीति' वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता ॥१४॥

अनुवाद—(१) 'स्वर' (का अर्थ) आदित्य है (क्योंकि वह) अच्छी तरह चलने वाला है, (अन्धकार को) अच्छी तरह तितर-बितर करने वाला या प्रेरक

है, रसों में अच्छी तरह व्याप्त है, नक्षत्रों की कान्ति में व्याप्त है, (अपनी) कान्ति से व्याप्त है। इससे आकाश (अर्थ वाले स्वर्) की व्याख्या हो गई। (२) 'पृश्नि' (का अर्थ) आदित्य होता है (क्योंकि) 'वर्ण उसको व्याप्त करता है' ऐसा नैरुक्तों का कहना है। (यह) रसों का अच्छी प्रकार से स्पर्श करने वाला है, नक्षत्रों की कान्ति का अच्छी प्रकार से स्पर्श करने वाला है, (अपनी) कान्ति से, अच्छी प्रकार स्पृष्ट (युक्त) है। अब आकाश (अर्थ वाले पृश्नि को लेते हैं)—(वह) नक्षत्रों और पुण्यकर्त्ताओं के द्वारा अच्छी प्रकार से स्पृष्ट (युक्त) है। (३) 'नाक' (का अर्थ) आदित्य है—(क्योंकि वह) आभाओं का नेता, ज्योतिष्पिण्डों का प्रणेता है। अब आकाश (अर्थ वाले 'नाक' को लेते हैं)। 'क' सुख का पर्याय है, उससे रहित (अक) का (उसमें) प्रतिषेध होता है (इसलिए वह न+अक=नाक कहलाता है)। 'उस लोक में जा चुके हुए मनुष्य के लिए वहाँ कोई असुख (दुःख) नहीं है।' उस व्यक्ति के लिए कोई असुख नहीं है, जो उस लोक में जा चुका है, क्योंकि पुण्यकर्त्ता ही वहाँ जाते हैं। (४) 'गो' (का अर्थ) आदित्य होता—(क्योंकि वह) रसों को पहुँचाता है, अन्तरिक्ष में गमन करता है। अब आकाश अर्थ वाले 'गो' को लेते हैं, (आकाश 'गो' इसलिए कहलाता है, क्योंकि वह) पृथिवी से अधिक दूरी पर गया हुआ है, क्योंकि उस पर नक्षत्र चलते हैं। (५) 'विष्टप्' (का अर्थ) आदित्य होता है-(क्योंकि वह) रसों में पूर्णतया प्रविष्ट है, ज्योतिष्पिण्डों की कान्ति में व्याप्त है, अथवा (अपनी) कान्ति से आविष्ट (व्याप्त) है। अब आकाश (अर्थ वाले 'विष्टप्' को) लेते हैं, वह 'विष्टप्' इसलिए कहलाता है, (क्योंकि वह) ज्योतिष्पिण्डों और पुण्यकर्त्ताओं के द्वारा आविष्ट (व्याप्त) है। (६) 'नभस्' आदित्य को कहते हैं—(क्योंकि वह) कान्तियों का नेता है, ज्योतिष्पिण्डों का संचालक है, अथवा 'भनस्' शब्द उलटा हो गया होगा, अथवा यह नहीं चमकता (ऐसा) नहीं, इस कारण से। इससे आकाश (अर्थ वाले 'नभस्' शब्द) की व्याख्या हो गई ॥१४॥

व्याख्या—इन पंक्तियों में यास्क ने शब्दों की व्याख्या करते हुए जिन धातु रूपों या धातुज शब्दों का प्रयोग किया है, वे सूचित करते हैं कि तत्तद् शब्दों

उद्गम उनकी मूलभूत धातुओं से है। यहाँ उन्हीं का संकेत किया जा रहा है।

(i) आदित्य अर्थ वाले 'स्वर' की प्रथम व्याख्या 'सु अरणः' है, इससे उसकी निष्पत्ति 'सु + √ऋ + ० > स्वर' अभीष्ट प्रतीत होती है। दूसरी, व्याख्या 'सु ईरणः' की गई है। व्याख्याकारों का कथन है कि यह अर्थ निर्वचन है, शब्द निर्वचन नहीं है। यह वास्तव में 'सु अरणः' की ही व्याख्या है। दूसरी, तीसरी और चौथी व्याख्याओं में 'स्वृत' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका पदच्छेद 'सु + 'ऋत' है । 'ऋत' 'शब्द' √ऋ (गतौ) से निष्पन्न है। इससे यह स्पष्ट है कि इन तीनों ही अर्थों में, यास्क को 'सु + √ऋ + ० = स्वर निर्वचन अभीष्ट है । आकाशार्थं क 'स्वर्' का भी यही निर्वचन उन्हें गम्य है।

(ii) आदित्यार्थक 'पृश्नि' शब्द की चार व्याख्यायें की गई हैं। उनमें प्रथम नैरुक्तों की व्याख्या में 'प्राश्नुते' क्रियापद का प्रयोग किया गया है। इसका पदच्छेद है 'प्र + 'अश्नुते' । 'अश्नुते' का √अशु (व्याप्त्यर्थक) का रूप है। अतः इस अर्थ में पृश्नि का निर्वचन 'प्र + √अश् + नि > पृ + अश् + नि > पृश्नि' होगा। शेष तीनों व्याख्याओं में 'संस्प्रष्टा या सस्प्रष्टः' शब्द का प्रयोग किया गया है जो 'सम्' उपसर्ग पूर्वक० √स्पृशं धातु के तृच् प्रत्ययान्त रूप हैं। इसलिए इन अर्थों में इसका निर्वचन 'सम् + √स्पृश् + नि > सम् + पृश् + नि > पृश्नि' होगा। यही अन्तिम निर्वचन आकाशार्थक 'पृश्नि' में भी अभिप्रेत है।

(iii) आदित्यार्थक 'नाक' शब्द की एक व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में आदित्य को 'नेता' और 'प्रणय' कहा गया है। ये दोनों शब्द √नी धातु से बने हुए हैं। इसीलिए इस व्याख्या के अनुसार इसका निर्वचन √नी + अक > नायक > नाक होगा। आकाशार्थक 'नाक' व्याख्या में यास्क ने स्पष्ट किया है कि 'क' का अर्थ है सुख, और सुख के अभाव में अर्थात् दुःख को 'अक' कहा जाएगा। इस सुखाभाव या दुःख रूप 'अक' का जहाँ प्रतिषेध या अभाव होगा- वह कहलाएगा 'नाक' जिसका अर्थ होता है ऐसा स्थान जहाँ सुख ही सुख हो, दुःख का लेशमात्र भी न हो (न कम् = अकम् नास्ति अकम् यत्र तत्—

नाकम्)। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो वैदिक वाक्य उद्धृत किया है, उससे भी उनकी व्याख्या की पुष्टि होती है।

(vi) आदित्यार्थक 'गौ' शब्द की दोनों व्याख्याओं में 'गमयति' और 'गच्छति' शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये दोनों √गम् के रूप हैं—प्रथम णिनन्त रूप है और दूसरा साधारण। इसलिए इन दोनों व्याख्याओं के अनुसार इसका निर्वचन √गम् + ओ (अ) होगा। आकाशार्थक 'गो' की व्याख्या में भी 'गता' और 'गच्छन्ति' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, इसलिए उसका भी निर्वचन पूर्ववत् ही होगा, यह स्पष्ट है।

(v) आदित्यार्थक 'विष्टप्' शब्द की सभी व्याख्याओं में 'आविष्ट' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो 'आ' उपसर्ग पूर्व √विश् (प्रवेश करना) का क्त प्रत्ययान्त रूप है। इससे स्पष्ट है कि इन सभी अर्थों में (विष्टप्) का निर्वचन √विश् + तप् > विष्टप् ही काम्य है। आकाशार्थक 'विष्टप्' के विषय में भी यही बात है।

(vi) आदित्यार्थक 'नभस्' की तीन व्याख्यायें की गई हैं। प्रथम व्याख्या में उसे 'नेता भासाम्' कहा गया है। इसी को दूसरे शब्दों में 'ज्योतिषां प्र भी कहा गया है। 'नेता' 'नी' से बना शब्द है---इसलिए इसका निर्व होगा—√नी + भास् > न भास् > नभस्। इसके दूसरे निर्वचन को स करते हुए यास्क ने कहा है 'अपि वा भन एव स्याद् विपरीत' इसका तात्पर्य यह है कि 'भनस्' शब्द ही वर्णविपर्यय के द्वारा 'नभस्' हो गया कतिपय व्याख्याकारों ने भासनार्थक √भन्द धातु के असुन् प्रत्ययान्त 'भन्दस्' से भनस् को विकसित माना है। इस प्रकार 'नभस्' का निर्व √भन्द + असुन् > भन्दस् > भनस् > नभस्। अन्तिम निर्वचन में कहा है भातीति वा। इसका तात्पर्य यह है---प्रथम 'न भातीति नभः' इस व्यु के आधार पर---न + √भा + असुन् = नभस् बनेगा। पुनः 'न नभस् नभस्' इस प्रकार पुनः 'नञ्' का प्रयोग कर उसका लोप हो जायेगा। इ तात्पर्य होगा कि प्रस्तुत में 'न' तो केवल एक प्रयुक्त होगा, किन्तु वह दो का अर्थ देगा। ये ही निर्वचन आकाशार्थक 'नभस्' के भी होंगे। राजवा इसे यों दिखाया है—न + त√भा > अनभ > नभस् ॥१४॥

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥

अथ पञ्चमः पादः

अगली पंक्तियों में 'रश्मि' वाचक शब्दों की संख्या की सूचना देकर उसका निर्वचन किया गया है :

मूल—रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश। रश्मिर्यमनात्। तेषामादित साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः।

अनुवाद—बाद के पन्द्रह नाम 'रश्मि' (किरण) के वाचक हैं। 'रश्मि' शब्द यमन अर्थात् बन्धन के कारण निष्पन्न होता है। उनमें से आदि के पाँच नाम के घोड़े की रस्सी (लगाम) के साथ सामान्य हैं।

व्याख्या—'निघण्टु में' रश्मिवाचक ये नाम इस प्रकार बताये गये हैं—(१) खेदभः, (२) किरणाः (३) गावः, (४) रश्मयः, (५) अभीशवः, (६) दीधितयः, (७) गभस्तयः, (८) वनम्, (९) उस्राः, (१०) वसवः, (११) मरीचयः, (१२) मयूखाः, (१३) सप्तऋषयः, (१४) साध्याः (१५) सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मिनामानि। इनमें से प्रथम पाँच नाम घोड़े की लगाम और किरण दोनों के सामान्य नाम हैं।

'रश्मि' का निर्वचन करते हुए यास्क ने कहा है—'रश्मिर्यमनात्'। इसके आधार पर कतिपय व्याख्याकारों का कहना है 'रश्मि' शब्द बन्धनार्थक √यम् धातु से निष्पन्न होता है—√यम् + इ > रश् म् + इ ('य' के स्थान पर 'रश्' आदेश > रश्मि। परन्तु कतिपय व्याख्याकार 'यमनात्' को केवल अर्थ निर्वचन मानते हैं और 'रश्मि' की निष्पत्ति बन्धनार्थक √रश् धातु से मानते हैं √रश् + मि > रश्मि। यद्यपि यह धातु पाणिनीय धातुपाठ में नहीं है, किन्तु 'रशना' आदि शब्दों के रहते उसके अस्तित्व पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।

अगले सन्दर्भ में 'दिशा' वाचक शब्दों की संख्या के उल्लेख के साथ उनमें से कुछ का निर्वचन किया जा रहा है :

मूल—दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। दिशः कस्मात्? दिशतेः, आसदनात्, अपि वाऽभ्यशनात्। तत्र 'काष्ठा' इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्य: नाम भवति—(i) 'काष्ठाः' दिशो भवन्ति—क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति, (ii) काष्ठा

उपदिशो भवन्तीतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति, (iii) आदित्योऽपि काष्ठोच्यते—क्रान्त्वा स्थितो भवति, (iv) आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते—क्रान्त्वा स्थितो भवति । आपोऽपि काष्ठाः उच्यन्ते—क्रान्त्वाः स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम् ॥१५॥

अनुवाद—बाद के आठ नाम दिशा के नाम हैं। (दिशा को) दिशा क्यों कहते हैं ? √दिश् (धातु) से, समीप में विद्यमान होने से या व्यापक होने से । उन (आठ नामों) में से 'काष्ठा' यह शब्द अनेक पदार्थों का वाचक है। 'काष्ठा' दिशाओं को कहते हैं (क्योंकि वे) (प्रत्येक पदार्थ के) पास पहुँचकर स्थित हैं । 'काष्ठा' उपदिशाओं को कहते हैं, (क्योंकि वे) एक दूसरे का अतिक्रमण करके स्थित हैं । आदित्य को भी 'काष्ठा' कहते हैं । (क्योंकि वह) चलकर (या सबको नीचे रखकर) स्थित है । युद्ध का मैदान भी 'काष्ठा' कहलाता है (क्योंकि वह) फैलकर स्थित होता है । जल भी 'काष्ठा' कहलाता है, (क्योंकि वह) चलकर स्थित होता है, यह (निर्वचन) स्थिर (जल) की है ॥१५॥

व्याख्या—यास्क के द्वारा संकेतित निघण्टु के आठ दिशावाचक नाम उन के शब्दों में ये हैं----

(१) आताः, (२) आशाः, (३) उपराः, (४) आष्ठाः, (५) काष्ठाः, (६) व्योम, ककुभः, (७) हरित इत्यष्टौ दिङ्नामानि ।

'दिश्' या 'दिशा' शब्द का उसके पर्यायवाची आठ शब्दों में उल्लेख नहीं है, यह एक उल्लेखनीय बात है । यास्क ने 'दिश्' के तीन निर्वचन दिये हैं—(i) √दिश् धातु से । दिश्यते इति दिश्—अर्थात् जिसकी ओर अंगुली आदि के द्वारा निर्देश या संकेत किया जाता है, उसे दिश् कहते हैं । इस प्रकार √दिश् + क्विप् (०) > दिश् सिद्ध है । (ii) दूसरा निर्वचन उन्होंने 'आसदनात्' कहकर किया है । इसका तात्पर्य यह है कि दिशाएँ प्रत्येक वस्तु के समीप हैं, ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके पास दिशा न हो । स्पष्ट है कि इस अर्थ में 'दिश्' का निर्वचन होगा—'√सद् + ० (क्विप्) > दस् + ० > दिश्' (iii) तीसरे निर्वचन में उसकी व्यापकता को ध्यान में रखा गया है—'अभ्यशनात्' (व्यापक होने के कारण 'दिश्' कहते हैं)। 'अशन' शब्द 'अशु' (व्याप्त्यर्थक) से

से निष्पन्न है, इसलिए प्रस्तुत अर्थ में दिश् का निर्वचन होगा—√अश्+० (क्विप्)>अश्+०>इश्+०>दिश् (प्रारम्भ में 'द्' का आगम)।

'काष्ठा' शब्द के यास्क ने पाँच अर्थ माने हैं और पाँचों के निर्वचन में 'क्रान्त्वा स्थित' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि इन सभी अर्थों में 'काष्ठा' शब्द का निर्वचन उपर्युक्त दोनों शब्दों या उनकी धातुओं से अभिप्रेत प्रतीत होता है। स्थिति को देखते हुए यह निर्वचन कुछ इस प्रकार होगा—

'क्रान्त्वा + √स्था > क्रा + स्था > कास्था > काष्ठा।'

यहाँ जलार्थक 'काष्ठा' शब्द का जो निर्वचन किया गया है, वह स्थिर या स्थावर जल का ही माना जा सकता है, क्योंकि वही कुछ दूर चलने के पश्चात् तालाब आदि में स्थिर हो जाता है ॥१५॥

अगले सन्दर्भ में सचल जलार्थक 'काष्ठा' शब्द से सम्बद्ध मन्त्र को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की गई है—

मूल—अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥
(ऋ १/३२/१०)

अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानाम्—इत्यस्थावराणां काष्ठानां। मध्ये निहितं शरीरं—मेघः शरीरम्। शरीरं, शृणातेः, शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं—निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमस्तनोतेः। आशयदाशेतेः। इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा, शातयिता वा। तस्मादिन्द्रशत्रुः।

अनुवाद—न ठहरने वालों (और) न विश्राम करने वालों जलों के मध्य में शरीर (मेघ) रखा हुआ था। जल वृत्र के निम्न-प्रदेश की ओर विचरण करते हैं; इन्द्र रूप शत्रु वाले (उस) ने गहन—गम्भीर अन्धकार को व्याप्त किया हुआ था।

'न ठहरने वालों, न विश्राम करने वालों' से (स्पष्ट है कि) शरीर अर्थात्

मेघ अस्थावर किंवा सचल जलों में रखा हुआ था। 'शरीर' शब्द '√शृ' धातु या √शम् धातु से निष्पन्न होता है। जल वृत्र के निण्य अर्थात् निम्न प्रदेश की ओर प्रस्थान करते अर्थात् उसे जानते हैं। 'दीर्घ' शब्द √द्राघ् धातु से निष्पन्न होता है 'तमस्' शब्द √तनु धातु से निष्पन्न होता है। 'आशयत्' शब्द 'आ' उपसर्ग पूर्वक √शी (शीङ् स्वप्ने) धातु से निष्पन्न होता है। 'इन्द्र शत्रु' (का अर्थ है) इन्द्र उसको शान्त करने वाला नष्ट करने वाला है—इसीलिए (उसे) 'इन्द्र शत्रु' (कहा जाता है)।'

व्याख्या—उपर्युक्त मन्त्र में 'काष्ठानाम्' के दो विशेषण आए हैं—'अतिष्ठन्तीनाम्' और 'अनिवेशनानाम्'। इनमें से प्रथम का अर्थ है न ठहरने वालों के' और दूसरे का अर्थ है—'विश्राम न करने वालों के'। न ठहरना और विश्राम न करना जैसी विशेषताएँ सचल किंवा बहने वाले जल की ही होती हैं, स्थिर जल की नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलना स्वाभाविक है कि प्रस्तुत मन्त्रस्थ 'काष्ठा' शब्द का प्रयोग सचल शब्द के लिए किया गया है। यास्क मन्त्र के उद्धरण से यही स्पष्ट करना चाहते हैं।

निर्वचन इस प्रकार हैं—

शरीरम्—यह नश्वर या शीघ्र ही जीर्णशीर्ण हो जाने वाले मेघ के अर्थ में आया है। इसीलिए यास्क ने इसका निर्वचन √शृ (जिसका अर्थ 'हिंसा' है) और √शम् (जिसका अर्थ शान्त होना है), से होने का संकेत किया है। फलतः (i) √शृ + ईर > शर् + ईर > शरीर। (ii) √शम् + ईर > शर् + ईर > शरीर।

निण्यम्—इसके पर्यायवाची 'निर्णामम्' देकर यास्क ने इसके विकास की सम्भावना √नम् धातु से की है, जिसका अर्थ झुकना या नत होना है। इसे यों देखना चाहिए—√नम् + य > निम् + य > निण + य > निण्य।

दीर्घम्—इसका निर्वचन 'द्राघतेः' कहकर यास्क ने 'द्राघ्' धातु से माना है। √द्राघ् + अ (अय्) > द्रीघ् + अ > दीर्घ' के रूप में यह स्पष्ट है।

तमस्—'तनोतेः' कहकर इसका निर्वचन √तनु (विस्तारे) धातु से मानने का संकेत किया गया है। इस प्रकार √तनु + अस् (असुन्) > तन् + अस् > तम् + अस् > तमस् के रूप में इसका निर्वचन स्पष्ट है।

अशयत्—'आशेते:' से यह स्पष्ट है कि यास्क इसे णिजन्त √शी (शीङ्) के लङ् लकार का (प्रथम एकवचन में) रूप समझते हैं।

इन्द्रशत्रु:—इस शब्द की व्याख्या के व्याज से यास्क ने इसके घटक 'शत्रु' के निर्वचन की ओर भी संकेत किया है। इसके यहाँ दो पर्याय दिए गए हैं—'शमयिता' और 'शातयिता'। इससे स्पष्ट है कि उन्हें इसका निर्वचन (i) '√शम् + त्रु > शत्रु' और (ii) √शात् + रु > शत् + रु > शत्रु के रूप में अभिप्रेत है।

इस प्रकार 'शत्रु' शब्द का अर्थ होगा—

शान्त कर देने या नष्ट कर देने वाला, और इस आधार पर, बहुव्रीहि समास के सहारे 'इन्द्र शत्रु:' का अर्थ होगा, वह (वृत्र) जिसको नष्ट करने वाला इन्द्र है, इन्द्र के द्वारा जो विनिष्ट होने को है—'इन्द्र: शत्रु: यस्य स:'।

निम्न पंक्तियों में 'वृत्र' के स्वरूप पर विचार किया गया है—

मूल—तत्को वृत्र: ? 'मेघ' इति नैरुक्ता:। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका:। अपाञ्च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षणकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा: ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आप:। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति—॥१६॥

अनुवाद—तो वृत्र कौन है ? 'मेघ' (ही वृक्ष है) यह नैरुक्त कहते हैं, त्वष्टा का पुत्र असुरजातीय (कोई ऐतिहासिक पुरुष वृक्ष है। ऐसा ऐतिहासिक लोग मानते हैं। जल और ज्योति के मिश्रण से वर्षा का कार्य होता है। उसमें युद्ध के वर्णन उपमा (समानता प्रदर्शित करने) के निमित्त होते हैं। मन्त्रों के वर्णन और ब्राह्मणों के कथन (उसे) सर्प के समान (सिद्ध करते हैं)। (उसने अपने) शरीर की वृद्धि से जलधाराओं को अवरुद्ध कर दिया। (इन्द्र के द्वारा उसका) वध कर देने पर, जल बहने लगे। यह (वक्ष्यमाण) ऋचा इसी (तथ्य) को व्यक्त करने वाली है—॥१६॥

व्याख्या—पूर्व सन्दर्भस्थ मन्त्र में प्रोक्त वृत्त कौन है ? इस प्रश्न को उठाकर यास्क ने इसके दो उत्तर दिए हैं (i) नैरुक्तों की दृष्टि में 'मेघ' ही वृत्र है (ii) ऐतिहासिकों और पौराणिकों के विचार में वृत्र एक ऐतिहासिक व्यक्ति है जो त्वष्टा नामक व्यक्ति का पुत्र और असुर जाति का है। पुराणों में बताया गया है कि उसका इन्द्र से विरोध था । इन्द्र ने उसको मारने के लिए महर्षि दधीचि की हड्डियों का वज्र बनाया और उसके फलस्वरूप युद्ध-भूमि में वृत्र का वध हो सका। यास्क ने यहाँ ऐतिहासिकों की एतत्सम्बन्धिनी विचारधारा का केवल संकेत ही किया है, उसका उपपादन नहीं किया है। क्योंकि वे एक नैरुक्त हैं, इसलिए निरुक्तकारों के वृत्रविषयक दृष्टिकोण से सहमत हैं और उसी का उपपादन करते हैं। ऊपर की पंक्तियों में वृत्र के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है, उसे संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है।

वैदिक वाङ्मय में इन्द्र और वृत्र को परस्पर विरोधी चित्रित किया गया है। स्थान-स्थान पर यह बताया गया है कि इन्द्र ने वृत्र का वध किया, जिसके कारण रुका हुआ जल बह निकला । यास्क के विचार में, वृत्र उस प्राकृतिक शक्ति का नाम है, जो भूमि से सूर्य की किरणों के द्वारा अन्तरिक्ष में ले जाए गए जलकणों को नीचे गिरने नहीं देती, क्योंकि वह स्वयं उन्हीं का संहत-घनीभूत रूप है। यही नैरुक्तों का मेघ है, और इन्द्र अन्तरिक्षस्थ वह प्राकृतिक शक्ति है जो मेघ के रूप में घनीभूत इस जलराशि को वर्षा के रूप में भूमि पर गिरने के लिए बाध्य कर देती है। अन्तरिक्ष में जब भी इन दोनों प्राकृतिक शक्तियों में संघर्ष होता है, तभी गड़गड़ाहट, वज्रपात और बिजली के कौंधने के दृश्य देखने-सुनने को मिलते हैं। ये सभी उक्त प्राकृतिक शक्तियों के समान ही प्राकृतिक हैं। किन्तु वैदिक काव्यकारों ने काव्य में चमत्कार लाने के लिए, इस दृश्य का वर्णन एक वास्तविक युद्ध के रूप में किया। ऐसा युद्ध जिसमें दो योद्धा, अपने-अपने सैनिकों और शस्त्रों के साथ एक-दूसरे को पराजित करने की चेष्टा करते हैं, पराजित करते हैं और कभी-कभी अपने शत्रु को मार भी डालते हैं। प्राकृतिक शक्तियों के उक्त संघर्ष में क्योंकि वर्षा कराने वाली शक्ति अन्ततः विजयी और वर्षा को रोकने वाली शक्ति पराजित हो जाती है इसलिए

लोगों ने इन्द्र को विजेता और वृत्र को पराजित व्यक्ति समझ लिया। पुराणों ने इस धारणा को आगे बढ़ाया। दोनों ही प्राकृतिक शक्तियों को ऐतिहासिक व्यक्तियों की मान्यता देकर उनके शाश्वत संघर्ष को मानवीय युद्ध के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया।

वस्तुतः, जैसा कहा गया है, वृत्र जल की अवरोधक शक्ति है। वेदों और ब्राह्मणों में उसे अहि किं वा सर्प माना गया है, जो जलधाराओं में अपने शरीर का विस्तार कर पड़ा रहता है, जिसके कारण पानी का वहाव बन्द हो जाता है। इन्द्र जब इसका वध कर देता है, तो पानी स्वतः बहने लगता है। अहि का यह वध और जल का बहना दूसरे रूप में इन्द्र के द्वारा वर्षा की अवरोधक शक्ति की पराजय और जल वर्षा है।

अगले सन्दर्भ में, पूर्व संकेतित मन्त्र का उद्धरण और उसकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—

मूल—दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ, अप तद्ववार॥
(ऋ० १/३२/११)

दासपत्नीः दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेः—उपदासयति कर्माणि। अहिगोपा अतिष्ठन्—अहिना गुप्ताः। अहिरयनात्—एत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहर्—एतस्मादेव, निर्ह्रसितोपसर्गः आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग् भवति। पणिः पणनात्। वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां विलंमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति—बिभर्त्तेः। वृत्रं जघ्निवान्। अपववार तत्। वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा—'यदवृणोत् तद् वृत्रत्वम्, इति विज्ञायते। यदवर्त्तत तद् वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते। यदवधत तद् वृत्रत्वम् इति विज्ञायते॥१७॥

अनुवाद—दास रूपी पति वाली तथा सर्प (वृत्र) रूपी रक्षक वाले अवरुद्ध जल, पणि के द्वारा घिरी हुई गायों के समान स्थिर थे। जल का जो बिल ढँका हुआ था, इन्द्र ने वृत्त को मारा (और) उसे खोल दिया।

'दासपत्नीः' का तात्पर्य है दास (वृत्र) रूपी अधिपति (स्वामी) वाले। 'दास' (शब्द) √ दस् (धातु से निष्पन्न) होता है—(वह) कर्मों को नष्ट करता है। 'अहिगोप' (का अर्थ है) अहि (सर्प) के द्वारा सुरक्षित। अहि गमन करने के कारण (अहि कहलाता है, क्योंकि वह) अन्तरिक्ष में गमन करता है। यह दूसरा (लौकिक) अहि-सर्प भी (चलने के) कारण ही अहि कहलाता है), अथवा ह्रस्व लिए गए 'आ' उपसर्ग (पूर्वक) √हन् धातु से निष्पन्न है, इसलिए (अहि कहलाता है), पणि के द्वारा रोकी गई गायों के समान जल रुके हुए थे। 'पणि' (का अर्थ) व्यापारी होता है। 'पणि' पणन अर्थात् व्यवहार करने के कारण (पणि कहलाता है)। (वह) वणिक् (इसलिए कहलाता है, क्योंकि वह) विक्रेय वस्तु, को (बेचे जाने के लिए) स्वच्छ रखता है। जल का जो बिल (छेद) बन्द था। 'बिल' (का मूल रूप) भर है जो, √भृ (भरण) धातु से निष्पन्न है। वृत्र को मारा। उसको खोल दिया। 'वृत्र' शब्द या तो √वृ (ढंकना अर्थ) धातु से, या √ वृत् (वर्तमान में रहना) धातु से, या √वृध् (बढ़ना अर्थ) धातु से निष्पन्न है 'जो उसने ढका, वह वृत्र का वृत्रत्व है, ऐसा जाना जाता है 'जो' वह (वृत्र) विद्यमान रहा। वह वृत्र का वृत्रत्व है' ऐसा जाना जाता है, जो वह (वृत्र) बढ़ा, वह वृत्र का वृत्रत्व है, ऐसा जाना जाता है ॥१७॥

व्याख्या—उपर्युक्त मन्त्र का आशय यह है कि रुके हुए जलों का स्वामी और रक्षक वृत्र था, क्यों उसने ही उनको अवरुद्ध किया हुआ था। इन्द्र ने उस अवरोधक वृत्र का वध किया और जल के बहने का' जो मार्ग उस (वृत्र के अस्तित्व) के कारण अवरुद्ध हो गया, उसे खोल दिया, जिसके फलस्वरूप रुका हुआ जल बह निकला।

अब निर्वचन को लें।

दासपत्नीः—इसका अर्थ है, जल, जिनका स्वामी दास (वृत्र) है, वृत्र ने जिनको रोककर अपने अधिकार में रखा था—'दासः अधिपतिः यासां' ताः (बहुव्रीहि)। इसके प्रथम घटक 'दास' को यास्क ने √दस् (उपक्षयार्थक) के णिजन्त रूप से निष्पन्न माना है। जो कामों को नष्ट कर देता है, उपक्षीण कर देता है, वह 'दास' है—कर्माणि उपदासयतीतिदासः दस् । इ (णिच्)

+(घञ्) > दस् + अ > दास (आदिवृद्धि)। यह शब्द पहले आर्यों के घोरतम शत्रुओं के अर्थ में प्रयुक्त होता था, किन्तु कालान्तर में गुलामों और सेवकों के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। यहाँ यह इन्द्र के शत्रु वृत्र के अर्थ में प्रयुक्त है।

अहिगोपाः—यह 'आपः' का विशेषण है। यास्क ने इसकी व्याख्या करते हुए जो 'अहिना गुप्ताः' का प्रयोग किया है, उससे यह स्पष्ट है कि वे यहाँ तृतीया तत्पुरुष और 'गोप' को 'गुप्त' का समानार्थक मान रहे हैं। परन्तु इसके स्थान पर, √गुप् धातु और घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'गोप' शब्द का 'अहि' के साथ ('दासपत्नीः' के समान) बहुव्रीहि समास मानना अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत है—अहि हैं गोप (रक्षक) जिनका अर्थात् अहि के द्वारा रक्षित—'अहिः गोपः यासां ताः। प्रतीत होता है यास्क ने अपने व्याख्यात्मक वाक्य में इसके इसी अर्थ को व्यक्त किया है। इसके प्रथम घटक 'अहि' का निर्वचन यास्क, वृत्र अर्थ में, √इण्' धातु से माना है। वह अन्तरिक्ष में चलता है, अयन करता है, इसलिए 'अहि' कहलाता है—एतीत्यहिः √इ (इण्) + इ (इन्) > अयि > अहि। किन्तु इसी शब्द का, सर्प के अर्थ में निर्वचन उक्त धातु के साथ-साथ आ + √हन् से भी करते हैं। वह जमीन पर चलता है, इसलिए 'अहि' है (इ + इ > अयि > अहि पूर्ववत्)। किन्तु वह दंशन कर लोगों को मार डालता है, हिंसा करता है, इसलिए भी 'अहि' है। इस अर्थ में इसका शब्द निर्वचन इस प्रकार होगा—आ + √हन् (हिंसार्थक) + इ > अ (उपसर्ग को ह्रस्व) + ह + इ > अहि।

पणि—यास्क ने पणि का अर्थ व्यापारी बतलाया है—'पणिर्वणिग् भवति और 'पणि' का निर्वचन व्यवहार (लेन-देन) अर्थ वाली √पण् धातु से किया है। वह पणन (व्यवहार) करता है, इसलिए 'पणि' है—√पण् + इ > पणि। इसी सन्दर्भ में उन्होंने 'वणिक्' शब्द का भी निर्वचन कर दिया है। उनकी दृष्टि में 'वणिक' शब्द 'पण्य' शब्द और √निज् (पा० 'णिजर्') धातु के योग से निष्पन्न हुआ है। व्यापारी क्योंकि, बेचने के लिए विक्रेय वस्तुओं को साफ-सुथरा रखता है, सजाता और संवारता रहता है, जिससे उसका अधिकाधिक

मूल्य प्राप्त करे, इसलिए 'वणिक्' कहलाता है । 'पण्यं नेनेक्ति इति वणिक्' (पण्य + √निज्) (शुद्ध करना अर्थ) + क्विप्) > पनिक् > वनिक् > वणिक्)।

बिल—बिल शब्द का विकास यास्क ने 'भर' शब्द से विकसित माना है—बिलं भर भवति' और 'भर' को √भृ धातु से । बिल (छेद) क्योंकि जल आदि के द्वारा भरता है, पूर्ण > होता है, इसलिए पहले 'भर' कहलाया और बाद में विकसित होकर 'बिल' । इस विकास को इस रूप में देखा जा सकता है—√भृ + अ (अप्) > भर > बल > बिल ।

वृत्र—इसका निर्वचन उन्होंने इसके तीन अर्थों के कारण तीन अलग अलग धातुओं से किया है—(i) क्योंकि वह आवृत करता है, इसलिए 'वृत्र' कहलाता है—'वृणोतीति वृत्रः' इस अर्थ में आच्छादनार्थक √वृ धातु और 'त्र' प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना जाएगा । (ii) क्योंकि वह (सदैव) वर्तमान रहता है, 'वृत्र' है—'वर्तत इति वृत्रः' इस अर्थ में √वृत् (रहना) + र), वृत्र के रूप में इसका निर्वचन होगा । (iii) क्योंकि उसका शरीर सदैव बढ़ता रहता है, इसलिए वह 'वृत्र' है—वर्धत इति 'वृत्रः' इस अर्थ में इसका विकास √'वृध् (वर्धने) + र > वृत् + र > वृत्र' के रूप में स्पष्ट है । यास्क ने अपने इन निर्वचनों की पुष्टि में जो तीन वाक्य रखे हैं, वे किसी अज्ञात ब्राह्मण-ग्रन्थ के है।

॥ पञ्चम पाद समाप्त ॥

अथ षष्ठः पादः

निम्न पंक्तियों में 'रात्रि' के पर्यायों का संकेत और 'रात्रि' की व्याख्या की गई है—

मूल—रात्रिनामान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः । रात्रिः कस्मात् ? प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीणि, उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति, रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः । प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः ।

अनुवाद—अगले नाम तेईस रात्रि के पर्यायवाची है । (रात को) रात्रि क्यों कहते हैं ? (क्योंकि वह) निशाचर प्राणियों को आनन्दित करती है, (उन से) भिन्न प्राणियों को उपरत अर्थात् स्थिर बनाती है, अथवा दानार्थक √रा धातु से वह निष्पन्न है (क्योंकि) उसमें अवश्याय (ओसकण) दिए जाते हैं।

व्याख्या—यास्क ने ऊपर रात्रि के जिन नामों की ओर संकेत किया है, वे निघण्टु के शब्दों में इसप्रकार हैं:—

(१) शयावी (२) क्षपा (३) शर्वरी, (४) अक्तुः (५) ऊर्म्या, (यम्या, (७) नम्या (८) दोषा, (९) नक्तम् (१०) तमः, (११) राजः, (१२) असिक्नी (१३) पयस्वती, (१४) तमस्वती (१५) घृताची, (१६) शिरिणा, (१७) मोकी, (१८) शोकी (१९) ऊधः, (२०) पयः (२१) हिमा (२२) वस्वीति त्रयोविंशती रात्रिनामानि।

यहाँ पर यास्क ने रात्रि के तीन अर्थ-निर्वचन और दो शब्द-निर्वचन किए हैं। प्रथम दो निर्वचनों में वे √रम् धातु से उसका विकास मानते हैं—(i) रात्रि निशाचर प्राणियों को रमाती है, आनन्द प्रदान करती है—'प्ररमयति नक्तञ्चारीणि भूतानीति रात्रिः—'(vi) रात्रि अन्य (निशाचर से भिन्न) प्राणियों को (स्वप्नावस्था में) स्थिर कर देती है—उपरमयतीहरणाणीति रात्रिः—इन दोनों ही अर्थों में रात्रि शब्द का निर्वचन होगा- √रम्+इ (णिच्+त्रि (त्रिप्) > राम्+त्रि > रात्रि। दूसरा शब्द निर्वचन √'रा' धातु से माना गया है, जिसका अर्थ 'देना' है। रात्रि में, क्योंकि अवश्याय (ओस की बूंद) प्रकृति की ओर से पृथिवी को दिए जाते हैं, इसलिए वह 'रात्रि' कहलाती है। रीयन्ते प्रदीयन्तेऽस्यामवश्याया इति रात्रिः। इस अर्थ में निर्वचन होगा—√रा+त्रि > रात्रि।

अगले सन्दर्भ में 'उषस' के नामों का संकेत और व्याख्या की गई है—

मूल—ऊषोनामान्युत्तराणि षोडश। उषाः कस्मात्? उच्छतीति सत्याः। रात्रेरपकालः। तस्या एषा भवति ॥१८॥

अनुवाद—बाद के सोलह नाम 'उषस्' के नाम हैं। (उसे) 'उषष्' क्यों कहते हैं? (क्योंकि वह अन्धकार को हटाती है, इसलिए वह 'उषस्' है)। ('उषस्' का अर्थ) रात्रि का अन्तिम काल है। उस (उषस् से सम्बन्ध रखने वाली) यह (ऋचा) है—॥१८॥

व्याख्या—उपरि संकेतित 'उषस्' के सोलह नाम 'निघण्टु' के शब्दों में इस प्रकार हैं—

(१) विभारी (२) सूनरी, (३) भास्वती (४) ओदती (५) चित्रा—मघा (६) अर्जुनी:, (७) वाजिनी, (८) वाजिनी-वती (९) सुम्नावरी, (१०) अहना, (११) द्योतना, (१२) श्वेत्या, (१३) अरुणी, (१४) सूनृता, (१५) सूनृतावती, (१६) सूनृतावरीति षोडषोनामानि ।

'उषस्' रात्रि के पिछले समय को कहते हैं । 'उषस्' क्योंकि रात्रि में छाए हुए घने अन्धकार को हटा देती है, उसका 'विवासन करती है, इसलिए वह 'उषस्' कहलाती है—अन्धकारमुच्छतीत्युषा: इस व्युत्पति के आधार पर यास्क की दृष्टि में उषस् का निर्वचन होगा √उच्छ् (विवासन=हटाना) अस् >उसस >उषस् ।

अगले सन्दर्भ में 'उषस्' को रात्रि का अपर काल बताने वाली 'ऋचा' का उद्धरण और उसकी व्याख्या है—

मूल—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच् चित्र: प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।
यथा प्रसूता सवितु: सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥
(ऋ० १/११३/१)

इदं श्रेष्ठ ज्योतिषां ज्योतिरागमत् । चित्रं, प्रकेतनं, प्रज्ञाततमम् अजनिष्ट । विभूततमम् । यथा प्रसूता सवितुः । प्रसवाय रात्रिरादित्यस्यैवं रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानम । स्त्रीयोनिरभियुतः एनां गर्भः । तस्या एषाऽपरा भवति ॥१६॥

अनुवाद—यह ज्योतियों में (भी) श्रेष्ठ ज्योति (उषस्) आ गई है । (और एक) अद्भुत, अत्यन्त प्रख्यात और व्यक्ततम (प्रकाश) उत्पन्न हुआ है । जिस प्रकार उत्पन्न हुई यह (रात्रि) सविता के जन्म के लिए (स्थान को रिक्त करती है) उसी प्रकार (इस) रात्रि ने उषस् के (जन्म के लिए) स्थान को रिक्त किया है ।

यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति (उषस्) आ गई है। (यह) अद्‌भुत सुप्रसिद्ध और अत्यन्त व्यापक (प्रकाश) उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार उत्पन्न हुई रात्रि सविता अर्थात् आदित्य के प्रसव के लिए (स्थान को रिक्त करती है) उसी प्रकार रात्रि ने उषस के (जन्म के) लिए योनि अर्थात् स्थान को रिक्त कर दिया है। स्त्री का गर्भ (योनि भी) योनि इसलिए कहलाता है क्योंकि भ्रूण इससे संयुक्त होता है। उस (उषस्) की यह दूसरी (ऋचा) है—॥१९॥

व्याख्या—उपर्युक्त मन्त्र में यह बताया गया है कि रात्रि 'उषस्' के जन्म के लिए स्थान या अवकाश प्रदान करती है, अर्थात् रात्रि के अन्तिम काल में उससे उषस् उत्पन्न होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि रात्रि का पिछला समय ही 'उषस् है। यही सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त ऋचा अवतरित की गई थी।

मन्त्र में उषस् को सर्वश्रेष्ठ ज्योति कहा गया है। इसका कारण है उषस् का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के समान न तो एकान्त उष्ण है और न चन्द्रमा के प्रकाश के समान एकान्त शीतल। वह न उष्ण है न शीतल इसलिए सर्वजन-प्रिय है और इसलिए सर्वश्रेष्ठ भी।

यास्क ने मन्त्र की व्याख्या में, मन्त्रस्थ 'प्रकेतः' का पर्याय प्रकेतनम् दिया है और फिर उसको अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रज्ञाततमम् पद दिया है। इसी प्रकार 'बिम्बा' का पर्याय विभूततमम्' देकर अर्थ को स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर 'योनि' का अर्थ 'स्थान' दिया गया है—इससे 'योनि' की व्युत्पत्ति संभवतः यह है—पूयते युज्यते जन्मनेति योनिः अर्थात् जो किसी के जन्म या उत्पत्ति से युत होती है, वही (योनि) है—√यु+नि>योनि। इसी सन्दर्भ में यास्क यह भी बताते हैं कि स्त्री के गर्भ को भी 'योनि' इसी लिए कहा जाता है, क्योंकि वह भ्रूण से 'युत' होता है। इसी अर्थ में 'योनि' का निर्वचन पहले किया जा चुका है।

टिप्पणी—यहाँ 'स्त्रीयोनि' शब्द का अर्थ 'स्त्री का गर्भ' और 'गर्भ' शब्द का अर्थ 'भ्रूण' लिया जाता है। इन शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ लेने पर भाव में अन्तर नहीं है।

अगली पंक्तियों में 'उषस्' से सम्बद्ध दूसरी ऋचा को देकर उसकी व्याख्या की जा रही है

मूल--

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्याऽऽगाद आरैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्ण चरत आमिनाने॥
(ऋ० १/११३/३)

रुशद्वत्सा-सूर्यवत्सा। रुशत् इति वर्णनाम, रोचतेः ज्वलति कर्म सूर्यमस्याः वत्समाह...साहचर्यात्, रसहरणाद वा। रुशती श्वेत्याऽऽगात्। श्वेत्या श्वेततेः। अरिचत् कृष्णा सदनान्यस्याः। कृष्णवर्णा रात्रिः। कृष्णं कृष्यतेः, निकृष्टोवर्णः। अथैने संस्तौति---समानबन्धू समानबन्धने। अमृते=अमरणधर्माणौ। अनूची अनूच्यौ इतरेतरमभिप्रेत्य। द्यावा वर्ण चरतः। त एव द्यावौ। द्योतनात्। अपि वा द्यावा चरतस्तया सह चरत इति स्यात्। आमिनाने=अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे।

अनुवाद—देदीप्यमान (सूर्य रूप) बछड़े वाली, श्वेत रंग की दीप्तिमती 'उषस्' आ गई है। काले रंग की रात्रि ने इसके लिए स्थान को रिक्त कर दिया है। समान बन्धनों वाली, अमरणधर्मा, एक-दूसरे का अनुसरण करने वाली (तथा) दीप्तिमती (ये दोनों एक-दूसरे के रंग को) नष्ट करती हुई विचरण करती हैं।

दीप्तिमान् बछड़े वाली (का अर्थ है) सूर्यरूप बछड़े वाली। सूर्य को (उषस्) का बछड़ा कहा है—साहचर्य के कारण या रस का हरण करने के कारण। दीप्तिमती, श्वेत रंग की (उषस्) आ गई है। श्वेत्या शब्द √श्वित् धातु से (निष्पन्न है)। कृष्णा अर्थात् काले वर्ण वाली रात्रि ने इसके स्थानों को रिक्त कर दिया है। 'कृष्ण' शब्द √कृष् धातु से निष्पन्न होता है (और उसका अर्थ है) निकृष्ट वर्ण। अब इनकी साथ-साथ स्तुति करता है— समान 'बन्धू' (का अर्थ है) समान बन्धन वाली। अमृते' (का अर्थ है) अमरणधर्मा। 'अनूची' (का अर्थ है अनुसरण करने वाली और) यह एक-दूसरे

अभिप्राय से (कहा गया है)। द्युतिमती (वे दोनों) वर्ण को चलाती हैं। वे दोनों (रात्रि और उषस्) ही 'द्यौ' हैं (क्योंकि वे) द्योतित होती हैं। अथवा द्युलोक के साथ चलती हैं—उसके साथ चलती हैं। यह होगा। आभिनाने का अर्थ ही—आपस में अन्तरात्मा को मिलती हुई।

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र में भी कृष्ण रात्रि के द्वारा श्वेत्या उषस् के लिए स्थान छोड़ने का उल्लेख किया गया है, अतः 'उषस्' का आगमन, रात्रि के पश्चात् होता है, 'उषस्' रात्रि का अपर काल है, यही बात सिद्ध होती है। यही सिद्ध करने के लिए यह अवतरित भी किया गया है।

मन्त्रगत कुछ शब्दों की व्याख्याएँ और निर्वचन इस प्रकार हैं—

रुशद्वत्सा—यह प्रस्तुत 'उषस्' के साथ अप्रस्तुत गाय का भी विशेषण है। 'वत्स' में श्लेष है। जिस प्रकार गाय चमकीले बछड़े वाली होती है, उसी प्रकार 'उषस् देदीप्यमान सूर्य रूपी बछड़े वाली होती है। (i) रुशन् देदीप्यमानः वत्सः यस्याः सा (गोपक्ष)। (ii) रुशन् देदीप्यमानः सूर्यएव वत्सः यस्याः सा (उषः पक्ष)। सूर्य को उषस् रूपी गाय का बछड़ा मानने में लक्षणा है। यास्क ने इसके दो कारण बताए हैं—(i) साहचर्य—इसकी तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सूर्य उषस् का अनुगमन करता है उसी प्रकार बछड़ा गाय का अनुगमन करता है (दुर्ग)। (ii) रस का हरण—इसका तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बछड़ा अपनी माँ गाय के स्तनों से रस (दुग्ध) का हरण (पान) करता है, उसी प्रकार सूर्य अपनी माता उषस् के रस (ओसकरणों) का पान करता है, (अपनी किरणों से उन्हें समेट लेता है)। इसमें 'रुशद्' शब्द √रुस् + शतृ से बना है।

श्वेत्या—निघण्टु में 'उषस्' को श्वेत्या कहा गया है। काले रंग की तुलना में वह श्वेत वर्ण की होती है, इसलिए उसे 'श्वेत्या' कहा जाता है। यास्क इसका निर्वचन √श्वित् (श्वेत होना) धातु से करते हैं। उसको प्रक्रिया सम्भवतः यह है—√श्वित् + अ (घञ्) > श्वेत > य ('यप्', मतुप् के अर्थ में) > श्वेत्य + आ (टाप्) > श्वेत्या)।

कृष्णा—का अर्थ कृष्णवर्णा रात्रि है। 'कृष्ण' शब्द √कृष् (खींचना) धातु से निष्पन्न है। जिस प्रकार अच्छी वस्तुओं में से बुरी वस्तु को खींचकर अलग कर दिया जाता है। उसी प्रकार 'कृष्ण' वर्ण भी अच्छे वर्णों में से खींचकर अलग किया गया वर्ण है—अर्थात् निकृष्ट वर्ण सबसे गया बीता रंग—√कृश् + न > कृष्ण।

समानबन्धु—यह रात्रि और 'उषस्' दोनों का विशेषण है इसलिए द्विवचन में है। 'बन्धु' शब्द का अर्थ है—बन्धन (बध्येतऽनेनेति बन्धुः—बन्धनम् √बन्ध + उ = बन्धुः, इस प्रकार इसका अर्थ होगा— समान बन्धन वाली, समान बन्धुः ययोस्ते। दोनों का समान बन्धन सूर्य है, क्योंकि उषस् सूर्योदय और रात्रि सूर्यास्त के माध्यम से सूर्य से ही सम्बद्ध है।

अमृते—यह भी उक्त दोनों का ही विशेषण है! वे दोनों अमृत अर्थात् अमरणधर्मा हैं, उनका कभी विनाश नहीं होता। वे सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर उसके अन्त तक विद्यमान रहने वाली हैं।

अनूची—यह भी उक्त दोनों का विशेषण है तथा स्त्री प्र० द्वि० का वैदिक रूप है। इसका लौकिक संस्कृत का रूप 'अनुच्यौ' के रूप में, 'निरुक्त' के कतिपय संस्करणों में प्राप्त होता है। इसका अर्थ है—एक-दूसरे का अनुसरण करने वाली। रात्रि उषस् का अनुगमन करती है और उषस् रात्रि का—इसलिए वे दोनों 'अनूची' हैं। इसका निर्वचन 'अनु + √अञ्च् + ई' है।

द्यावा—यास्क ने इसे दो अर्थों में प्रयुक्त किया है— रात्रि और उषस् दोनों के वाचक 'द्यौ' शब्द के प्रथमा द्विवचन में और आकाश वाचक 'द्यौ' शब्द के तृतीया एक वचन में। द्योतेते इति 'द्यौ' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रात्रि और उषस् देदीप्यमान होने के कारण 'द्यौ' (द्युत् + डौ = य द्यौ) हैं। इसके प्रथमा द्विवचन में, वैदिक भाषा में 'द्यावा' और 'द्यावौ' ये दो रूप मिलते हैं। इनमें से केवल दूसरा लौकिक संस्कृत में उपलब्ध होता है। आकाशार्थ 'द्यौ' शब्द की तृतीया एकवचन में 'द्यावा' होता ही है। अब यदि प्रथम अर्थ लेते हैं तो अर्थ होगा—द्युतिमान रात्रि और उषस् विचरण करते हैं किन्तु आकाश अर्थ में मानने पर अर्थ होगा— आकाश मार्ग से······।

आमिनाने—यह भी उक्त दोनों का विशेषण तथा स्त्री० प्र० द्वि० का वैदिक रूप है। लौकिक रूप होगा—'आभिन्वाने' जो कुछ संस्करणों में प्राप्त होता है। यास्क ने इसका अर्थ किया है 'अन्योन्यस्याऽत्म कुर्वाणे' अर्थात् परस्पर की अन्तरात्मा को मिलाती हुई। इसी को आचार्य दुर्ग ने इस प्रकार कहा है— उषस् रात्रि से और रात्रि उषस् से स्वयं को बनाती हैं। वे दोनों परस्पर

संश्लिष्ट हैं। इससे स्पष्ट है कि पद के 'आ' का अर्थ 'अधि' और 'मियाने' का 'कुर्वाणे' या 'निर्=मा' है। इसके अनुसार निर्वचन होगा आ + √मा + शानच् (वैदिक रूप)। किन्तु स्कन्द ने इसका अर्थ किया है—'समीपता के कारण एक-दूसरे के वर्ण को नष्ट करती हुई। अर्थात् उषस् अपने प्रकाश से रात्रि के कुछ अन्धकार को दूर करती है और रात्रि अपने अन्धकार से उषस् के प्रकाश को कुछ धूमिल करती है। ऐसी स्थिति में इसका निर्वचन—आ + √मी हिंसार्थक) + शानच् (वैदिक रूप)।

एत संस्तौति—इन दोनों की एक साथ स्तुति करता है। पूर्वार्द्ध में केवल उशस् की स्तुति है जबकि उत्तरार्द्ध में दोनों की। इसलिए 'स्तौति' न कहकर संस्तौति' का प्रयोग किया गया है।

अगले सन्दर्भ में दिनवाचक नामों की सूचना तथा 'अहर्' की व्याख्या की गई है

मूल—अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश। अहः कस्मात्? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति-वैश्वानरीयायामृचि ॥२०॥

अनुवाद—बाद के बारह नाम 'अहर्' (दिन) के हैं। (दिन को) 'अहर्' क्यों कहते हैं। (लोग) इसमें काम करते है (इसलिए इसको 'अहर्' कहा जाता है)। वैश्वानर की (इस) ऋचा में इसका यह गौण प्रयोग है ॥२०॥

व्याख्या—उपरि संकेतित दिन के बारह नाम निघण्टु के शब्दों में ये हैं—(१) वस्तोः, (२) द्युः, (३) भानुः, (४) वासरम्, (५) स्वसराणि, (६) घ्रसः, (७) धर्मः, (८) घृणः, (९) दिनम्, (१०) दिवा, (११) दिवे-दिवे, (१२) द्यवि-द्यवि इति द्वादशाहर्नामानि ॥

'अहर्' का निर्वचन यास्क ने, जैसा कि मूल के 'उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि' से सिद्ध है, 'आ + √हृ + ० > आहर् > अहर् माना है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यास्क की दृष्टि में मूल (प्रातिपदिक) 'अहर्' शब्द रकारान्त है, जबकि पाणिनि ने इसे नकारान्त (अहन्) माना है और उसके रकारान्त रूपों की सिद्धि 'अहन्' के 'न्' को 'र्' आदेश मानकर की है 'अहन्' अ० ८/२/६८

तथा रोऽसुपि ८/२/६९) आधुनिक विद्वान् 'अहन्' 'अहर्' के रूप में दो प्रकृति मानते हैं।

वैश्यानरीयामुचो०—इसका तात्पर्य है वह ऋचा या मन्त्र जिसका देवता वैश्वानर है।

निम्न पंक्तियों में उक्त ऋचा को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की गई

मूल—

अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमासि ॥

(ऋ० १/६/६)

अहश्च कृष्ण=रात्रिः शुक्लञ्चाहरर्जुनम्। विवर्तेते। रजसी, वेद्याभिः=वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः! वैश्वानरा जायमान इव उद्यन्नादित्यः। सर्वेषां ज्योतिषां राजा अवाहन्नग्निज्योतिषा तमांसि।

अनुवाद—काला अहर् (रात्रि) और श्वेत अहर् (दिन) में दोनों रंगीन हैं और अपने जानने योग्य (क्रियाओं) के साथ आते-जाते रहते हैं। वैश्वानर अग्नि ने उत्पन्न होते ही एक राजा के समान, (अपनी) ज्योति से अन्धकार को नष्ट कर दिया है।

काला 'अहर्' (का अर्थ है) रात्रि (और) शुक्ल 'अहर्' (का अर्थ है दिन (ये दोनों) रंगीन या रञ्जक हैं (तथा अपनी) वेद्य अर्थात् ज्ञातव्य प्रवृत्तियों के साथ (सदैव) आते-जाते रहते हैं। वैश्वानर अग्नि ने उत्पन्न होते ही उदित होते हुये सूर्य के समान जो कि सभी ज्योतियों का राजा है, अन्धकार को नष्ट कर दिया है।

व्याख्या—इस पूरे मन्त्र का देवता वैश्वानर है तथा इसमें 'अहर्' का उल्लेख गौण-रूप में, वैश्वानर के सहायक रूप में हुआ है।

एक सूर्योदय के बाद से दूसरे सूर्योदय के पहले तक का २४ घण्टे का

समय 'अहर्' है। इसके दो भाग हैं—श्वेत और कृष्ण। श्वेत 'अहर्' दिन है और कृष्ण 'अहर्' रात्रि।

मन्त्र में इन दोनों के लिए 'रजसी' का प्रयोग किया गया है। आचार्य दुर्ग ने इसका अर्थ 'रंजक' किया है क्योंकि रात्रि काले रंग से और दिन अपने उजले प्रकाश से विश्व को रंग देते हैं।

अगली पंक्तियों में 'मेघ' के पर्यायवाचियों की संख्या का संकेत और 'मेघ' शब्द की व्याख्या की गई है—

मूल—मेधनामान्युत्तराणि त्रिंशत्। मेघः कस्मात्? मेहतीति सतः। आ उपर, उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। उपरः उपलः मेघो भवति—उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि, उपरता आप इति वा। तेषामेषा भवति ॥२१॥

अनुवाद—बाद के तीस नाम मेघ के हैं। (इसे) मेघ क्यों कहते हैं? (क्योंकि यह जल से) सेचन करता है, इसलिए (यह मेघ कहलाता है)। (इन नामों में) उपर, उपल इन दोनों तक के समस्त नाम पर्वत नामों के साथ सामान्य हैं। उपर, उपल मेघ होते हैं (क्योंकि) इसमें भ्रम (बादल का हलका भाग) आकर ठहरते हैं, अथवा 'जल टिकते हैं, इसलिए। यह (वक्ष्यमाण) ऋचा उनकी (उपर) होती है ॥२१॥

व्याख्या—उपरि संकेतित तीस नाम 'निघण्टु' के ही शब्दों में ये हैं—

(१) अद्रिः, (२) ग्रावा, (३) गोत्रः, (४) वल, (५) अश्नः, (६) पुरुभोजाः, (७) वलिशानः, (८) अश्मा, (९) पर्वतः, (१०) गिरिः, (११) वज्रः, (१२) चरुः, (१३) वराहः, (१४) शम्बरः, (१५) रौहिणम्, (१६) रैवतः, (१७) फलिगः, (१८) उपरः, (१९) उपलः, (२०) चमसः, (२१) अहिः, (२२) अभ्रम, (२३) बलाहकः, (२४) मेघः, (२५) दृतिः, (२६) ओदनः, (२७) वृषन्धिः, (२८) वृत्रः, (२९) असुरः, (३०) कोश इति त्रिंशन्मेघनामानि।

'मेघ' का निर्वचन √मिह् (वर्षणे) से किया गया है, क्योंकि वह बरसता है इसलिए 'मेघ' है—मेहतीतिमेघः—√मिह् + घञ्।

आ······पर्वतनामभिः—का तात्पर्य यह है कि उपर और उपल इन दोनों नामों तक के १९ नाम मेघ और पर्वत दोनों के वाचक हैं अर्थात् इनका अर्थ मेघ और बादल दोनों हैं। शेष ११ नाम केवल मेघ के हैं।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब केवल 'उपल तक' कह देने से भी उपर्युक्त १९ का ही बोध होता है तब, उसे पूर्ववर्ती 'उपर' का भी उल्लेख करने का क्या तात्पर्य है? इसका उत्तर यह है कि ये दोनों शब्द एक ही शब्द के दो रूप हैं। 'रलयोरभेदः' के नियम से 'उपर' शब्द ही 'उपल' के रूप में भी प्रयुक्त होने लगा था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यास्क ने इनमें से केवल प्रथम (उपर) का निर्वचन किया है और उपल को उसी का स्वतः विकसित रूप मान लिया है।

उपर, उपल का शाब्दिक निर्वचन करते हुए वे कहते हैं कि, क्योंकि इनमें हलके बादल (अभ्र) अथवा स्वयं जल आकर उपरत होते हैं, टिकते हैं, इसलिए वे उपर, उपल कहलाते हैं—'उप + √रम् + ० > उपर > उपल ॥११॥

नीचे उपरि-संकेतित ऋचा देकर उसकी व्याख्या की जा रही है—

मूल—

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥
(ऋ० १०/२७/२३)

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्–माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनाम, प्रतमो भवति। विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः—पर्जन्यो, वायुरादित्यः शीतोष्णवर्षैः ओषधीः पाचयन्ति। अनूपाः-अनुवपन्ति लोकान्स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव, अनूप्यते उदकेन, अपिवाऽन्वापियिति स्याद। यथा प्रागिति। तस्यानूपः इति स्यात यथा प्राचीनमिति। द्वा बृबूकं वहतः पुरीषं। वाय्वादित्यौ उदकम्। बृबूकमित्युदकनामब्रतीतेः वा शब्द-कर्मणः भ्रंशतेर्वा। पुरीषं पृणातेः, पूरयतेर्वा ॥२॥

अनुवाद—देवताओं के घर (वे) प्रथम रहे। इनमें से 'उपर' (नामक बादल या जल) 'कृन्तत्र' (नामक स्थान) से ऊपर की ओर उठे। अनुग्रह करने वाले तीन (तत्व) पृथिवी को तपाते हैं (और) दो (तत्व) प्रसन्न करने वाले या भरने वाले जल का वहन करते हैं।

देवताओं के निर्माण में मध्यम स्थानीय देवगण प्रमुख थे। 'प्रथम' यह मुख्य का पर्याय है (और इसका मूलरूप) 'प्रथम' होता है। 'कृतन्त्र' (का अर्थ है) अन्तरिक्ष (का वह स्थान जहाँ) मेघों का विकर्तन होता है। मेघों के विकर्त्तन से जल उत्पन्न होता है। तीन अनुग्रह करने वाले पृथिवी को तपाते हैं अर्थात् पर्जन्य, वायु और आदित्य—ये तीनों—शीत, उष्णता और वर्षा से (पृथिवी पर उत्पन्न होने वाली) ओषधियों को पकाते हैं। (उक्त तीनों) 'अनूप' (इसलिए हैं, क्योंकि वे) अपने अपने कर्मों के द्वारा लोगों पर अनुग्रह करते हैं। यह दूसरा (लौकिक) अनूप (जलसम्पन्न प्रदेश) भी इसी कारण (अनूप कहलाता है, क्योंकि वह) जल के द्वारा अनुगृहीत किया जाता है अथवा 'प्राक्' के समान 'अन्वाप' रहा होगा (और उससे) अनूप (उसी प्रकार) हो गया, जैसे ('प्राक्' से) प्राचीन। (दो तत्व) अर्थात् वायु और आदित्य पालन करने वाले या भरने वाले बृबूक अर्थात जल का वहन करते हैं। 'बृबूक' यह जल का प्रर्यायवाची है (तथा) शब्द करना अर्थ वाली √ब्रू धातु से (निष्पन्न) है। 'पुरीष' शब्द √प्री (प्रसन्न करना) अथवा √पूरि (पूर्ण करना) से (निष्पन्न) है।

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। इसमें 'उपर' नामक मेघों के ऊपर उठने का उल्लेख किया गया है, इसीलिए यास्क ने इसको उनकी ऋचा कहा है।

आचार्य दुर्ग ने 'ऊपर' का अर्थ जल किया है, किन्तु ऐसा करना यास्क के अभिमत के विरुद्ध है, क्योंकि यास्क ने 'उपर' नामक मेघों के उल्लेख के लिए ही प्रस्तुत ऋचा को उद्धृत किया है।

यास्क द्वारा संकेतित कुछ निर्वचनीय शब्द हैं—

माने—यास्क इसका अर्थ 'निर्माणे' करते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे इसे √मा (निर्माण करना, मापना)+युु=अन से निष्पन्न मानते हैं।

प्रथम—यास्क ने इसका अर्थ 'मुख्य' और मूल रूप 'प्रतम' माना है। 'प्रतम' का 'तम' अंश 'तमप्' प्रत्यय है, जो अतिशय अर्थ में होता है—'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा०)। इसका विकास सम्भवतः इस प्रकार हुआ होगा—'प्रकृष्टत्तम >प्रतम >प्रथम। विद्वानों ने यास्क के इस निर्वचन को बहुत सुन्दर माना है।

कृन्तत्र—यास्कीय व्याख्या से विदित होता है कि यह अन्तरिक्ष का वह स्थल है, जहाँ बादलों का 'विकर्तन' होता है, क्योंकि इसी विकर्तन (काट-छांट) के कारण ही बादलों से जल बरसता है। 'विकर्तन' शब्द यह सूचित करता है कि यास्क 'कृन्तत्र' को √कृती (काटना) से निष्पन्न मानते हैं। इसका निर्वचन संभवतः इस प्रकार होगा—√कृत् (कृती) + त्र >कृतत्र >कृन्तत्र ('नुम्' का आगम)।

अनूप—इसका अर्थ 'अनुग्रहकर्त्ता' किया गया है और 'अनुवपन्ति' से संकेत मिलता है कि इसका मूल अनु + √वप् (बोना) में है। यहाँ √वप् के 'व्' को 'सम्प्रसारण' से 'उ' हो गया है। निर्वचन इस प्रकार है—'अनु + √वप् + अ (क) >अनु + उप >अनूप। 'जलप्राय देश' के अर्थ में आने वाले 'अनूप' शब्द का निर्वचन दो प्रकार से किया गया है—(i) वह जल के द्वारा अनुगृहीत होता है, इसलिए 'अनूप' है—'अनूप्यत उदकेनेत्यनूपः।' स्पष्ट है, इसमें उपर्युक्त निर्वचन है। (ii) दूसरे निर्वचन में वे बताते हैं कि पहले 'अन्वाप्' रहा होगा (जिसका आशय है 'अनुकूल आप् (जल) वाला स्थान—अनुगता आपो यत्र तत्) और बाद में यही शब्द विकसित होकर 'अनूप्' बन गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे 'प्राक्' शब्द से प्राचीन' शब्द बन जाता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि अन्वाप् >अनूप (व् > उ) बनना बहुत स्वाभाविक और तर्कसंगत है किन्तु इसके लिए यास्क ने जो उदाहरण दिया है, उसे ठीक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वहाँ 'भव' अर्थ में, 'प्राच्' शब्द से ईन (ख) प्रत्यय करने पर 'प्राचीन' शब्द बनता है, जबकि यहाँ यह मूल शब्द स्वार्थ में ही स्वतः ही विकसित हुआ है। इसके अतिरिक्त दोनों में कोई तुक का भी सादृश्य नहीं है—एक के अन्त में 'अप' है और दूसरे के अन्त में 'ईन'।

बृबूक—इसका प्रकृत में अर्थ जल है। इसके दो निर्वचनों की ओर संकेत है—(i) जल क्योंकि बहते समय कल-कल शब्द करता हुआ बहता है, इस

लिए वह 'बृबूक' है--'ब्रवीतीति बृबूकम्। इस अर्थ के अनुसार निर्वचन होगा—√ब्रू (शब्द करना) + क > बृ + ब्रू + क > बृबूक (ii) जल, क्योंकि बूंदों के रूप में बिखर जाता है, इसलिए बृबूक है। इस अर्थ के अनुसार उसका निर्वचन √भ्रंश धातु से किया गया है--√भ्रंश् + अक > भ्र + भ्र + अक + बृ + वृ + अक > व् + व् + अक > बृबूक।

पुरीष—यह 'बृबूकम्' का विशेषण है। जल प्रसन्न करने वाला और तालाब आदि को पूर्ण करने वाला होता है, इसलिए यास्क ने इसका निर्वचन √प्री (प्रसादन) और √पूरि (पूर्ण करना) से माना—(i) √प्री + स > पु + री + स > पुरीष। (ii) √पुरि + स > पुरी + स > पुरीष ॥२॥

॥ षष्ठ पाद समाप्त ॥

अथ सप्तमः पादः

अगले सन्दर्भ में 'वाक्' के नामों की संख्या की सूचना के साथ 'वाक्' की व्याख्या की गई है

मूल—वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक् कस्मात्? वचेः। तत्र 'सरस्वती' इत्येतस्य नदीवद्, देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद् यद्देवतावद् उपरिष्टात तद् व्याख्यास्यामः। अथेतन्नदीवत्—॥२२॥

अनुवाद—बाद के सत्तावन नाम 'वाक्' के पर्याय हैं। (वह) 'वाक्' शब्द किस (धातु) से (व्युत्पन्न) है! √वच् से। उनमें (वाणी के ५७ नामों में) 'सरस्वती' इस शब्द के देवता के समान और नदी के समान (दोनों ही प्रकार के वैदिक उदाहरण मिलते हैं। तो जो (इसका वैदिक उदाहरण) देवता के समान है, उसकी व्याख्या हम बाद (११/२६, २७) में करेंगे। अब यह नदी के समान (वैदिक मन्त्र) है —॥३३॥

व्याख्या—यास्क के द्वारा संकेतित ५७ नाम 'निघण्टु' के शब्दों में इस प्रकार हैं—

(१) श्लोकः, (२) धारा, (३) इला, (४) गौः, (५) गौरी, (६) गान्धर्वी, (७) गभीरा, (८) गम्भीरा, (९) मन्द्रा, (१०) मन्द्राजनी, (११) वाशी, (१२) वाणी, (१३) वाणीची, (१४) वाणः, (१५) पविः, (१६) भारती, (१७) धमनिः (१८) नाळीः, (१९) मेना, (२०) मेळिः, (२१ सूर्या, (२२) सरस्वती, (२३)

निवित्. (२४) स्वाहा, (२५) वग्नुः, (२६) उपब्दिः, (२७) मायुः, (२८) काकुत, (२९) जिह्वा, (३०) घोषः, (३१) स्वरः, (३२) शब्दः, (३३) स्वनः, (३४) ऋक्, (३५) होत्रा, (३६) गीः, (३७) गाथा, (३८) गणः, (३९) धेना, (४०) ग्नाः, (४१) विपा, (४२) नना, (४३) कशा, (४४) धिषणा, (४५) नौः, (४६) अक्षरम्, (४७) मही, (४८) अदितिः, (४९) शची, (५०) वाक् (५१) अनुष्टुप् (५२) धेनुः, (५३) वेल्गुः, (५४) गल्दा, (५५) सरः, (५६) सुपर्णी, (५७) बेकुरेति सप्त-पंचाशद् वाङ्नामानि ।

'वाक्' शब्द की निष्पत्ति √वच् से है। वक्तीतिवाक्:—√वच्+क्विप् >वाक्)।

'तत्र······भवन्ति' इस वाक्य का तात्पर्य यह वाणी के नामों जो बाईसवाँ नाम 'सरस्वती' है, उसका वैदिकवाङ्मय में देवता और नदी इन दोनों ही अर्थों में प्रयोग हुआ है।

निम्न पंक्तियों में नदी वाचक 'सरस्वती' से सम्बद्ध मन्त्र को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की गई है—

सूल—इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभि॥
(६/६/१,२)

इयं शुष्मैः शोषणैः। शुष्ममितिबलनाम्। शोषयतीति सतः। बिसं विस्यतेर्भेदनकर्मणः वृद्धिकर्मणः वा। सानु समुच्छितं भवति। समुन्नुन्नमिति वा। महद्भिरूर्मिभिः पारावतघ्नीं=पारावारघातिनीम्। परं परं भवति, अवारमवरम्। अवनाय सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं नदीं कर्मभिः परिचरेम।

अनुवाद—यह (सरस्वती नदी) ने कमल नाल को खोदने वाली के समान, (अपनी) बलवती और सुदृढ़ लहरों से पर्वतों की चोटियों को तोड़ डालती है। (हम अपनी) रक्षा के लिए, अच्छी प्रकार से रची गई स्तुतियों के द्वारा (अपने) दोनों तटों को तोड़ डालने वाली सरस्वती (नदी) की उपासना करें।

यह 'शुष्म' अर्थात् सुखा देने वालों के द्वारा। शुष्म यह बल का नाम है, (क्योंकि वह) सुखा देता है, इसलिए। 'बिस्' शब्द भेदन अर्थ वाली या वृद्धि-अर्थ वाली √ विस् धातु से (निष्पन्न) है। (चोटी) 'सानु' (इसलिए कहलाती है, क्योंकि वह) अच्छी प्रकार उठी होती है या अच्छी तरह ऊपर की ओर उठा हुआ होता है, कारण। बड़ी-बड़ी लहरों से पारावतघ्नी अर्थात् इधर और उधर के दोनों को तोड़ डालने वाली। 'पार' (का अर्थ है) परला (किनारा और) 'अ .रा' (का अर्थ है) इधर (का किनारा) रक्षा के लिए, अच्छी प्रकार से रचित सुन्दर स्तुतियों और कर्मों से (हम) सरस्वती (नदी) की उपासना करें।

व्याख्या---प्रस्तुत मन्त्र में, 'सरस्वती' का जो चित्र खींचा गया है, वह उसे ए यङ्कर उपमान वाली तथा अपने किनारों को अपनी प्रबल धाराओं से ढा दन वाला नदी के रूप में प्रस्तुत करता है। अतः इस मन्त्र का देवत सरस्वती' नदी है, न कि सरस्वती देवता, यही यास्क का आशय है।

निर्वचन और कतिपय शब्दों की व्याख्याएँ इस प्रकार हैं:---

शुष्मै---यह 'उर्मिभि' का विशेषण है। यास्क इसका पर्याय 'शोषणैः' देते हैं और फिर कहते हैं कि 'शुष्म' का अर्थ है 'बल' क्योंकि (शत्रुओं की शक्ति को) सुखा देता है। इस प्रकार इस शब्द का वास्तविक अर्थ हुआ---शक्तिशाली और निष्पत्ति होगी √ शुष्। म (मक्) से।

विस---यह मृणालदण्ड या कमलनाल् का पर्याय है। हिन्दी में इसे 'भिस' कहते हैं। विस, क्योंकि सरलता से टूट जाता है, तथा बहुत तेजी से बढ़ता है, इसलिए इसकी निष्पत्ति भेदन (टूटना) अर्थ वाली या वृद्धि-अर्थ वाली √ विस् धातु और 'अ' (क) प्रत्यय के योग से होगी (√ विस् + अ (क) > विस)।

सानु---पर्वतों की चोटी को कहते हैं। इसके निर्वचन का संकेत यास्क ने निम्न दो शब्दों के माध्यम से दिया है---(i) 'समुच्छ्रितम्' इसके---√ सम् + उत्' का विकास ही 'साम् + उत् > सान् + उत् > सानु के रूप में है। (ii) 'समुन्नुन्नम्' स्पष्ट है, इसके 'सम् + उत् नुन्न। ये तीनों शब्द ही स + उ + नु > स + नु > सानु ! के रूप में विकसित हुए हैं।

पारावतघ्नीम्—यह 'सरस्वती' का विशेषण है। इसका पर्याय 'पारावार घातिनीम्' किया गया है। विग्रह होगा—पारश्चावतश्चपारावती तौ हन्तीति पारावतघ्वनी ताम्। इसमें 'पार' शब्द का अर्थ परला किनारा और उसकी निष्पत्ति होगी 'पर+अण्' से। 'अवत' का अर्थ है—'अवार' अर्थात् इधर का किनारा और उसका निर्वचन होगा—अव + √गम् + क्त > अवगत। यास्क ने 'अवार' का ही निर्वचन किया है, वह भी 'अवर' से इसका निर्वचन यों द्रष्टव्य है—अपर > अवर > अवार।

सुवृक्ति—शब्द √सु + √वृज् (वर्जन) + क्तिन्' से निष्पन्न है। इसका तात्पर्य है, ऐसी स्तुति जो सभी प्रकार के दोषों से रहित अतएव अच्छी रची हुई है।

धीति—यह √ध्यै + क्तिन् से निष्पन्न है और इसका अर्थ 'स्तुति' और 'कर्म' दोनों हैं।

१२९१

नीचे की पंक्ति में 'उदक' के नामों की संख्या की सूचना और उसकी व्याख्या है—

मूल—उदकनामान्युत्तराण्येकशतम्। उदकं कस्मात्? उनतीति सतः।

अनुवाद—बाद के एक सौ एक नाम उदक (जल) के हैं। (इसे) जल 'उदज' क्यों कहते हैं? (क्योंकि यह) भिगो देता है, इसलिए।

व्याख्या—यास्क के द्वारा संकेतित जल के १०१ नाम निघण्टु के शब्दों में इस प्रकार हैं—

१. अर्णः, २. क्षोदः, ३. क्षद्म, ४. नभः, ५. अम्भः, ६. कबन्धम, ७. सलिलम्, ८. वाः, ९. वनम्, १०. वृतम्, ११, मधु, १२. पुरीषम्, १३. पिप्पलम्, १४. क्षीरम्, १५. विषम्, १६. रेतः, १७. कशः १८. जन्म, १९. बृबूकम्, २०. बुसम्, २१. तुग्रया, २२. वुर्बुरम्, २३. सुक्षेम, २४. धरुणम्, २५. सुरा, २६. अररिन्दानि, २७. ध्वस्यन्वत्, २८. आमि, २९. आयुधानि, ३०. क्षपः, ३१. अहिः, ३२. अक्षरम्, ३३. श्रोतः, ३४. तृप्ति,: ३५. रसः, ३६. उदकम्, ३७. पयः, ३८. सरः, ३९. भेषजम्, ४०. सहः, ४१. शवः, ४२. यह, ४३, ओजः, ४४. सुखम्, ४५. क्षत्रम्, ४६. आवयाः, ४७. शुभम्, ४८. यादुः, ४९. भूतम्,

५०. भुवनम्, ५१. भविष्यत्, ५२. आप:, ५३. महत्, ५४. व्योम, ५५. यश:, ५६. महः, ५७. सर्णीकम्, ५८. स्वृतीकम्, ५९. सतीनम्, ६०. गहनम्, ६१. गभीरम्, ६२. गम्भरम्, ६३. ईम्, ६४. अन्नम्, ६५. हवि:, ६६. सद्म, ६७. सदनम्, ६८. ऋतम्, ६९. योनि:, ७०. ऋतस्य योनि:, ७१. सत्यम्, ७२. नीरम् ७३. रयि:, ७४. सत्, ७५. पूर्णम्, ७६. सवम्, ७७. अक्षितम्, ७८. बर्हि:, ७९. नाम्, ८०, सर्पि:, ८१. अप:, ८२. पवित्रम्, ८३. अमृतम्, ८४. इन्दु:, ८५. हेम, ८६. स्व:, ८७. सर्गा:, ८८. शम्बरम्, ८९. अम्बम्, ९०. वपु:, ९१. अम्बु, ९२. तोयम्, ९३. तूयम्, ९४. कृपीटम्, ९५. शुक्रम्, ९६. तेज:, ९७. स्वधा, ९८. वारि, ९९. जलम्, १००. जलाषम्, १०१. इदम्—इत्येक शतमुदकनामानि।

'उदक' का निर्वचन क्लेदन (भिगोना) अर्थ वाली √उन्द् (उन्दी) धातु से माना गया है। क्योंकि वह भिगो को देता है, इसलिए 'उदक' कहलाता है—'उनत्तीत्युदकम्—√उन्द + अक > उद् + अक > उदक।

अगले सन्दर्भ में नदी पर्यायों की संख्या का संकेत, 'नदी' शब्द की व्याख्या तथा तत्सम्बद्ध इतिहास दिया गया है—

मूल—नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत्। नद्यः कस्मात्? नदना: भवन्ति शब्दवत्यः। बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम्। आश्चर्यमिव प्राधान्येन। तत्रेतिहासमाचक्षते--विश्वामित्रः ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव। विश्वामित्रः—सर्वमित्रः। सर्वं ससृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा, अभिश्रीभावगतिर्वा। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ। अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव 'गाधा भवते'ति। अपि द्विवद्, अपि बहुवत्। तद यद् द्विवद्. उपरिष्टात् (९/३९) तद्व्याख्यास्यामः। अथैतद् बहुवत्—॥२४॥

अनुवाद—बाद के सैंतीस नाम 'नदी' के पर्याय हैं। (इन्हें) 'नदी' क्यों कहते हैं? (ये) नदन अर्थात् शब्द करने वाली होती हैं, इसलिए इन (नदियों)

का बहुत सा चरित्र गौण है (और वह) मुख्य रूप से आश्चर्यजनक सा है। इस सम्बन्ध में (विद्वान् लोग एक) इतिहास बतलाते हैं—ऋषि विश्वामित्र पैजवन सुदास् के पुरोहित थे। विश्वामित्र (का अर्थ है) सब का मित्र। 'सर्व' (का अर्थ है) अच्छी प्रकार व्याप्त। सुदास् (का अर्थ है) अच्छा दान देने वाला। 'पैजवन' (का अर्थ) पिजवन का पुत्र। और 'पिजवन' (का अर्थ है) स्पर्द्धनीय वेग वाला या न मिलने वाली गति वाला। स धन लेकर व्यास और सतलज के संगम पर आ गया। दूसरों ने (उसका) अनुसरण किया। उस विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की 'उथली हो जाओ' इस प्रकार की। (वह स्तुति) दो (नदियों की स्तुती) के समान भी थी और बहुत (नदियों की स्तुति) के समान भी। तो, जो दो की तरह हैं, उसकी व्याख्या (हम) बाद में (९/३९) करेंगे। इस समय यह (स्तुति) बहुत की तरह की है—॥२४॥

व्याख्या—नदी के उपरिसंकेतित ३० नाम निघण्टु के शब्दों में यों हैं—

अवनयः। यव्याः। खाः। सीराः। स्रोत्याः। एन्वः धुनयः। रुजानाः। वक्षणाः। खादो अर्णा। रोधचक्राः। हरितः। सरितः। अग्रुवः। नभन्वः। वध्वः। हिरण्यवर्णाः। रोहितः। सस्रुतः। अर्णाः। सिन्धवः। कुल्याः वर्यः। उर्व्यः। इरावत्यः। पार्वत्यः। स्रवन्त्यः। ऊर्जस्वत्यः। पयस्वत्यः। तरस्वत्यः। सरस्वत्यः। हरस्वत्यः। रोधस्वत्यः। भास्वत्यः। अजिराः। मातरः। नद्य इति सप्तत्रिंशन्नदी नामानि।

निर्वचन तथा शब्द व्याख्या—

नदी—'नदी' क्योंकि बहते समय शब्द करती हैं, नाद करती हैं, इसलिए वह 'नदी' है। फलतः √नद्+अ (घञ्+ई—ङीप्)।

विश्वामित्रः—'विश्वानि' मित्राणि यस्य सः के अनुसार इस शब्द में बहुव्रीहि समास है। इसमें 'विश्वा' शब्द जो वैदिक बहुवचन में है, 'सर्व' के अर्थ में आया हुआ है। यास्क का 'सर्वमित्रः' शब्द से यही ध्वनित होता है। 'पाणिनि' ने 'मित्रे चर्षौ' से 'विश्व' के अ के दीर्घत्व का विधान किया है। जिससे यह सूचित होता है कि उन्होंने भी यहाँ दूसरे शब्द को 'अमित्र' न मानकर 'मित्र' ही माना है।

सर्व—इसका अर्थ यास्क ने 'संस्कृत' किया है। इसका तात्पर्य यह है कि

जो अच्छी तरह (सम्) फैला हुआ हो, गया हुआ हो, सर्व या संसृत है। फलतः इसका निर्वचन होगा—√सृ + व (वन्) > सर्व।

सुदास्—इसका पर्याय यास्क ने 'कल्याणदानः' अर्थात् अच्छा दान देने वाला किया है। ऐसी स्थिति में इसका शब्द निर्वचन 'सु + √दा + अस् (असन्) > सुदास्' होना चाहिए। वैसे, कतिपय विद्वान् सु + √दास् (दासृ दाने) + ० = सुदास् के रूप में भी किया है। राजवाड़े ने इसे सु + दस् से निष्पन्न बताया है।

पिजवनः—इसका निर्वचन स्पष्ट नहीं है। इसका दूसरा घटक 'जवन' वेगार्थक √जव से बना होने के कारण वेग का भी वाचक हो सकता है और मिश्रणामिश्रणार्थ √यु धातु से, ध्वनि-परिवर्तन (य् > ज्) के द्वारा बना होने के कारण मिश्रित या न मिश्रित होने वाले अर्थ को भी व्यक्त कर सकता है। यास्क ने दोनों सम्भावनाएँ व्यक्त की हैं। किन्तु पूर्वघटक 'पि' के सम्बन्ध में स्थिति और अस्पष्ट है। वह 'स्पर्द्धनीय' के 'प' का विकसित रूप हो सकता है, 'अपि' का संक्षिप्त रूप भी हो सकता है और गत्यर्थक √पि धातु का मूल रूप भी हो सकता है, जैसा कि राजवाड़े ने माना है। इस प्रकार—

(१) स्पर्द्धनीयजवनः > पजवनः > पिजवनः।

(२) अपि + जवनः > पिजवनः।

(३) √पि + जवनः > पिजवनः।

कई निर्वचन हो सकते हैं।

'बाहुल······प्राधान्येन'—इस पंक्ति का आशय यह है—

नदियों की स्तुति प्रायः अन्य देवताओं वाले सूक्तों में अधिकतर हुई है, ऐसे सूक्तों की संख्या बहुत कम है, जिसमें नदियों की स्तुति प्रधान रूप में हुई हो। जैसे—आश्चर्य कभी-कभी ही होता है, सदा नहीं, उसी प्रकार नदियों की प्रधान रूप में स्तुति कभी-कभी हुई है, अर्थात् अत्यल्प। यही 'आश्चर्यमिव' का तात्पर्य है।

'अपि······बहुवत्'—इस पंक्ति का आशय यह है कि—

कुछ सूक्तों और मन्त्रों में दो नदियों को सम्बोधित किया है; इसलिए उनमें

द्विवचन का प्रयोग किया गया है। ऐसे सूक्तों या मन्त्रों में अनेक नदियों की स्तुति होने के कारण बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वे 'बहुवद्' हैं ॥२४॥

अब 'बहुवद्' वाले मन्त्र को उदधृत कर उसकी व्याख्या की जा रही है।

मूल—रमध्वं मे वचसे सोम्याय, ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः ।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषाऽवस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥
(ऋ० ३/३३/५)

उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय—सोमसम्पादिने ऋतावरीऋतवत्यः। ऋतमित्युदकनाम—प्रत्यृतं भवति । मुहूर्तमेवैर्यनैर्वनैर्वा । मुहूर्तो मुहुऋतुः । ऋतुरर्तेर्गतिकमणः । मुहुमूढ इव कालो, यावदभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति । क्षणः क्षणोतेः, प्रक्ष्णुतः कालः । कालः कालयतेर्गतिकर्मणः । प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या = महत्या मनीषया-मनसः ईषयास्तुत्या प्रज्ञया वाऽवनाय । कुशिकस्य सूनुः कुशिको राजा बभूव—क्रोशते शब्दकर्मणः, क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः, साधु विक्रोशयिताऽर्थानामिति वा । नद्यः प्रत्यूचुः ॥२५॥

अनुवाद—हे जलवाली नदियों! मेरे शान्तियुक्त वचन (को सुनने) के लिए (तुम लोग) थोड़ी देर को, अपने गमनों से रुक जाओ। कुशिक का बेटा मैं (विश्वामित्र) कल्याण की कामना से, नदी को, बड़ी इच्छा से, खूब अच्छी तरह बुला रहा हूँ।

सोम का सम्पादन करने वाले मेरे वचन (को सुनने) के लिए रुक जाओ। 'ऋतावरी' (का अर्थ है) अरी! जलवालियो! 'ऋत' यह उदक का नाम है। (क्योंकि यह) सब में गया हुआ (व्याप्त) है। थोड़ी देर। 'एवैः' (का अर्थ है) गमन या रक्षा के द्वारा। 'मुहूर्त' शब्द का निर्वचन 'मुहुर् + ऋतु'। 'ऋतु' शब्द गत्यर्थक √ऋ धातु से निष्पन्न होता है। 'मुहुर्' (का अर्थ है) मूढ समय (अर्थात् इतना थोड़ा समय जिसके जाने का पता भी न चल सके), जितना

कि 'अभीक्षण' होता है। (अर्थात् 'मुहुर्' उतने अत्यल्प समय को कहते हैं जितने को 'अभीक्षण' शब्द व्यक्त करता है)। 'अभीक्षण' क्षण की ओर गया होता है। 'क्षण' शब्द हिंसार्थक √क्षणु धातु से निष्पन्न होता है (और उसका अर्थ है) हिंसित काल (अर्थात् अत्यन्त थोड़ा समय)। 'काल शब्द गत्यर्थक √कल धातु से निष्पन्न है। कुशिक का पुत्र (मैं विश्वामित्र अपनी) रक्षा के लिए मनीषा अर्थात् मन की इच्छा अर्थात् स्तुति या प्रज्ञा के द्वारा स्यन्दनशीला (नदी) को अत्यन्त तीव्रता के साथ बुला रहा हूँ। कुशिक (एक) राजा था। (कुशिक शब्द) शब्द करना अर्थ वाली √क्रुश धातु से प्रकाशित करना अर्थ वाली √क्रंश् धातु से (निष्पन्न होता है) या (वह) धन का अच्छा दान देने वाला है इसलिए (कुशिक कहलाता है)। नदियों ने उत्तर दिया ॥२॥

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र में 'रमध्वम्' और 'ऋतावरी' ये दो शब्द ऐसे हैं, जो यह सूचित करते हैं कि सम्बोध्य (नदियाँ) बहुत हैं। इसीलिए यह 'बहुवत्' का उदाहरण है। यद्यपि उत्तरार्द्ध के 'सिन्धुम्' से नदी के एक होने की भी सूचना मिलती है, किन्तु जातिवाचक होने के कारण उसके एकवचनत्व का कथंचित् समाधान किया जा सकता है।

यास्क के द्वारा संकेतित निर्वचन ये हैं—

ऋतावरी:—इसका अर्थ 'ऋतवत्य:' अर्थात् 'जलवाली' किया गया है। इसके प्रथम घटक 'ऋत' शब्द का अर्थ जल है और मत्यर्थक √ऋ + क्त से बनता है। 'ऋतावरी:' ऋत + वनिप् + ई, से बना तथा प्रस्तुत में स्त्रीलिङ्ग प्रथम बहुवचन का वैदिक रूप है।

एव—इसका अर्थ यास्क ने 'अयन' (गमन्) और 'अवन' (रक्षण) किया है। इससे इसके दो निर्वचनों का संकेत मिलता है—(i) √इ (इण्) + व > एव (ii) √अव् + अ > अव > एव।

मुहूर्त—इसका अर्थ किया गया है—'अत्यल्प समय' और निष्पत्ति मानी है—'मुहुर् + ऋतु' से। इसमें—'मुहुर्' का अर्थ किया गया है—'मूढ-सा' अर्थात् ऐसा समय जिसके बीत जाने का पता न चले। थोड़ा समय कब जाता है, इसका पता नहीं चलता। इसके निर्वचन का—√मुह् + उस् होने

का संकेत है। 'ऋतु' शब्द गत्यर्थक √ऋ + तु से सिद्ध होता है, इस प्रकार उसका अर्थ होता है--गतिशील' अर्थात् जो सतत चलता रहे, कभी रुके नहीं।

अभीक्षण--इसे 'मुहुर्' का पर्याय कहा गया है, और इसका निर्वचन किया गया है 'अभि + क्षणम्' से (अभि + क्षणम् > अभि = क्षणम् > अभीक्षणम्), अर्थात् ऐसा समय जो क्षण-क्षण की ओर गया हुआ है अर्थात् अत्यल्प। स्वयं 'क्षण' शब्द भी हिंसार्थक √क्षणु + अ से निष्पन्न है, और उसका अर्थ हिंसित या प्रक्षणुत काल--अत्यन्त सीमित समय। 'प्रक्षणुतः' से सूचित होता है कि 'क्षण' का 'अ' प्रत्यय 'क्त' के अर्थ में हुआ है। इसी प्रसंग में यास्क ने 'काल' का निर्वचन करते हुए उसे गत्यर्थक √कालि + अ (घञ्) से निष्पन्न बताया है।

मनीषा--इसकी व्युत्पत्ति की गई है--'मनस ईषा'। स्पष्ट है, यह शब्द मनस् ईषा शब्दों के, पररूप सन्धिजन्य योग से निष्पन्न है। प्रस्तुत में इसका अर्थ स्तुति या प्रज्ञा है।

कुशिक--यास्क ने इसके तीन निर्वचन किए हैं--

(१) वह शब्द करता है, इसलिए 'कुशिक' कहलाता है--इस अर्थ के अनुसार 'शब्द करना' अर्थ वाली √क्रुश् + इक (ठ) से (क्रुश् + इक > कुशिक)। (२) वह विद्या या तेज से सबको प्रकाशित करता है, इसलिए 'कुशिक' है--इस अर्थ के अनुसार--'प्रकाश करना' अर्थ वाली √क्रंश् + इक (ठ) से (क्रंश् + इक > कंशिक > कुंशिक > कुशिक)। (३) वह धन का अच्छा दाता है, इसलिए 'कुशिक' है--इस अर्थ के अनुसार दानार्थक णिजन्त √क्रोशि + क से (क्रोशिक > कोशिक > कुशिक)।

निम्न पंक्तियों में नदियों द्वारा उत्तर में कहे गए मन्त्र को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की गई है—

मूल—इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुर् अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः॥
(ऋ० ३/३३/६)

इन्द्रोऽस्मानरदद् वज्रबाहुर्—रदतिः खनतिकर्मा। 'अपाहन्' ... परिधिं नदीनाम इति व्याख्यातम्। देवोऽनयत् सविता, सुपाणिः। पा...

पाणि: पणायते: पूजाकर्मण:–प्रगृह्य पाणी देवान पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वी–उर्व्य:–ऊर्णोते: । वृणोतेरित्यौर्णवाभ: । प्रत्याख्यायान्तत: आशुश्रुवु: ॥२६॥

अनुवाद—हाथ में वज्रधारण करने वाले इन्द्र ने हमें खोदा (तथा) नदियों के अवरोधक वृत्र को मार डाला । प्रेरणा प्रदान करने वाले (तथा) सुन्दर हाथों वाले देव (इन्द्र ने हमारा) नेतृत्व किया (और) हम विशाल (नदियाँ) उसके आदेश पर बह रही हैं ।

हाथ में वज्र धारण करने वाले इन्द्र ने हमें खोदा । √रद् धातु 'खोदना' अर्थ वाली है । नदियों के अवरोधक वृत्र को मार डाला', (यह अंश-अंश अत्यन्त सरल होने के कारण स्वत:) व्याख्यात है प्रेरणा प्रदान करने वाले (और) सुन्दर हाथों वाले देव (इन्द्र ने हमारा) नेतृत्व किया । 'पाणि' शब्द पूजार्थक √पण् से निष्पन्न होता है । (क्योंकि लोग) दोनों हाथों को जोड़कर पूजा करते हैं । हम विशाल (नदियाँ) उसके आदेश पर बह रही हैं, जा रही हैं। 'उर्वी' शब्द √उर्णुञ् धातु से निष्पन्न होता है । आचार्य और्णवाभ के मत में वह √वृ धातु से निष्पन्न है । (पहले) प्रत्याख्यान करने के पश्चात् अन्ततोगत्वा (विश्वामित्र के प्रस्ताव को उन्होंने) स्वीकार कर लिया ॥२५॥

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र में नदियों ने जो कुछ कहा है, उसका आशय यह है कि महान् देव इन्द्र ने, जलों का अवरोध करने वाले वृत्र का विनाश करके हम नदियों को प्रवाहित किया है । वह आज भी हमारा नेतृत्व कर रहा है तथा हम उसके ही आदेश को मानकर बह रही हैं । इसलिए जब तक हमसे रुकने के लिए स्वयं इन्द्र नहीं कहता, तब तक हम बहती रहेंगी और आपकी इस प्रार्थना का हमारे इस निश्चय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा—अर्थात् हमें आप का प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं है ।

संकेतित निर्वचन व्याख्येय अंश इस प्रकार हैं—

अरक्षत्—यह 'खोदना' अर्थ वाली √रद् धातु के लङ्लकार का रूप है ।

व्याख्यातम्—इसके दो तात्पर्य हो सकते हैं—

(i) 'अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्' यह अंश इतना स्पष्ट है कि उसकी व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है, वह स्वत: व्याख्यात सा है ।

(ii) उक्त 'अंश २/१७ में उद्धृत मन्त्र के वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार' इस अंश के आशय को ही व्यक्त करता है। चूँकि उसकी व्याख्या हो चुकि है, इसलिए इसकी भी व्याख्या हो चुकी। यह मत आचार्य शिवनारायण शास्त्री का है।

पाणि—इसका निर्वचन पूजार्थक √पण् धातु से माना गया है। संभवतः '√पण् + इ > पणि > पाणि'। यास्क ने इस सम्बन्ध में जो 'प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति' अर्थात् हाथों को जोड़कर (लोग) पूजा करते हैं, वह 'पाणि' के अर्थ को उजागर करने के साथ-साथ तत्कालीन आचार को भी व्यक्त करता है।

उर्वी—इसके दो निर्वचन किए गए हैं—(i) नदियाँ अपनी विशालता से बहुत बड़े भू-भाग को आच्छादित करती है, इसलिए वे 'उर्वी कहलाती हैं। इस व्याख्या के अनुसार इसका निर्वचन आच्छादन अर्थ वाली √ऊर्णुञ् धातु से होगा, (√ऊर्णु + उ > उर् + उ > उरु + ई (ङिप् > उर्वी)। यह निर्वचन स्वयं यास्क का है। (ii) किन्तु आचार्य और्णवाभ इसे आच्छादनार्थ √वृञ् से निष्पन्न मानते हैं---√वृ + उ > उर् + उ > उरु ई (ङीप् = उर्वी) ॥२३॥

अगले सन्दर्भ में पूर्वसंकेतित मन्त्र को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की गई है—

मूल—आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नसै पीप्यानेव योया मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥
(ऋ० ३/३३/१०)

आशृणवाम ते कारो वचनानि। याहि दूरादनसा रथेन च। निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रम्, मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमै इति वा॥

अनुवाद—हे कवि ! हमने तुम्हारे वचनों को सुन लिया है। तुम (बहुत) दूर से, आये हो, (इसलिए अब) बैलगाड़ी और रथ के द्वारा चले जाओ। (पुत्र को दूध) पिलाती हुई युवती (या) पुरुष का आलिंगन करने के लिए (झुकती हुई) कन्या के समान (हम) तुम्हारे लिए झुक रही हैं।

हे (शिल्पी) कवि, हमने तुम्हारे वचनों को सुन लिया है। (तुम) दूर से (आए हो अतः थक गए होंगे) (अब) बैलगाड़ी और रथ से चले जाओ। पुत्र को (दूध) पिलाती हुई युवती के समान हम तुम्हारे लिए झुक रही हैं या पुरुष का आलिंगन करने के लिए (झुकी हुई) कन्या के समान (मैं तुम्हारे लिए झुकती हूँ।

व्याख्या—नदी सूक्त के इस अन्तिम मन्त्र में विश्वामित्र और नदियों के रोचक संवाद का, नदियों के द्वारा विश्वामित्र के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के साथ ही अन्त हो गया है। यह संवाद कवि की उच्चकोटि की कल्पना को सिद्ध करता है।

मन्त्रस्थ वे पद, जिनके निर्वचन का संकेत यास्क ने उनके पर्यायों की व्याख्या में देकर किया है, ये हैं—

निनंसै—यह नि + √नम् का 'लच्' उत्तमपुरुष एकवचन में रूप है। इसमें 'सिब्बहुलं लेटि' सूत्र के द्वारा 'स्' (सिप्) का आगम यथा 'वैतोऽन्यत्र' से 'एकार का आदेश हुआ है।

निनमाम—यह उक्त धातु के लोट्, उत्तमपुरुष बहुवचन का रूप है, इसका सम्बन्ध वयम् से है, जो यहाँ लुप्त है।

निनमै—यह नि √नम्, के आत्मनेपद, लोट् उत्तम पुरुष, एकवचन का रूप है। इसका सम्बन्ध योषा और कन्या में से प्रत्येक के साथ अलग-अलग है।

शश्वचै—यह √श्वच् या √श्वञ्च् धातु और तुमर्थक 'ए' प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। राजवाड़े ने इसे 'नीचे लेटना' अर्थ वाली √श्वञ्च् धातु के अभ्यस्त रूप और 'ऐ' प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना है। (द्र० शिवनारायण शास्त्री, निरुक्त, पृ० १८४)।

पीप्याना—यह पानार्थक √पा + णिच् + शानच् + टाप्' का वैदिक रूप है। 'पाययमाना' इसी का लौकिक रूप है ॥२६॥

अगली पंक्तियों में 'अश्व' के पर्यायों का संकेत देने के पश्चात् उसकी तथा 'दधिका' की व्याख्या की गई है—

मूल—अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामष्टा उत्तराणि

बहुवत् । अश्वः कस्मात् ? अश्नुतेऽध्वानम् । महाशनो भवतीति वा । तत्र 'दधिक्राः' इत्येतद् 'दधत्क्रामतीति' वा, दधत्क्रन्दतीति वा, दधदाकारी-भवतीति वा । तस्याश्ववद् देवतावच्च निगमाः भवन्ति । यद् यद् देवतावद् उपरिष्टात् (१०/३१) तद् व्याख्यास्यामः । अथैतद-श्ववत् ॥२७॥

अनुवाद—बाद के छब्बीस नाम अश्व के हैं। उनमें बाद के आठ नाम बहुवत् (बहुवचन में प्रयुक्त होने वाले) हैं। (इसे) 'अश्व' क्यों कहते हैं ? (वह) मार्ग को व्याप्त करता है—अथवा महान् अशन (भोजन) वाला है, इसलिए। उन (अश्व नामों) में से 'दधिक्रा' यह पद 'धारण करता हुआ चलता है' अथवा 'धारण करता हुआ क्रन्दन करता है' अथवा 'धारण करता हुआ आका-रवान् होता है, इन कारणों से (सिद्ध होता है)। उसके घोड़े और देवता—दोनों के समान है, उसकी व्याख्या हम बाद (१०/३१) में करेंगे। इस समय, यह अश्व के समान है ॥२७॥

व्याख्या—उपरि संकेतित अश्व के छब्बीस नाम निघण्टु के शब्दों में ये हैं—

१. अत्यः, २. हयः, ३. अर्वा, ४. वाजी, ५. सप्तिः, ६. वह्निः, ७. दधिक्राः ८. दधिक्रावा, ९. एतग्वा, १०. एतशः, ११. पैद्वः, १२. दौर्गहः, १३. औच्चैः-श्रवसः, १४. तार्क्ष्यः, १५. आशुः, १६. ब्रध्नः, १७. अरुषः, १८. मांश्चत्वः, १९. अव्यथयः, २०. सुपर्णाः, २१. पतङ्गा, २२. अश्वः, २३. नरः, २४. ह्वार्याणाम्, २५ हंसासः, २६. अश्वा इति षड्विंशतिरश्वनामानि ।

व्याख्येय अंश—

'तेषा···बहुवत्' का अभिप्राय है कि इन समस्त नामों में जो अन्तिम आठ नाम हैं, वे सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। शेष यथावसर सभी वचनों में।

'तस्या···भवन्ति' का आशय यह है कि ऐसे वैदिक उदाहरण मिलते हैं जिनमें 'दधिक्रा' शब्द का प्रयोग एक सामान्य घोड़े और देवता—इन दोनों अर्थों

में अलग-अलग हुआ है। यहाँ आगे जो ऋचा दी जा रही है, उसमें इसका प्रयोग केवल घोड़े के अर्थ में हुआ है।

अश्व—इसके दो निर्वचन किए गए हैं—(i) वह (तेजी से चलने के कारण) मार्ग का व्याप्त करता है, इसलिए 'अश्व' है—'अश्नुतेऽध्वानमित्यश्वः। ऐसी स्थिति में—√अशूङ् (व्याप्त्यर्थक)+अध्वन् > अश्+वन् > अश्व' या √अशुङ व (क्वन् उणादि) > अश्व, में इसके निर्वचन को देखा जा सकता है। (ii) क्योंकि वह खूब खाता है, इसलिये अश्व है—'अश्नातीत्यश्वः' इस व्याख्या के अनुसार इसका शब्दनिर्वचन '√अश् (भक्षणार्थक)+व (क्वन्, उणादि) > अश्व) होगा।

दधिका—इसके तीन निर्वचन किए गए हैं—(i) वह (सवारी को अपने ऊपर) धारण करता हुआ चलता है, इसलिए 'दधिक्रा' है—'दधत्क्रामतीति दधिकाः'। इस व्याख्या के 'दधत' और 'क्रामति' ये दो शब्द यह सूचित करते हैं कि प्रस्तुत शब्द का निर्वचन इन्हीं दोनों से हुआ है—'दधत्+क्रामति > दध+क्रा > दधिक्रा (अ > ई)। (ii) वह (सवारी को धारण करता हुआ) कन्दन करता हुआ, हिनहिनाता है, इसलिए 'दधिका' है—'दधत्क्रन्दतीति दधिकाः' यह व्याख्या 'दधत्+क्रन्दति > दध+क्र > दधि+क्र > दधिक्रा' के रूप में उसके निर्वचन को सूचित करती है (iii) वह (सवारी को) धारण करता हुआ आकारवान् बनता है, इसलिए 'दधिका' है—'दधदाकारी भवतीति दधिक्राः' इससे इसका निर्वचन होगा—'दधत् आकार > दध+कार > दधि+कार > दधि+क्रा' ॥२७॥

अब उपरि संकेतित ऋचा को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की जा रही है—

मूल—

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत् पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्॥
(ऋ० ४/४०/४)

अपि स बाजी वेजनवान् क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम्, ग्रीवायां बद्धः। ग्रीवा—गिरतेर्वा, गृणातेर्वा। अपिकक्षे आसनीति व्याख्यातम्। क्रतुं दधिक्राः—कर्म वा प्रज्ञां वा। अनु सन्तवीत्वत्। तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः। पथामङ्कांसि—पथां कुटिलानि। पन्थाः—पततेर्वा, पद्यतेर्वा, पन्थतेर्वा, अङ्कोऽञ्चतेः 'आपनीफणद्' इति फणतेश्चर्करीतवृत्तम्।

अनुवाद—और वह ग्रीवा, पार्श्व और मुख में बंधा हुआ वेगवान् घोड़ा चाबुक के बाद (चाबुक के लगते ही) तेजी से चल पड़ता है। (सवार को अपने ऊपर धारण किये हुये वह) घोड़ा मार्ग की कुटिलताओं को पार कर जाता है (तथा) अपने (गमन रूप) कार्य को लक्ष्य करके (उसे) पूरा करता है।

और वह वाजी अर्थात् वेगवान् घोड़ा चाबुक के बाद अर्थात् चाबुक के लगते ही, तुरन्त मार्ग में व्याप्त हो जाता है। (वह) ग्रीवा (गले) में बंधा है। 'ग्रीवा' शब्द √गृ (निगरण), अथवा √गृ (बोलना), अथवा √ग्रह, (ग्रहण करना, पकड़ना) से निष्पन्न है। "और पार्श्व में, मुख में, यह (अंश सरल होने के कारण) व्याख्यात-सा है। (सवार को धारण करने वाला वह) घोड़ा (अपने) 'क्रतुः' (जिसका अर्थ) कर्म या प्रज्ञा है, को विस्तृत करता है (पूर्ण करता है)। 'अनुसन्तवीत्वत्' यह √तनु धातु की पूर्व प्रकृति से निष्पन्न वैदिक प्रयोग है। मार्ग की कुटिलताओं को। पथिन् (पन्थाः) शब्द √पत् (गिरना, तेजी से चलना) से, अथवा √पद् (गति) से, अथवा √पन्थ् (चलना) से निष्पन्न है। 'अङ्कस्' शब्द गत्यर्थक √अञ्च् से निष्पन्न है। 'आपनीफणत्' यह शब्द चर्करीतर (के समान यङ् लुगन्त का) प्रयोग है।

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र में घोड़े के अर्थ में 'दधिक्राः' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः यह 'अश्ववत्' का उदाहरण है।

संकेतित, निर्वचन और व्याख्येय अंश ये हैं—

वाजी—इसका पर्याय 'वेजनवान्' है। निर्वचन यों होगा—√वाज् (गत्यर्थक + इन् = वाजिन्।)

ग्रीवा—कार्यों के आधार पर इसके तीन निर्वचन किये गये हैं, (i) इस

के द्वारा निगरण किया जाता है--- इसलिए— √गृ से (गृ + वन् + आ (टाप्) > ग्री + व + आ > ग्रीवा, (ii) इसके माध्यम से बोला जाता है, इसलिए बोलना अर्थ वाली √गृ से (पहले जैसा)। (iii) इसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, 'ग्रहण' अर्थ वाली √ग्रह् से (ग्रह् + वन् + आ > ग्री + व + आ > ग्रीवा)।

'अपि ... व्याख्यातम्'—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(i) 'आस्य' और 'कक्ष' शब्द की व्याख्या पहले हो चुकी है, इसलिए इस अंश की जिसमें 'कक्ष' 'आसनि' (आस्य) का ही मुख्यता प्रयोग है, व्याख्या हो गई है। (ii) यह अंश इतना सरल है कि स्वतः व्याख्यात-सा है।

क्रतुम्—इसका अर्थ 'कर्म' या 'प्रज्ञा' किया गया है। निर्वचन होगा— √कृ + तु > क्रतु।

अनुसन्तणोत्वत्—इसका निर्वचन होगा—

अनु + सम् + √तु (वृद्धयर्थक) + यङ् लुक्, प्रथम पुरुष एकवचन। यद्यपि, यास्क ने इसके पर्याय के रूप में 'अनुसन्तनोति' का प्रयोग किया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वे √तनु के इसके मूल में मानते हैं। किन्तु इसे केवल अर्थ प्रदर्शनार्थ ही समझना चाहिये।

तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः—आचार्य दुर्ग ने इसकी व्याख्या यह की है कि 'अनुसन्तवीत्वत्' 'तनु' धातु की पहली प्रकृति अर्थात् शुद्ध धातु का रूप है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं, √तु धातु से यङ् लुक् का रूप है, जोकि चौथी प्रकृति का रूप है ("प्रकृत्यन्तः सनन्तश्च यङन्तो यङ् लुगेव च। ण्यन्तो ण्यन्तसनन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते') इस श्लोक के अनुसार शुद्ध धातु, सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुगन्त, ण्यन्त और ण्यन्तसन्नन्त—ये छह प्रकार की धातु होती हैं, और इनमें से प्रत्येक धातु की प्रकृति है)। स्कन्द ने 'पूर्वा प्रकृति' का अर्थ धातु का द्वित्व रूप लिया। पाणिनि ने भी 'पूर्वोऽभ्यासः' में इसका स्पष्ट संकेत दिया है। इसलिए उक्त पंक्ति का आशय होगा—'यह √तु की पूर्वा प्रकृति अर्थात् अभ्यस्त प्रकृति का रूप है। (यह 'तवतेः' पाठ होना चाहिए। 'तनोतेः' पाठ प्रामादिक है, ऐसा स्कन्द का कथन है)।

अङ्कस्—इसका निर्वचन यह होगा—

√अञ्च् + असुन् > अङ्क् + अस् > अङ्कस्।

पथिन्—(पन्थाः)—के तीन निर्वचन किए गए हैं –(i) √पत् + इन् > पतिन् > पथिन्, (ii) √पद् + इन् > पदिन् > पथिन् । (iii) √पन्थ् + इन् > पथिन् । √पत्, √पद् और √पन्थ्—तीनों गत्यर्थक धातुएं हैं—जिससे यह अर्थ निकलता है—जिस पर गमन किया जाये—वह 'पथिन्' (पन्था) है ।

आपनीफतत्—इसका निर्वचन है—

अ √फण् (गत्यर्थक) + यङ् लुक्, प्रथमपुरुष एकवचन । इसी सन्दर्भ में यास्क ने 'चर्करीत वृत्तम्' जिसका तात्पर्य है—'चर्करीत' शब्द के समान बना हुआ शब्द—'चर्करीतस्य वृत्तमिव वृत्तं यस्य तत्' । 'चर्करीत' शब्द यङ् लुगन्त से बना शब्द है, अतः यङ् लुगन्त प्रक्रिया से बनने वाले समस्त शब्द 'चर्करीतवृत्त' कहलाएंगे । 'चर्करीत' यङ् लुगन्त की प्राचीन संज्ञा है ।

अगली पंक्तियों में 'आदिष्टोपयोजन' देवताओं के विषय में बताया गया है—

मूल—दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय ।

अनुवाद—बाद के दस नामों को 'आदिष्टोपयोजन' ऐसा कहते हैं, साहचर्य को जानने के लिए ।

व्याख्या—ये 'आदिष्टोपयोजन' निम्नलिखित हैं—

१. हरी इन्द्रस्य, २. पृषत्यो मरुताम्, ३. हरित आदित्यस्य, ४ रासभावश्विनोः, ५. अजा पूष्णः, ६. पृषत्यो मरुताम्, ७. अरुण्यो गाव उषसः, ८. श्यावा सवितुः, ९. विश्वरूपा बृहस्पतेः, १०. नियुतो वायोरिति दशादिष्टोपयोजनानि ।

'आदिष्टोपयोजन' से तात्पर्य उन मुख्य देवताओं से है, जो अपने-अपने सहयोगी देवताओं के साथ उल्लिखित हुए हैं—'उपयुज्यते इति उपयोजनाः, आदिष्टा निर्दिष्टा उपयोजना येषान्ते तादृशाः' ।

कतिपय विद्वान् 'उपयोजन' का अर्थ 'वाहन' करते हैं । ऐसी स्थिति में उपर्युक्त नामों के जड़ों में से प्रथम को वाहन और बाद वाले को देवता (स्वामी) मानना होगा ।

निम्न पंक्तियों में 'जलना' अर्थ वाली धातुओं को बताया गया है—

मूल—ज्वलतिकर्माणः उत्तरे धातवः एकादश ।

अनुवाद—बाद की ग्यारह धातुएं 'जलना' अर्थ वाली हैं।

व्याख्या—संकेतित धातुएँ निघण्टु के शब्दों में निम्न हैं—

१. भ्राजते, २. भाशते, ३. भ्राश्यति, ४. दीपयति, ५. शोचति, ६. मन्यते, ७. भन्दते, ८. रोचते, ९. द्योतते, १०. ज्योतते, ११. द्युमत्—इत्येकादश ज्वलितकर्माणः।

ज्वलति इस आख्यात के प्रयोग से स्पष्ट है, उपर्युक्त सभी शब्द 'ज्वलति' इस आख्यात (धातु) के अर्थ को व्यक्त करते हैं, न कि उससे बने हुए शब्द (भाववाचक संज्ञा) को।

अगली पंक्तियों में जलते हुए पदार्थ के नाम बताए गए हैं।

मूल—तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि।

अनुवाद—बाद के उतने ही अर्थात् ग्यारह नाम जलते हुए पदार्थ के है।

व्याख्या—संकेतित नाम निघण्टु के शब्दों में ये हैं—

१. जमत्, २. कल्मलीकिनम्, ३. जञ्जणाभवन्, ४. मल्यलाभवन् ५. अर्चिः, ६. शोचिः, ७. तपः, ८. तेजः, ९. हरः, १०. हृणिः, ११. शृङ्गाणि शृङ्गणि—इत्येकादश ज्वलतो नामधेनानि।

॥ इति द्वितीयोऽध्याय ॥

॥ दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अध्याय के प्रारम्भ में आचार्य यास्क ने 'दैवत' शब्द की व्याख्या के साथ-साथ मन्त्रों में निर्दिष्ट 'देवता' को जानने का उपाय बताया है—

मूल—अथातो दैवतम् । तद्, यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानाम्, तद्, 'दैवतम्' इत्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा—यत्कामः ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।

अनुवाद—अब यहाँ से देवताओं से सम्बद्ध (अध्याय) प्रारम्भ होता है। तो, जो नाम, प्रधानता से जिनकी स्तुति की गई है ऐसे देवताओं के हैं, उन्हें (सामान्य रूप में आचार्य लोग) 'दैवत' कहते हैं। (और मन्त्र के) देवता की उपपरीक्षा यह है—ऋषि (जिस मन्त्र में) जिस विषय की कामना (और) उसके स्वामित्व की इच्छा करता हुआ, जिस देवता की स्तुति करता है, वह मन्त्र उस देवता का होता है।

व्याख्या—'दैवतम्' का अर्थ है देवताओं से सम्बद्ध (अध्याय)—'देवतानामिदं दैवतम्'—देवता + अण् । इस अध्याय में उन देवता वाचक शब्दों का संकलन किया गया है, जिनकी स्तुति मन्त्रों या सूक्तों में प्रधानरूप में की गई है, नैघण्टुक या गौण रूप में नहीं, क्योंकि उनका संकलन निघण्टु के पूर्ववर्ती अध्यायों में हो चुका है । इस प्रकार 'दैवत' से तात्पर्य उस अध्याय से है, जिसमें, वैदिक मन्त्रों या सूक्तों में प्रधान रूप में स्तुत देवता के नामों का संकलन किया गया है । यास्क का यही अभिप्राय है, यद्यपि उनके शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रधान देवता वाचक शब्दों को ही 'दैवत' मानते हैं ।

परन्तु किस मन्त्र का देवता कौन है ? इसको जानने का उपाय क्या है ?

यास्क ने इसको बताने का प्रयास किया है । इसे ही वे देवताओं की उपपरीक्षा या देवताओं के जानने का उपाय कहते हैं । यह उपाय इस प्रकार है—

प्रत्येक मन्त्र में उसका रचयिता (ऋषि) किसी न किसी पदार्थ का वर्णन करता है । इस वर्णन या स्तुति के मूल में ऋषि की कोई न कोई कामना होती है । वह सोचता है कि मैं इस वस्तु का स्वामी हो जाऊँ और फलतः वह वस्तु को देने वाली शक्ति की स्तुति करता है । यह स्तूयमान शक्ति ही देवता है । तात्पर्य यह कि किसी वस्तु के स्वामित्व को प्राप्त करने की आकांक्षा से उस वस्तु को देने में समर्थ जिस शक्ति की स्तुति जिस मन्त्र में की जाती है उस मन्त्र का वही देवता है ।

नीचे वर्णन-शैली के आधार पर ऋचाओं के त्रिविधत्व का प्रतिपादन कर परोक्षकृत की परिभाषा दी गई है—

मूल—तास्त्रिविधाः ऋचः—परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य—॥१॥

अनुवाद—प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक । उनमें परोक्षकृत (मन्त्र) नाम की सभी विभक्तियों और आख्यात के प्रथम पुरुष से युक्त होते हैं ।

व्याख्या—यहाँ 'ऋचा' से ऋग्वेद के मन्त्रों का ग्रहण न होकर समस्त मन्त्रों का ग्रहण अभीष्ट है । ये मन्त्र वर्ण शैली की दृष्टि से तीन प्रकार के हो सकते हैं—(i) ऐसे मन्त्र, जिनमें देवताओं की स्तुति ऐसे की गई हो, जैसे देवता सामने हो । ऐसे मन्त्र प्रत्यक्षकृत हैं । (ii) ऐसे मन्त्र, जिनमें देवताओं को परोक्ष मानकर उनकी स्तुति की गई है, परोक्षकृत हैं । (iii) तीसरे प्रकार के मन्त्र वे हैं, जिनमें देवता स्वयं अपने विषय में बतलाता है, ऐसे मन्त्र आध्यात्मिक हैं ।

परोक्षकृत ऋचाओं की पहिचान यह है—

(i) इनमें स्तूयमान देवता का वर्णन सातों विभक्तियों में होता है—अर्थात् देवता वाचक शब्द का प्रयोग 'सम्बोधन' को छोड़कर किसी न किसी विभक्ति में अवश्य होता है ।

(ii) प्रथम पुरुष की आख्यात (तिङन्त) क्रियाओं का प्रयोग। (परन्तु ऐसा तभी होता है, जब देवतावाचक शब्द का प्रयोग प्रथमा विभक्ति में हुआ हो। इसलिए यास्क का यहाँ कथन आंशिक रूप में ही सत्य है।)

अगले सन्दर्भ में परोक्षकृत के उदाहरण दिए जा रहे हैं—

मूल—'इन्द्रो दिवः इन्द्र ईशे पृथिव्याः', (ऋ० १०/८९/१०)। 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत' (ऋ० १/७/१) 'इन्द्रेणैते तृत्सवो बेविषाणाः (ऋ० ७/१८/१५)। 'इन्द्राय साम गायत' (ऋ० ८/९८/१)। नेन्द्राद्दते पवते धाम किंचन' (ऋ० ९/६८/६)। इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' (ऋ० १/३२/१)। 'इन्द्रे कामा अयंसत।' इति

अनुवाद—इन्द्र द्युलोक का, इन्द्र पृथिवी का शासक है। गायक लोग इन्द्र को बहुत (प्रशंसा करते हैं)। इन्द्र के द्वारा व्याप्त किये जाते हुए ये त्रित्सु (लोग)। इन्द्र के लिए साम (सामवेद के मन्त्र) को गाओ। इन्द्र के बिना, कोई स्थान पवित्र नहीं है। (मैं) इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों को कहूँगा। इन्द्र पर (मेरी) इच्छायें निवद्ध हैं।

व्याख्या—इस अवतरण के सातों वाक्यों में क्रमशः प्रथम से लेकर सप्तमी तक की सातों विभक्तियों का तथा जिसमे देवतावाचक शब्द का प्रयोग प्रथमा में हैं, उसमें प्रथम पुरुष में आख्यात का प्रयोग हुआ है। इसलिए ये समस्त मन्त्र परोक्षकृत' हैं।

निम्न पंक्तियों में प्रत्यक्षकृत के लक्षण और उदाहरण बताए गए हैं—

मूल— अथ प्रत्यक्षकृताः मध्यमपुरुषमोगाः स, 'त्वम्' इति चैतेन सर्वनाम्ना—'त्वमिन्द्र, बलादधि' (ऋ० १०/१३५/२)। 'वि न इन्द्र मृधो जहि' (ऋ० १०/१५२/४)।' इति। अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि—'मा चिदन्यद् वि शंसत' (ऋ० ८१/१) 'कण्वा अभि प्र गायत' (ऋ० १/३७/१) 'उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्' (ऋ० ६/३५/११)।' इति।

अनुवाद—अब प्रत्यक्षकृत (मन्त्रों को लेते हैं जिन मन्त्रों में) मध्यम पुरुष की क्रियाओं तथा 'त्वम्' ('युवाम्' और 'यूयम्' भी) इस सर्वनाम का योग होता है (वे प्रत्यक्षकृत मन्त्र कहलाते हैं, जैसे) हे इन्द्र, तू बल से अधिक (है)।' इन्द्र, तू हमारे शत्रुओं का अनेक प्रकार से विनाश कर।' ये। इसके अतिरिक्त (इसी वर्ग में कुछ मन्त्र ऐसे भी होते हैं जिसमें) स्तुति करने वाले प्रत्यक्षकृत होते हैं और जिनकी स्तुति की गई, वे (स्तोतव्य) परोक्षकृत होते —'अन्य की अनेक प्रकार से स्तुति न करो।' 'कण्वो, अच्छी प्रकार से खूब आओ।' 'हे कुशिको, पास आओ (और) चेत जाओ।' ये।

व्याख्या—प्रत्यक्षकृत मन्त्र वे हैं जिनमें देवता को प्रत्यक्ष-सा करके सम्बोधित किया जाता है। इसके लिए उनमें मध्यम पुरुष के त्वम्, युवाम् और यूयम् इन सर्वनामों तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाली मध्यम पुरुष की क्रियाओं का साक्षात् या असाक्षात् प्रयोग होता है। उदाहरण के रूप में प्रदत्त दोनों ही मन्त्रों में इन्द्र को सम्बोधित करके 'त्वम्' का प्रयोग किया गया है। प्रथम में 'असि' क्रिया लुप्त है, जब कि दूसरे में 'जहि' मध्यम पुरुष एकवचन किया है। इसलिए ये दोनों प्रत्यक्षकृत मन्त्र हैं।

यास्क का कहना है कि मन्त्रों के इसी वर्ग में कुछ ऐसे भी मन्त्र होते हैं जिनमें स्तोता ऋषियों से भिन्न होते हैं तथा वे प्रत्यक्षकृत (सम्बोध्यमान, त्वम् आदि सर्वनामों और मध्यम पुरुष की क्रियाओं से युक्त) होते हैं और उनके स्तोतव्य परोक्षकृत अर्थात् सभी विभक्तियों और आख्यात के प्रथम पुरुष से युक्त होते हैं। प्रदत्त उदाहरणों में से अन्तिम दो में; कुशिक और कण्व, में दोनों ऋषि भिन्न स्तोता हैं और प्रत्यक्षकृत हैं तथा इनके द्वारा जिनकी स्तुति या गान करने के लिए कहा है, वे स्तोतव्य परोक्षकृत हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में आध्यात्मिक ऋचाओं के बारे में बतलाते हैं—

मूल—अथाध्यात्मिक्य—उत्तमपुरुषयोगाः, 'अहम्' इति चैतेन सर्वनाम्ना। यथैतद् 'इन्द्रो वैकुण्ठो' (ऋ० १०/४८, ४९), लवसूक्तम् (ऋ० १०/११९), वागाम्भृणीयम् (१०/१२५) इति ॥२॥

अनुवाद—और आध्यात्मिक (वे मन्त्र हैं, जिनमें) उत्तम पुरुष (की

क्रियाओं तथा 'अहम्' ('आवाम्' और वयम् भी इस सर्वनाम का प्रयोग होता है। जैसे यह 'विकुण्ठा का पुत्र इन्द्र लवसूक्त और वागाम्भृणीय' थे ।।२।।

व्याख्या—आध्यात्मिक मन्त्र वे हैं, जिनमें स्तोता और स्तोतव्य एक ही होता है, स्तोता अपना वर्णन. स्वयं करता है। एतदर्थ उसमें 'अहम्' आदि सर्वनामों और उनसे सम्बन्ध रखने वाली 'क्रियाओं' का प्रयोग होता है। जो तीन सूक्त उदाहरण के रूप में दिए गए हैं, वे ऐसे ही हैं।

नीचे ऐसे मन्त्रों की संख्या के सम्बन्ध में बताया जा रहा है—

मूल—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्राः भूयिष्ठाः, अल्पशः आध्यात्मिकाः।

अनुवाद—परोक्षकृत और अप्रत्यक्षकृत मन्त्र संख्या में अत्यधिक और आध्यात्मिक मन्त्र अल्प हैं।

टिप्पणी—श्री शिवनारायण शास्त्री की गणना के अनुसार आध्यात्मिक मन्त्रों की संख्या केवल ६२ है (द्र० निरुक्त, पृ० १६५)।

नीचे की पंक्तियों में वैदिक संहिताओं के प्रतिपाद्य विषय बतलाए गए हैं—

मूल—अथापि स्तुतिरेव भवति, नाशीर्वादः—'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' (ऋ० १/३२/१) इति यथैतस्मिन् सूक्ते। अथाप्याशीरेव न स्तुतिः—'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासम्। सुवर्चा मुखेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम् (मानवगृह्यसूत्रम्, १/६/२५)।' इति। तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे, याज्ञेषु च मन्त्रेषु। अथापि शपथाभिशापौ—'अद्या मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि (ऋ० ७/१०४/१५)।' 'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः (ऋ० ७/१०४/१५)।' इति। अथापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा—न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि (ऋ० १/१२६/२)। तम आसीत्तमसा गूळहमग्रे (ऋ० १०/१२६/३)।' अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात् 'सुदेवोऽद्य प्रपतेदनावृत् (ऋ० १०/६५/१४)

न वि जानामि यदि वेदमस्मि (ऋ० १/१६४/३७)।' इति। अथापि निन्दाप्रशंसे--'केवलाघो भवति केवलादी (ऋ० १०/११७/६)।' भोजस्येद पुष्करणीव वेष्म (ऋ० १०/१०७/१०) इति।' एवमक्षसूक्ते (ऋ० १०/३४) द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च।

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ॥३॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त (कहीं-कहीं) केवल स्तुति है, आशीर्वाद नहीं (जैसे) ('मैं') 'इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करूँगा।' इसके अतिरिक्त (कहीं-कहीं) केवल 'आशी' ही है, स्तुति नहीं (जैसे 'मैं आँखों से अच्छा देखने वाला बनूँ।' यह (बात) अधिकतर यजुर्वेद तथा यज्ञ से सम्बद्ध मन्त्रों में पाई जाती है। इसके अतिरिक्त (कहीं-कहीं) शपथ और अभिशाप पाए जाते हैं—(जैसे) 'मैं आज ही मर जाऊं, मैं जादूगर यातुधान (राक्षस) होऊँ।' '(ईश्वर करे) वह (अपने) दसों लड़कों से वियुक्त हो जाए।' इसके अतिरिक्त (कहीं-कहीं) किसी भाव को कहने की इच्छा होती है—(जैसे) 'उस समय मृत्यु नहीं थी (और) न अमृत ही था।' 'पहले अन्धकार अन्धकार से आच्छन्न था।' इसके अतिरिक्त (कहीं-कहीं) किसी (शोकादि) भाव के कारण विलाप मिलता है) (जैसे)—'यह उत्तम देवता है, जो आज न लौटता हुआ (पहाड़ की चोटी पर से) गिर जाए।' मैं यह नहीं जानता कि मैं यह हूँ या (वह)।' इसके अतिरिक्त (कहीं-कहीं) निन्दा और प्रशंसा है (जैसे)—'जो अकेले खाता है, वह केवल पाप से युक्त होता है।' 'भोजन कराने (उदार) व्यक्ति का यह घर पुष्करिणी के समान है।' इसी प्रकार 'द्यूतसूक्त में जुए की निन्दा और कृषि की प्रशंसा मिलती है।'

इस प्रकार ऋषियों के मन्द मन्त्रों के दर्शन, अनेक अभिप्रायों से (प्रवृत्त) होते हैं ॥३॥

व्याख्या—यहाँ यास्क ने, वैदिक प्रतिपाद्य विषयों के जो प्रकार बताए हैं, वे उनकी दृष्टि से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य दृष्टियों से भी तदतिरिक्त वैदिक प्रतिपाद्यों की ओर इंगित किया जा सकता है।

एवमु···भवन्ति—इसका अभिप्राय यह है कि ऋषियों की मन्त्र-रचना

के मूल में जो दृष्टि रही है इसका उद्देश्य उपरि-चर्चित इन्हीं भावों और विचारों को व्यक्त करना है, दूसरे शब्दों में इन्हीं छोटे-बड़े अभिप्रायों से प्रेरित होकर ही ऋषियों ने मन्त्रों का साक्षात्कार या इनकी रचना की। (उच्चावच = अच्छे-बुरे या छोटे-बड़े)।

जिन मन्त्रों में देवताओं के चिह्न का निर्देश नहीं है, उनमें उनका ज्ञान कैसे किया जाए, इसे यास्क निम्न पंक्तियों में स्पष्ट कर रहे हैं—

मूल—तद्येऽनादिष्टदेवताः मन्त्रास्तेषु देवतोपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा, तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात् 'प्राजापत्याः' इति याज्ञिकाः, 'नाराशसा' इति नैरुक्ताः,। अपि वा, सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा। अस्ति ह्याचारो वहुल लोके देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यम्, पितृदेवत्यम् याज्ञदैवतो मन्त्र इति।

अनुवाद—तो, जो अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्र हैं, उनमें देवता (को जानने का तरीका (यह है)—यज्ञ अथवा यज्ञ के अङ्गभूत कर्म का जो देवता है, वह देवता (उनमें प्रयुक्त मन्त्रों का भी) होता है। और यज्ञ के अतिरिक्त (प्रयुक्त होने वाले अनिर्दिष्ट देवता के मन्त्र) प्रजापति देवता वाले होते हैं, ऐसा याज्ञिकों का कथन है, 'नराशंस देवता वाले हैं' ऐसा नैरुक्तों का विचार है अथवा उनका देवता वैकल्पिक होता है, अथवा देवताओं का समूह (देवता होता है), क्योंकि लोक में अत्यन्त प्रचलित आचार है—(यह वस्तु) देवरूप देवता की है, अतिथिरूप देवता की है, पितृरूप देवता की है। 'यज्ञरूप देवता का है।

व्याख्या—प्रायः प्रत्येक मन्त्र में, उसके देवता के कोई न कोई चिह्न अवश्य होते हैं। ऐसे मन्त्रों को 'आदिष्टदेवताक, कहा जा सकता है। अब तक मन्त्रों में देवताज्ञान का जो तरीका बताया गया है, वह ऐसे ही मन्त्रों के लिए है। किन्तु बहुत से मन्त्र ऐसे भी होते हैं, जिनमें देवता के चिह्न स्पष्ट नहीं होते, इसलिए उनमें देवताओं का ज्ञान सरलता से नहीं हो पाता। ऐसे मन्

अनादिष्टदेवता' कहे गए हैं—'अनादिष्टा अनिर्दिष्टा देवता येषु ते'। यास्क ने प्रस्तुत अवतरण में ऐसे ही मन्त्रों में 'देवता' को जानने के उपाय बतलाए हैं—

(i) इस प्रकार के जिन मन्त्रों का प्रयोग किसी यज्ञ या यज्ञ के अङ्गभूत कर्म में होता है, उसके बारे में यह देखना चाहिए कि उस यज्ञ के कर्म का देवता कौन है ? जो देवता उसका होगा, वही उसमें प्रयुक्त मन्त्रों का भी देवता होगा।

(ii) किन्तु ऐसे जिन मन्त्रों का प्रयोग किसी यज्ञ अथवा यज्ञ के कर्म में नहीं होता, उनके 'देवता' के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ हैं, जैसे—

(क) याज्ञिकों या मीमांसकों का विचार है कि ऐसे मन्त्रों का देवता प्रजापति होता है, क्योंकि जिस प्रकार इस प्रकार के मन्त्रों का विनीयोग का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार प्रजापति किन कर्मों का अधिष्ठाता है, इसका ज्ञान नहीं होता। यही दोनों में समानता है।

(ख) नैरुक्तों का कथन है कि ऐसे मन्त्रों का देवता 'नराशंस' है या ये मन्त्र 'नाराशंस' हैं। यहाँ 'नाराशंस' या 'नराशंस' के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक विचार है। कुछ आचार्यों के विचार में 'यज्ञ' ही 'नराशंस' है और स्वयं 'यज्ञ' भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में विष्णु, सूर्य और क्रतु आदि का वाचक है। आचार्य शाकपूणि का मत है कि 'नराशंस' का अर्थ अग्नि है, इसलिए अग्नि ही इनका देवता है, इत्यादि।

(ग) कतिपय आचार्यों का विचार है कि ऐसे मन्त्रों में अपनी इच्छानुसार कोई भी देवता मान लेना चाहिए।

(घ) कुछ लोगों का विचार है कि ऐसे मन्त्रों का देवता कोई एक न होकर देवताओं का समूह होता है। 'प्रायोदेवता' शब्द में 'प्रयास्' का अर्थ समूह है। यह ठीक वैसे ही है—जैसे घर की किसी वस्तु के देवता देव, अतिथि और पितृगण सभी होते हैं।

(ङ) कुछ अन्य लोगों के विचार में ऐसे मन्त्रों का देवता स्वयं यज्ञ होता है—'यज्ञ एव याज्ञ: दैवतं यस्य सः'।

निम्नलिखित अवतरण में अदेवता रूप पदार्थों के देवतातत्व का प्रतिपादन किया गया है—

मूल—अपि ह्यदेवताः देवतावत् स्तूयन्ते। यथाऽश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्ता न्यथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि। स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम्, प्रत्यक्षदृश्यमेतद् भवति। महाभाग्याद् देवतायाः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति' इत्याहु। प्रकृतिसार्वनाम्याच्च। इतरेतरजन्मानो भवन्ती, तरेतरप्रकृतयः, कर्मजन्मानः, आत्मजन्मानः। आत्मैवैषां रथो भवतिआत्माऽश्वः। आत्माऽऽयुधम्। आत्मेषवः। आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ॥४॥

अनुवाद—और (जो पदार्थ) देवता नहीं हैं उनकी भी (वेदमन्त्रों में) देवता के समान स्तुति की गई है, जैसे अश्व से लेकर ओषधि तक के (शब्दों से सूचित पदार्थ) और आठ जोड़े। उसे देवताओं के (इन) पदार्थों को (सांसारिक पदार्थों के समान) आगन्तुक नश्वर नहीं मानना चाहिए (क्योंकि) यह प्रत्यक्ष रूप से देखने योग्य है। महान् ऐश्वर्यशाली होने के कारण एक ही आत्मा की अनेक रूपों में स्तुति होती है। एक ही आत्मा के अन्य देवता प्रत्यङ्ग होते हैं। इसके अतिरिक्त पदार्थों के कारणों की अनेकता से ऋषि लोग (उनकी) स्तुति करते हैं; ऐसा (आचार्य लोग) कहते हैं। प्रकृति अर्थात् कारणतत्त्व के ही सर्वनाम अर्थात् समस्त नामरूपात्मक जगत् के रूप में होने के कारण (भी सब देवता हैं)। (देवता) एक-दूसरे से जन्म लेने वाले तथा एक-दूसरे की प्रकृति रूप होते हैं। कर्म के लिए उत्पन्न होने वाले (होते हैं)। आत्मा से जन्म लेने वाले होते हैं। आत्मा ही इनका रथ है। आत्मा अश्व है। आत्मा आयुध है। आत्मा बाण है। आत्मा देवता का सब कुछ है ॥४॥

व्याख्या—यह आशंका की जा रही है कि यास्क ने 'देवता' का जो लक्षण ऊपर किया है, वह वेदमन्त्रों में वर्णित सभी पर, यद्यपि पूर्णतया लागू हो जाता है, परन्तु उनमें कुछ ऐसे पदार्थों की भी स्तुति (वर्णन) मिलती है, जिन्हें कोई भी व्यक्ति देवता कहना उचित न समझेगा। उदाहरण के लिए

घण्टु के दैवतकाण्ड के 'अश्व' से लेकर ओषधि तक के २२ तथा (उलूखल सल' आदि) आठ जोड़ों वाले शब्दों को लिया जा सकता है। 'उलूखल' या सल' को किस दृष्टि से देवता कहा जा सकता है। फिर इनकी स्तुति मन्त्रों हुई है। क्यों ?

यास्क ने इस समस्या का समाधान एकात्मवाद के आधार पर किया है। कहते हैं कि किसी को यह न समझना चाहिए कि देवताओं से सम्बद्ध करण आदि वस्तुएँ उसी प्रकार नश्वर और अतएव अनित्य हैं, जिस प्रकार नुष्य के मूसल और हल आदि। मनुष्य से सम्बद्ध पदार्थ तो प्रत्यक्ष रूप में ही श्वर और अनित्य दिखाई पड़ते हैं, किन्तु देवताओं के उपर्युक्त उपकरणों के रे में यह बात सही नहीं है। इसलिए वे नित्य और देवस्वरूप हैं।

वास्तव में परमदेवतत्त्व (आत्मा) एक ही है और अन्य देवता उसी के ङ्ग हैं। किन्तु उसकी महत्ता के कारण उसका वर्णन अनेक रूपों में होता है।' लूखल' और 'मूसल' आदि भी उसके इन्हीं अनेक रूपों में अन्यतम हैं। इसलिए क ही आत्मतत्त्व सबका कारण है और वही समस्त जगत् को विभिन्न स्तुओं के रूप में दृष्टिगत होता है ऐसी स्थिति में 'उलूखल' और 'मूसल' आदि गोपकरणों को उस परमतत्त्व आत्मा से भिन्न नहीं मानना चाहिए।

मनुष्य की वस्तुएँ जब अनित्य हैं तो देवताओं की वे ही वस्तुएँ नित्य कैसे सकती है, इस आशंका का समाधान यास्क मनुष्यों और देवताओं के वाभाविक अन्तर के आधार पर करते हैं—

(i) मनुष्य में जन्य और जनक निश्चित हैं। किन्तु देवताओं में यह निश्चित नहीं है। कोई भी किसी का कार्य और कारण हो सकता है— वरुण प्रातःकाल अग्नि होता है किन्तु सायंकाल मित्र हो जाता है। वे एक-दूसरे उत्पन्न भी होते हैं, जैसे—अदिति से दक्ष पैदा हुआ और दक्ष से अदिति। नुष्यों में ऐसा नहीं होता।

(ii) मनुष्य का जन्म अपनी जाति वाले से ही होता है, जबकि देवताओं का जन्म कर्म के अनुसार होता है। एक ही आदित्य कभी (आधी रात के बाद) अश्विनी कहलाता है, कभी सविता कहलाता है और कभी विष्णु।

(iii) मनुष्य मनुष्य से ही उत्पन्न होते हैं; जबकि देवता उस परमतत्त्व आत्मा से उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार मनुष्यों और देवताओं में स्वभावगत अन्तर है। फलतः मनुष्यों से सम्बद्ध उदाहरणों को देवताओं पर लागू किया जा सकता है। मनुष्यों के उपकरण भले ही अनित्य हों किन्तु देवताओं के उपकरण नित्य हैं। वे वास्तव में उपकरण न होकर आत्मा में ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसलिए उसके देवत्वता पर शंका करना उचित नहीं।

द्वितीयः पादः

निम्न पंक्तियों में देवताओं की संख्या के बारे में बताया गया है—

मूल -'तिस्रः एव देवता' इति नैरुक्ताः—अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वा इन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः।

अनुवाद—'तीन ही देवता है ऐसा नैरुक्त लोग मानते हैं। अग्नि पृथिवी का देवता है, वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्ष का देवता है और सूर्य द्युलोक का देवता है।

व्याख्या—देवता की संख्या विभिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न हो सकती है। यहाँ स्थान को आधार बनाकर उनकी संख्या को निश्चित करने का प्रयास किया गया है। ऋग्वेद में इनकी संख्या तीन ही बताई है। वास्तव में उक्त देवता तत्तत् स्थानों के प्रतिनिधि देवता हैं, यही नैरुक्तों की मान्यता है।

पृथिवी और द्युलोक के तो एक-एक ही देवता बतलाए गए हैं, किन्तु मध्यम लोक अन्तरिक्ष के दो—वायु अथवा इन्द्र। ऐसा क्यों इसका उत्तर यह है कि ये दोनों देवता वास्तव में दो नहीं हैं, एक ही देवता के भिन्न-भिन्न दो रूप हैं, उसकी अलग-अलग अवस्थाओं के नाम हैं। जिसे इन्द्र कहा जाता है, यह वर्षा करने वाली वायु ही है। यह बृहद् वायु का ही एक अंश है किन्तु वेद में इन्द्र का उल्लेख अधिक है, इसलिए वायु के साथ-साथ उसका भी यहाँ उल्लेख कर दिया गया है। किन्तु नैरुक्तों के देवताओं के त्रित्व को देखते हुए वे दोनों एक ही हैं।

माध्यमिक देवता इन्द्र के दो नाम क्यों दिए हैं इसका समाधान यास्क निम्न पंक्तियों में करते हैं

मूल—

तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति । अपि वा, कर्मपृथक्त्वात् । यथा होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः ।

अनुवाद—उन (देवताओं) के अत्यधिक ऐश्वर्यशाली होने के कारण एक-एक के बहुत से नाम होते हैं। अथवा, कर्म की पृथक्ता के कारण (उनके कई नाम होते हैं), जैसे—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता (ये) एक ही व्यक्ति के (भिन्न-भिन्न नाम हैं)।

व्याख्या—यहाँ देवता के अनेक नाम पड़ने के दो कारण बतलाए गए हैं—

(१) देवतत्त्व बहुत ऐश्वर्यशाली होता है, इसलिए उसके कई नाम हो सकते हैं। जैसे लोक में ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के कई-कई नाम हो जाते हैं।

(२) कई नामों का होना कर्म की पृथक्ता के कारण भी सम्भव है। एक व्यक्ति के कई कार्य होते हैं और उनमें से प्रत्येक के आधार पर उसका नामकरण हो सकता है। उदाहरण के लिए—एक ही ऋत्विक् कभी होता का कर्म करने के कारण 'होता' कहलाता है, और कभी—अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता। इसी प्रकार सामान्य संचरणशील वायु के रूप में वह 'वायु' कहलाएगा, किन्तु वर्षा कराने वाली वायु के रूप में इन्द्र।

इसी सन्दर्भ में मीमांसकों के देव बहुत्ववाद पर भी विचार किया जा रहा है—

मूल—अपि वा पृथगेव स्युः—पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। यथो एतत्—'कर्मपृथक्त्वात्' इति, बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः। तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्। यथा, पृथिव्यां मनुष्या, पशवो, देवाः, इति स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च दृश्यते। यथा, पृथिव्या पर्जन्येन च, वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगोऽग्निना चेतरस्य लोकस्य। तत्रैतन्नर-राष्ट्रमिव ॥५॥

अनुवाद—अथवा (नाम के अनुसार देवता) अलग-अलग हो सकते हैं। क्योंकि उसकी स्तुति अलग-अलग होती है और उनके नाम भी वैसे (अलग-अलग) होते हैं। (और) जो यह कहा जाता है कि) 'कर्म की पृथक्ता के कारण' (एक ही व्यक्ति के कई नाम हो सकते हैं, उसका उत्तर यह है कि) बहुत से व्यक्ति भी बाँट कर काम कर सकते हैं। उनमें एक स्थान पर रहने की एकता तथा सम्भोग (उपयोग) की एकता देखनी चाहिए। जिस प्रकार पृथिवी का उपयोग पर्जन्य, वायु और आदित्य के द्वारा तथा अन्य लोक अन्तरिक्ष का उपयोग अग्नि के द्वारा (होता है)। ऐसी स्थिति में यह नर और राष्ट्र के समान है ॥५॥

व्याख्या—मीमांसकों का कहना है कि वेदों में जितने देवताओं के नाम मिलते हैं, उतने ही अलग-अलग देवता हैं। इस प्रकार देवताओं की संख्या पर्याप्त रूप से अधिक है, न कि केवल तीन, जैसा कि नैरुक्त लोग मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनके दो तर्क हैं—(i) सभी देवताओं की स्तुतियाँ अलग-अलग की गई हैं, जिनकी संख्या बहुत अधिक है। यदि देवता तीन ही होते तो इतने अधिक नामों से की गई स्तुतियों की क्या आवश्यकता थी ? (ii) उनके नाम भी बहुत अधिक हैं। इससे भी देवताओं के बहुत्व की सूचना मिलती है। यदि देवता तीन ही होते तो इतने अधिक नाम न होते। इस सम्बन्ध में उन्होंने नैरुक्तों के इस तर्क का भी खण्डन किया है कि कई काम करने के कारण एक ही व्यक्ति के कई नाम हो सकते हैं। उनका कहना है कि बहुत से व्यक्ति भी तो बहुत से कामों का बँटवारा करके उन्हें कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में इससे उनके एकत्व का बोध कैसे हो सकता है ? किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन बहुत से देवता से देवताओं मे कोई एकता नहीं है। इनमें भी एकता है, किन्तु वह एकता एक स्थान पर निवास करने और किसी एक वस्तु का उपयोग करने जैसी एकता है। अर्थात् एक स्थान पर निवास करने वाले तथा एक ही वस्तु का उपयोग करने वाले व्यक्तियों में जिस प्रकार केवल निवास करने और उपयोग को लेकर ही एकता होती है और शेष बातों में वे अलग होते हैं, लगभग वही स्थिति यहाँ पर भी है। अग्नि और जातवेदस् में पार्थिव होने के कारण ऐसी ही एकता है तथा ओषधि के उत्पादन में पर्जन्य वायु और आदित्य

का उपयोग पृथिवी को तथा हविक्स् के देवताओं के पास मिलता है तथा हविक्स् के प्रेषण से पार्थिव अग्नि का सहयोग अन्तरिक्ष लोक को मिलता है—इस दृष्टि से अन्तरिक्ष के पर्जन्य, द्युलोक के आदित्य और भूलोक के अग्नि में एकता है। वास्तव में देवताओं की यह एकता नर और राष्ट्र की एकता के समान है। जिस प्रकार नरों के एकताबद्ध समूह को ही राष्ट्र कहा जाता है और इस रूप में वह एक है किन्तु जब उसका नरों के रूप में विभाजन कर दिया जाता है, तो वही अनेक रूपों वाला हो जाता है। इस प्रकार एक दृष्टि से उसमें एकता है और दूसरी दृष्टि से अनेकता। यही बात देवताओं के बारे में भी सच है।

निम्नलिखित पंक्तियों में, देवताओं के आकार-चिन्तन से सम्बद्ध पक्ष चतुष्टय में से प्रथम को प्रस्तुत किया जा रहा है—

मूल—अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्—चेतनावद्वृद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। अथापि पोरुषविधिकैरङ्गैः सस्तूयन्ते—'ऋष्वा त इन्द्र, स्थविरस्य बाहू (ऋ० ६/४०/८)।' 'यत्संगृभ्णा मघवन्, काशिरित्ते (ऋ० ३/३०/५)।' अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः—'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र, याहि' (ऋ० २/१८/४) 'कल्याणीर्जाया, सुरणं गृहे ते (ऋ० ३/५३/६)।' अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः—'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य (ऋ० १०/११६/७)।' 'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्' (ऋ० १।१०।६) ॥६॥

अनुवाद—अब देवताओं के आकार पर विचार किया जाता है। (इस विचार से सम्बन्द्ध रखने वाले पक्षों में) प्रथम (पक्ष यह है कि देवता) मनुष्यों के समान है। (क्योंकि उनकी) स्तुतियाँ चेतनावान् (प्राणियों) के समान होती है। उनके नाम (भी) उसी प्रकार (मनुष्यों के समान) हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्यों के समान अङ्गों से की गई हैं (जैसे) 'हे इन्द्र, तुझ बूढ़े की भुजाएँ दर्शनीय है।' 'हे इन्द्र, तेरी मुट्ठी (सब लोकों को) इकट्ठा कर लेने वाली है।' इसके अतिरिक्त मनुष्यों के समान पदार्थों के उपयोग से (उनकी की गई है, जैसे—) 'हे इन्द्र, (तुम) दो घोड़ों के द्वारा आ जाओ।' 'तुम्हारे घर में कल्याणी पत्नी

और सुन्दर वस्तुएँ है) ।' इसके अतिरिक्त मनुष्यों के से कर्मों से (उनकी स्तुति की गई है, जैसे—) 'हे इन्द्र इस प्रस्तुत (सोम) को खाओ और पिओ ।' 'हे कानों से सुनने वाले, (मेरी) पुकार को सुन' ॥६॥

व्याख्या—किसी पदार्थ को मनुष्य सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित चीजें चाहिए—(i) मनुष्य जैसी चेतना सम्पन्नता, (ii) मनुष्य जैसे नाम, (iii) मनुष्य जैसे अङ्गों का होना, (vi) मनुष्य के समान विभिन्न पदार्थों का उपयोग करना, (v) मनुष्य के से कर्म करना । देवता में, उक्त बातें, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सिद्ध हैं—इसलिए उसका आकार मनुष्य जैसा है, यह प्रथम पक्ष का आशय है ॥६॥

अगले सन्दर्भ में, उक्त विषय के अन्य तीनों पक्ष प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

मूल—अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्—अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तत् । यथाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति । यथो एतत् चेतना-वद्वत्ति स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते । यथाऽक्षप्रभृतीन्योषधि पर्यन्तानि । यथो एतत् 'पौरुषविधिकैरङ्गैः सस्तूयन्ते' इत्यचेतनेष्वप्येतद् भवति—'अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः' (ऋ० १०/९४/२) इति ग्राव स्तुतिः । यथो एतत् 'पौरुषविधिकद्रव्यसंयोगैः' इत्येतदपि तादृशमेव—'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम् (ऋ० १०/७५/९) इति नदी-स्तुतिः । यथो एतत् 'पौरुषविधिकैः कर्मभिः—'इत्येतदपि तादृशमेव—'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत' (ऋ० १०/९४/२) इति ग्रावस्तुतिरेव । अपि वोभय-विधाः स्युः । अपि वा, पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मानः एते स्युः । यथायज्ञो यजमानस्य । एष चाख्यानसमयः ॥७॥

अनुवाद—(देवताओं का आकार) मनुष्यों जैसा नहीं है, यह दूसरा पक्ष है—(क्योंकि देवताओं के रूप में) जो कुछ दृष्टिगत होता है, वह पुरुष जैसा नहीं है । जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी और चन्द्रमा । (इस सम्बन्ध में) जो यह कहा जाता है कि (देवताओं की स्तुतियाँ) चेतनावानों के समान होती हैं,

इस प्रकार तो अचेतनों की भी स्तुति होती है, जैसे अक्ष से लेकर ओषधि तक के (शब्दों से सूचित देवता)। जो यह कहा जाता है कि (उनकी) पुरुष जैसे अङ्गों से स्तुति होती है, यह बात तो अचेतनों में भी होती है—(पत्थर अपने) हरे मुखों से क्रन्दन कर रहे हैं, इस प्रकार पत्थर की स्तुति है। जो यह कहा है कि पुरुष के समान पदार्थों के उपभोगों से (उनका पुरुषविधत्व सिद्ध होता है) यह,' यह भी वैसा ही है—'सिन्धु ने घोड़ों वाले रथ को सुखपूर्वक जोता' इसमें नदी की स्तुति है। जो यह कहा जाता है कि पुरुष के समान कर्मों से (इनका पुरुषविधत्व सिद्ध है) यह', यह भी वैसा ही है—'होता से पूर्व (शिलाओं ने) भक्षणीय हवि को खा लिया' इसमें भी पत्थर की स्तुति ही है। अथवा (वे) ये दोनों प्रकार (पुरुषविध और अपुरुषविध) के हैं। अथवा पुरुषविध होने वालों के ही ये कर्म रूप हैं, और यह सिद्धान्त पक्ष है ॥७॥

व्याख्या—दूसरे पक्ष की मान्यता है कि देवताओं का आकार मनुष्यों जैसा नहीं है—कुछ और ही प्रकार का है। इस सम्बन्ध में मुख्य तर्क यह है कि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी और चन्द्रमा जैसे जिन देवताओं का हम साक्षात्कार करते हैं, उनमें से किसी का भी आकार मनुष्यों जैसा नहीं है। यदि इनका आकार मनुष्यों जैसा है तो अन्य भी ऐसे ही होंगे, यह निश्चित है। इसके साथ ही पुरुषविधित्व को सिद्ध करने वाले पक्ष के तर्कों को काटा भी गया है, जैसे (i) 'चेतनावान् के समान स्तुति का किया जाना' वाली बात अचेतनों के सम्बन्ध में भी पाई जाती है। क्योंकि वेदों में अक्ष और ओषधि आदि की भी स्तुति की है, जो कि अचेतन हैं। (ii) 'पुरुष के समान अङ्गों से स्तुत होने वाली बात अचेतन पदार्थों के वर्णन में देखी जाती है, जैसे पत्थरों की 'अभिक्र०'। इस स्तुति में उनका मुख से क्रन्दन करना। 'मुख' अचेतन में नहीं अपितु चेतन में होता है, किन्तु उसे यहाँ अचेतन पत्थर में बताया गया है। (iii) 'पुरुष के समान पदार्थों के उपभोग करने की बात भी अचेतनों में दृष्टिगत होती है, जैसे—'सुखं······'शिवनम्' इस नदी की स्तुति में। इसमें नदी को रथ का उपभोग करते हुए बताया गया है। (iv) इसी प्रकार 'पुरुष के समान कर्मों वाला होने' की विशेषता भी अचेतनों में दिखाई पड़ती है, जैसे—'होतु······शत' इस पत्थरों की स्तुति में। इसमें शिलाओं को पत्थर

खाने वाला बताया गया है, जो अचेतनों में प्राय: अप्राप्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन तर्कों के आधार पर देवताओं को पुरुषविध सिद्ध नहीं किया जा सकता।

तीसरे पक्ष की मान्यता है कि देवता उभयविध हैं। इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं – (i) कुछ देवता पुरुषविध हैं और कुछ अपुरुषविध, (ii) देवता वैसे तो अपुरुषविध हैं किन्तु उनका अधिष्ठातृ रूप पुरुषविध है।

चौथे पक्ष का विचार है कि जो अपुरुषविध या अचेतन पदार्थ हैं वे पुरुषविध देवताओं के ही कर्म या प्रयोजन के लिए बने हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि देवता दोनों ही प्रकार के हैं, किन्तु पुरुषविध देवता उपभोक्ता हैं और अपुरुषविध देवता उनके उपभोग्य। जैसे – 'यज्ञ' यजमान के सुख और सुविधा के लिए रचा गया है--वैसे ही—अपुरुष देवता पुरुषविध के लिए हैं।

'एष चाख्यानसमय:' में 'आख्यान का अर्थ 'उत्तर' किया गया है। इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ होगा

'यह उत्तर पक्ष का सिद्धान्त है। अतएव यास्क का अभिप्रेत है ।।७।।

तृतीय : पाद:

अगली पंक्तियों में, देवताओं के 'भक्ति-साहचर्य' के क्रम में, अग्नि के 'भक्ति साहचर्य' को बताया जा रहा है—

मूल--तिस्र: एव देवता: इत्युक्तं पुरस्तात्। तासां भक्ति-साहचर्यं व्याख्यास्याम:। अथैतान्यग्निभक्तिनि—अथं लोक:, प्रात: सवनम्, वसन्त:, गायत्री, त्रिवृत्स्तोम:, रथन्तरं साम, ये च देवगणा: समाम्नाता: प्रथमे स्थाने, अग्नायी, पृथिवीळेति स्त्रिय:। अथास्य कर्म—वहनं च हविषाम्, आवाहनं च देवतानाम्, यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयकम्, अग्निकर्मैव तत्। अथास्य संस्तनिका: देवा:—इन्द्र:, सोम, वरुण: पर्जन्य:, ऋतव:, आग्नावैष्णवं च हविर्:। न त्वृक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते। अथाप्याग्षौष्णं हविर्, न तु संस्तव:। तत्रैतां विभक्तस्तुतिमृचमुदाहरन्ति ।।८।।

अनुवाद—'देवता तीन ही हैं' यह पहले कह चुके हैं। (अब) उनके भक्ति-साहचर्य की व्याख्या करेंगे। (उनमें से) अग्नि की भक्ति वाले ये हैं—यह (भू) लोक, प्रातःकालीन सवन (नामक कर्म), वसन्त ऋतु, 'त्रिवृत्' नामक स्तोम 'रथन्तर' नामक साम प्रथम स्थान अर्थात् पृथिवी पर जो देवता कहे गए हैं वे, अग्नायी, पृथिवी और इष्ठा ये स्त्रियाँ। और इसका कर्म—हवि को (देवताओं के पास) पहुँचाना, देवताओं को बुलाना और दृष्टि से सम्बद्ध जो कुछ भी है. वह सब अग्नि का ही कर्म है। और इसके साथ स्तुत देवता (ये हैं)—इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतुएँ, इसके अतिरिक्त अग्नि और विष्णु दोनों की (एक) हवि (का विधान तो पाया जाता है) किन्तु दशमण्डलों वाले ऋग्वेद में इसकी (विष्णु के) साथ स्तुति करने वाली कोई ऋचा नहीं है, इसके अतिरिक्त, अग्नि और पूषन्—दोनों की (एक) हवि (का विधान तो है), किन्तु दोनों की साथ-साथ स्तुति नहीं है। उनमें से, बँटी हुई स्तुति वाली इस ऋचा को (विद्वान् लोग) उदाहृत किया करते हैं ॥८॥

व्याख्या—'भक्तिसाहचर्यम्' के 'भक्ति' शब्द √भज्+ति (क्तिन्) के योग से निष्पन्न शब्द है। 'ति' प्रत्यय भाव और कर्म दोनों अर्थों में सम्भव है। इसके आधार पर इस शब्द की दो व्याख्याएँ हो सकती हैं—(i) भजनं सेवनं 'भक्तिः' अर्थात् अग्नि आदि के द्वारा लोक आदि का 'भजन' ही भक्ति है। (ii) भज्यते सेव्यते इति भक्तिः अर्थात् जिसका भजन या सेवन किया जाए, वह भक्ति है। कुछ लोगों ने 'भजते इति भक्ति' इस अर्थ के अनुसार कर्त्ता में भी 'भक्ति' शब्द को निष्पन्न माना है और अर्थ किया है - उपभोग करने वाला।

इसके दूसरे घटक 'साहचर्यम्' का अर्थ—सहचरता—साथ-साथ रहना—सहचरस्य भावः साहचर्यम्। अब इन दोनों के समास से बने 'भक्ति' शब्द का अर्थ होगा—भक्ति और साहचर्य दोनों (भक्तिश्च सहचर्यञ्च भक्ति-साहचर्यम्) अथवा भक्ति के द्वारा (या कारण) होने वाला साहचरभाव—भक्त्या कृतं साहचर्यं भक्तिसाहचर्यम्, और इसका सरलार्थ होगा—वे पदार्थ या वस्तुएँ जो देवताओं के उपयोग में आती हैं तथा सदैव उनके साहचर्य में रहती हैं।

ऊपर की पंक्तियों में ऐसी वस्तुओं और पदार्थों का वर्णन किया गया है, जिनका अग्नि के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध है—इसलिए ये सब 'अग्नि-भक्ति' हैं।

'दार्ष्टिविषयकम्' का अर्थ है—दृष्टि से सम्बद्ध, प्रकाश का प्रदान करना आदि।

'संस्तविका:'—का अर्थ है—ऐसे देवता, जिनकी स्तुति किसी एक ही मन्त्र में साथ-साथ की गई हो – समं सहैव स्तवः येषान्ते। **दशतयीषु**—इसका तात्पर्य दस मण्डलों वाले ऋग्वेद से है—दशअवयवा यासां तासु—दश + तयप् + ङीप्। दुर्ग ने इसका अर्थ ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में किया है— 'दशमण्डलावयवप्रविभागेन तावत इति दशतयः ऋग्वेदः तस्य शाखा दश तस्याः तासु।

आग्नावैष्णवम्—'अग्नि' और विष्णु इन दोनों देवताओं से सम्बद्ध—अग्निश्च विष्णुश्च अग्निविष्णू—नो देवता अस्येति आग्नावैष्णवम्। आग्नापौष्णम्—अग्नि और पूषन् दोनों से सम्बद्ध।

विभक्तस्तुतिम्—यह 'ऋचम्' का विशेषण है और इसका अर्थ है—ऐसी 'ऋचा' जो स्तुति की दृष्टि से बटी हुई हो अर्थात् जिसके एक अंश में एक देवता की और दूसरे में दूसरे की स्तुति की हो—'विभक्ता स्तुतिर्यस्यास्ताम्।।८।।

अगले सन्दर्भ में उपरिसंकेतित ऋचा को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की गई है—

मूल—

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः।।
(ऋ० १०/१७३)

पूषा त्वेतः प्रच्यावयतु। विद्वान्, अनष्टपशुः, भुवनस्य गोपाः इत्येष हि सर्वेषा भूतानां गोपायिता आदित्यः। 'स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्यः' इति सांशयिकस्तृतीयः पादः। पूषा पुरस्तात्तस्यान्वादेशः इत्येकम्। अग्निरुपरिष्टात्तस्य प्रकीर्तनेत्यपरम्। अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः सुविदत्रं धनं भवति। विन्दतेर्वैकोपसर्गात्। ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्।।९।।

अनुवाद—उत्कट विद्वान्, संसार का रक्षक तथा जिसके पशु नष्ट न हुए हों—ऐसा पूषन् तुम्हें यहाँ से (इस संसार से) गिरा दे। वह तुम्हें इन पितरों को दे दें तथा अग्नि तुम्हें उदार (दाता) देवताओं को सौंप दे।

विद्वान्, जिसके पशु कभी नष्ट नहीं होते, तथा भुवन अर्थात् सभी भौतिक दार्थों का रक्षक पूषन् तुम्हें यहाँ से हटावे। 'वह तुम्हें इन पितरों को दे देवें ह तीसरा चरण सन्दिग्ध है। एक मत है कि (जो) 'पूषा' शब्द पहले आ का है, (उसी का) अन्वादेश या अनुकथन (इस तृतीय चरण का 'सः' सर्वनाम रता है)। दूसरा मत यह है कि जो 'अग्नि' शब्द बाद में (चतुर्थ चरण में) (उसी की 'सः' के द्वारा) प्रकीर्तना या पूर्वकथन किया जा रहा है। अग्नि च्छा धन (देने) वाले देवताओं को। 'सुविदत्र' शब्द का अर्थ धन होता है सकी निष्पत्ति) या तो एक उपसर्गपूर्वक √ विन्द् धातु से अथवा दो उपसर्ग र्वक √ दा धातु से होती है ॥९॥

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्द्ध का सम्बन्ध 'पूषा' से चतुर्थ चरण का बन्ध 'अग्नि' से है, यह निश्चित है। किन्तु इसके तीसरे चरण का सम्बन्ध षा' और 'अग्नि' में से किसके साथ है, इस सम्बन्ध में सन्देह है। इसका बन्ध दोनों से हो सकता है। यदि अन्वादेश मानें तो तीसरे चरण के र्वनाम 'सः' के द्वारा प्रथम चरण के 'पूषा' का परामर्श होता है ('अन्वादेश' अर्थ है पूर्ववर्ती विशेष्य की पश्चाद्वर्ती विशेषण या सर्वनाम के द्वारा थना या अनुकथन) और 'प्रकीर्तना' या पूर्वकथन मानें तो उक्त 'सः' से तुर्थचरणवर्ती 'अग्निः' का परामर्श होता है ('प्रकीर्तना' का अर्थ है पूर्ववृर्ती द (सर्वनाम) द्वारा पश्चाद्वर्ती विशेष्य की सूचना)। इस प्रकार 'सः' का बन्ध दोनों से हो सकता है और इसीलिए तृतीय चरण सन्दिग्ध है, यह प्राय है।

यदि 'सः' का सम्बन्ध 'पूषा' से माना जाता है तो मन्त्र के प्रथम तीन णों में पूषन् की स्तुति मानी जाएगी और यदि वह 'अग्नि' से सम्बद्ध है, अन्तिम दो चरणों में 'अग्नि' की स्तुति मानी जाएगी। जो भी हो, यह ा क्षेत्र की दृष्टि से पूषन् और अग्नि की स्तुतियों में बँटी हुई है, इसलिए 'विभक्तस्तुति' ऋचा है।

निर्वचन—

सुविदत्र—यास्क ने इसका अर्थ धन माना है तथा उनके संकेत के अनु- इसके दो निर्वचन इस प्रकार होंगे—

(i) सु + √विन्द् (विद्लृ लाभे) + त्र > सु + विद् + त्र > सु + विद् + त्र > सु विदत्र ; (ii) सु + वि + √दा + त्र > सु + वि + दद् + त्र > सुविदत्र।

पहले निर्वचन में केवल एक उपसर्ग 'स' है, जबकि दूसरे 'सु' और 'वि' दो उपसर्ग हैं। 'सुविदत्रमर्हति' इस अर्थ में 'इय' (छ) प्रत्यय करने पर 'सुविदत्र' से 'सुविदत्रिय' शब्द बनेगा।

अगले सन्दर्भ में 'इन्द्र' के 'भक्तिसाहचर्य' को प्रस्तुत किया जा रहा है—

मूल—अथैतानीन्द्रभक्तीनि—अन्तरिक्षलोकः, माध्यन्दिनं सवनम्, ग्रीष्मः, त्रिष्टुप, पञ्चदशस्तोमः बृहत्साम, ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने, याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म रसानुप्रदानम्, वृत्रवधः, या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्।

अथास्य संस्तविकाः देवाः—अग्निः, सोमः, वरुणः, पूषा, बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः, पर्वतः, कुत्सः, विष्णुः, वायुः। अथापि मित्रः वरुणेन संस्तूयते, पूष्णा रुद्रेण च सोमः, अग्निना च पूषा, वातेन पर्जन्यः ॥१०॥

अनुवाद—और इन्द्र के उपयोगी (पदार्थ ये हैं)—अन्तरिक्ष लोक, दोपहर को किया जाने वाला सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पन्द्रहवां स्तोम, 'बृहत्' नामक साम और मध्यम स्थान (अन्तरिक्ष) में जो देवगण तथा स्त्रियाँ बतलाई गई हैं, (वे)। और इसका कर्म (है)—रस (जल) को देना, वृत्र का वध तथा जो कोई भी बल से सम्बद्ध कार्य है वह सब इन्द्र का ही कर्म है।

और इसके साथ स्तुत होने वाले देवता (ये हैं)—अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु। इसके अतिरिक्त मित्र की स्तुति वरुण के साथ, सोम की स्तुति पूषन् और रुद्र के साथ, पूषा की स्तुति अग्नि के साथ और पर्जन्य की स्तुति वात के साथ की जाती है।

व्याख्या—'देवगण' से तात्पर्य निघण्टु में वर्णित 'मरुत्, रुद्र, ऋभु, अङ्गिरस्, पितृगण, अथर्वन, भृगु और आप्त्य संज्ञक देवगणों से है, जो इन्द्र के साथ माने जाते हैं।

चा च……तत्—का तात्पर्य यह है कि समस्त वैदिक साहित्य में इन्द्र को वीर्यवान् और पराक्रमी माना गया है। संसार के बल के मूल में भी वही विद्यमान माना गया है। इसीलिए यहाँ बल से सम्बन्ध रखने वाले समस्त कार्यों को इन्द्र का कर्म कहा गया है ॥१०॥

अब 'आदित्य' के भक्तिसाहचर्य का प्रतिपादन किया जा रहा है—

मूल—अथैतान्यादित्यभक्तीनि—असौ लोकः, तृतीयसवनम्, वर्षाः, जगती, सप्तदशस्तोमः, वैरूपं साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः उत्तमे स्थाने याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्मरसादानम्, रश्मिश्च रसधारणम्, यच्च किञ्चित् प्रवह्लितम्—आदित्यकर्मैव तत्। चन्द्रमसा, वायुना, संवत्सरेणेति संस्तवः।

अनुवाद—और आदित्य के उपयोगी (पदार्थ ये हैं)—वह (द्यु) लोक, तीसरा अर्थात् सायंकालीन सवन, वर्षा ऋतु, जगती छन्द, सत्रहवां स्तोम, वैरूप नामक साम और उत्तम स्थान (द्युलोक) में जो देवगण और स्त्रियाँ बताई गई हैं (वे सब)। और इसका (कर्म) है—रस का आदान (पृथिवी से जल का ग्रहण), अपनी रश्मियों से जल का धारण तथा प्रकाश रूप या उससे सम्बद्ध है; वह सब आदित्य का ही कर्म है।

चन्द्रमस् वायु और संवत्सर के साथ इसकी स्तुति की गई है।

व्याख्या—सूर्य प्रकाश का देवता है, इसलिए प्रस्तुत में 'प्रवह्लितम्' का अर्थ प्रकाशित करना ही लेना चाहिए, जैसा कि पं० शिवनारायण शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'निरुक्त' (पृ० २१७, १८) पर किया है। वैसे, इसके कई अर्थ किए गए हैं। शेष स्पष्ट है।

नीचे की पंक्तियों में 'भक्तिशेष' को प्रस्तुत किया गया है—

मूल—एतेष्वेव स्थानव्यूहेष्वृतुः छन्दः स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत—शरद्, अनुष्टुप्, एकविंशस्तोमः, वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि। हेमन्तः पङ्क्तिः, त्रिणवस्तोमः, शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायत-

नानि। शिशिरः आच्छान्दास्, त्रयस्त्रिंशस्तोमः, रैवतं सामेति द्युभक्तीनि ॥११॥

अनुवाद—(पृथिव्यादि) स्थानों के इस विस्तार में, ऋतुओं, छन्दों, स्तोमों और साम में से अवशिष्ट उपयोगी सामग्री की कल्पना कर लेनी चाहिए। (जैसे—) शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, इक्कीसवां स्तोम और वैराज नामक साम—ये पृथिवी स्थान वाले हैं (अर्थात् इनका सम्बन्ध अग्नि से है)। हेमन्त ऋतु, पंक्ति छन्द, सत्ताईसवां स्तोम और शाक्वर नामक साम—ये अन्तरिक्ष रूप आयतन वाले हैं (अर्थात् ये इन्द्र के उपयोग में आने वाले पदार्थ हैं)। शिविर ऋतु, अतिछन्दस् नामक छन्द, तेंतीसवां स्तोम और रैवत नामक साम—ये द्युलोक के उपयोग में आने वाले हैं ॥११॥

व्याख्या—उपर्युक्त 'भक्ति साहचर्य' में लोकों तथा सवनों का विभाजन पूर्ण हो गया था, किन्तु ऋतुओं, छन्दों, स्तोमों और सामों में से कतिपय विभाजन के पश्चात् भी अवशिष्ट रह गये थे। उन्हीं का विभाजन यहाँ किया गया है। इसे गौण या अवशिष्ट विभाजन कहना चाहिए। प्रस्तुत अवतरण में प्रयुक्त 'भक्तिशेषम्' शब्द का भी यही तात्पर्य है—भक्तेः उपयोगिपदार्थस्य शेषः।

यह विभाजन देवताओं के नाम से न होकर लोकों के नाम से किया गया है, यहाँ लोक से तात्पर्य उसमें निवास करने वाले देवताओं से है।

पृष्ठ—शब्द का अर्थ साम है। इस सम्बन्ध में तै० ब्रा० का निम्न वाक्य प्रमाण है—'एतानि खलु वै सामानि, यत् पृष्ठानि।'

निम्न अवतरण में 'मन्त्र' शब्द और मन्त्र के भेदों का निर्वचन किया गया है—

मूल—मन्त्रा मननात्। छन्दांसि छादनात्। यजुर्यजतेः सामसम्मितमृचा अस्यतेर्वा, ऋचा सम मेने—इति नैदानाः।

अनुवाद—मन्त्र मनन करने के कारण (कहलाते हैं)। छन्दस आच्छादन करने के कारण (कहलाते हैं)। 'यजुष्' शब्द √यज धातु से (निष्पन्न है) 'सामन्' शब्द ऋचा के समान नपा है, अथवा √अस् धातु से बना है, (अथवा ऋचा के समान माना' ऐसा नैदान लोग मानते हैं।

व्याख्या—वैदिक सूक्तों के अंश रूप वाक्यों को 'मन्त्र' कहा जाता है। ये मनन चिन्तन से परिपूर्ण होने के कारण मन्त्र कहलाए 'मनन' शब्द सूचित करता है कि इसका निर्वचन √मन् + त्र = मन्त्र होगा।

वैदिक मन्त्रों के शैली की दृष्टि से दो मन्त्र हैं—पद्य और गद्य। 'गद्य' को यजुष कहते हैं और पद्य को 'छन्दस्'। इसके कई भेद हैं, जिनमें से कुछ को बाद में बताया जायेगा।

'छन्दस्' के मूल में आच्छादन की भावना है। ये समस्त भावों और विचारों को आच्छादित किये रहते हैं—इसलिए 'छन्दस्' कहलाते हैं। निर्वचन होगा—√छन्द् + अस् (असुन्) > छन्दस्।

'यजुष्' गद्यात्मक मन्त्रों को कहते हैं, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। इसकी निष्पत्ति यास्क ने √यज् से मानी है, अर्थात् जिससे यजन किया जाए, उसे 'यजुष्' कहते हैं—इत्यतेऽनेनेति यजुः। निर्वचन होगा √यज् + उस् > यजुष्। **सामन**—सामवेद के मन्त्र 'सामन्' के नाम से अभिहित होते हैं। ये, अधिकांशतः ऋग्वेद की ऋचाएँ हैं, जिन पर साम स्वरों का आरोप कर उन्हें 'सामन्' के रूप में परिवर्तित किया गया है। यास्क ने इसके तीन निर्वचन किए हैं—(i) जो ऋचा के समान मित हो—वह 'सामन्' है। स्पष्ट है—इसका शब्द निर्वचन इस प्रकार होगा—सम् + √मा + अन् > सा + म् + अन् > सामन्। (ii) क्योंकि ऋचाओं पर साम स्वर फेंके गए—इसलिए वे 'सामन्' कहलाते हैं। स्पष्टतः इसका संकेत √अस् धातु से निष्पत्ति की ओर है। निर्वचन यों हो सकता है—√अस् + मन् > स + मन् > सामन्। (iii) इसमें बताया गया है कि—'ऋचा के समान माना गया। इसलिए 'सामन्' कहलाया। इससे निम्न निर्वचन का संकेत मिलता है—

सम + √मन् > साम + मन् > सामन्। यह नैदानों का निर्वचन बताया गया है।

निम्न अवतरण में कतिपय विशिष्ट छन्दों का निर्वचन किया गया है—

मूल—गायत्री—गायतेः स्तुतिकर्मणः। त्रिगमना वा स्याद्

विपरीता, गायतो मुखादुदपतद् । इति च ब्राह्मणम् । उष्णिक्–उत्स्नाता भवति, स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः, उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम् । उष्णीषं स्नायतेः । ककुप्—ककुभिनी भवति । ककुप् च कुब्जश्च—कुजतेर्वा, कुब्जतेर्वा । अनुष्टुप्—अनुष्टोभनात् । गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति, इति च ब्राह्मणम् । बृहती परिबर्हणात् । पङ्क्तिः पञ्चपदा । त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा । का तु त्रिता स्यात् ? तीर्णतमं छन्दः । त्रिवृद् वज्रः, तस्य स्तोभनीति वा, 'यत्त्रिरस्तोभत्, तत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते ।।१२।।

अनुवाद–'गायत्री शब्द स्तुत्यर्थक √गै धातु से (निष्पन्न है), अथवा 'त्रिगमन' शब्द उल्टा होकर 'गायत्री' हो गया, 'गाते हुए (व्यक्ति के) मुख से गिर पड़ी' ऐसा भी (किसी ब्राह्मण का वाक्य है) । उष्णिक्—ऊपर से लिपटी हुई है, अथवा कान्ति—अर्थ वाली √स्निह् धातु से निष्पन्न है, अथवा (वह) पगड़ी वाली है, यह उपमामूलक है । 'उष्णीष' शब्द √स्नै धातु से है । ककुप् —कूबड़ वाली है । 'ककुप्' और 'कुब्ज' (ये दोनों शब्द) √कुज् अथवा √उज् धातु से हैं । अनुष्टुप्—पीछे से सहारा देने के कारण (है) । तीन पदों वाली गायत्री को चतुर्थ पाद से सहारा देता है यह भी (किसी) ब्राह्मण (का वाक्य है) । 'बृहती' चारों ओर बढ़ी होने के कारण (है) । पंक्ति—पाँच पैरों वाली है । त्रिष्टुप् का उत्तर पद √स्तुभ् से निष्पन्न है । किन्तु (इसमें) 'त्रि' का क्या अर्थ है ? अत्यन्त प्रचलित छन्द है अथवा 'त्रिवृद्' वज्र को कहते हैं । यह उसकी स्तुति करता है । जो उसने तीन बार स्तुति की, वह त्रिष्टुप् का त्रिष्टुप्त्व है, (किसी ब्राह्मण से) जाना जाता है ।।१२।।

व्याख्या—इसमें सात छन्दों के निर्वचन किया गए हैं । जैसे—

गायत्री—यास्क ने इसके तीन निर्वचन किए हैं, प्रथम दो अपने और तीसरा 'ब्राह्मण' के अनुसार—(i) इससे देवताओं की स्तुती की जाती है इसलिए 'गायत्री' है—गीयन्ते देवा अनयेति गायत्री । इस अर्थ के अनुसार इसका निर्वचन होगा √गै (स्तुति) + त्र + ई (ङीप्) > गाय् + त्री > गायत्री ।

ii) 'गायत्री' के तीन चरण हैं, वह उनसे गमन करती है, इसलिए 'त्रिगमना' । यही 'त्रिगमना' ध्वनि-विपर्यय से 'गायत्री' हो गया—त्रिगमना > त्रिगा > त्रि > गायत्रि > गायत्री √गम् । त्रि > गमत्रि > गामत्रि > गायत्रि > गायत्री। iii) किसी 'ब्राह्मण' का कथन है कि वह गाते हुए के मुख से गिर पड़ी है—सलिए 'गायत्री' कहलाई । इसका स्पष्टत: संकेत- —√गै (गानार्थक) + त्र + > गाय + त्री > गायत्री की ओर है ।

उष्णिह्—यह गायत्री के ही समान तीन चरणों का छन्द है । किन्तु इसके न्तिम चरण में १२ अक्षर होते हैं । इसी अभिप्राय को लेकर इसके तीन र्वचन किये गए हैं—(i) क्योंकि इसके प्रत्येक चरण में एक-एक-अक्षर और ड़ा हुआ है, इसलिए यह ऊपर से लपेटी हुई (उत् + स्नाता) प्रतीत है, इसीलिए ह 'उष्णिह्' है । यह व्याख्या निम्न निर्वचन को संकेतित करती है—'उत् + √स्नै (लपेटना) + ह् > उत् : स्नि + ह् > उष्णिह् । (ii) यह लोगों के रा बहुत चाहा जाता है, इसलिए 'उष्णिह्' है—इसका संकेत 'उत् + √स्निह् (इच्छा) + ० > उ + स्निह् > उष्णिह् (iii) यह पगड़ी वाली-सी है—ष्णीषिणी' के समान है, इसलिए 'उष्णिह्' कहलाती है । यह तुलना के आधार पर बना हुआ शब्द है । विकास इस प्रकार हो सकता है—उष्णीषिणी > ष्णीष् > उष्णिष > उष्णिह् । 'उष्णीषिणी' का मुख्य घट 'उष्णीष' लपेटना र्थ वाली √स्नै धातु से बना शब्द है ।

ककुभ्—इसके तीन चरणों में से दूसरा चरण १२ अक्षरों का है, शेष दोनों आठ-आठ अक्षरों के, अत: इसके बीच में कूबड़ सा निकला हुआ है, यह कूबड़ वाली है—ककुभिनी भवति । इसके अनुसार इसका विकास 'ककुभिनी' से आ है— ककुभिनी > ककुभ् । स्वयं 'ककुभ्०' (कूबड़) और 'कुब्ज' (कुबड़ा) ब्द या तो √कुज् (कौटिल्यार्थक) या √ उब्ज् (न्यग्भावे) से है । जैसे—) (क) √कुज् + भ् > कुज् कुज् + भ् > कुकुज् + भ् > ककुभ्, (ख) √कुज् भ् > कुभ्ज् > कुब्ज । (ii) (क) √उब्ज् > जउब् > कउब् > ककुभ्, ख) √उब्ज् > कुब्ज ।

अनुष्टुभ—यह आठ-आठ अक्षरों के चार चरणों का छन्द है । इस प्रकार समें 'गायत्री' से एक चरण (चतुर्थ) अधिक है । यास्क की दृष्टि में यह अपने

इस चतुर्थ से तीन पदों वाली गायत्री को पीछे (अनु) से सहारा देता है—इसलिए 'अनुष्टुभ्' है—अनु स्तोभतीति 'अनुष्टुभ्'। स्पष्टतः इसकी व्युत्पत्ति अनु + √स्तुभ् + ० > अनुष्टुभ् है।

बृहती—यह १२, १२ अक्षरों वाले चार चरणों का छन्द है। अतः इसमें ३६ अक्षर होते हैं और इस दृष्टि से 'अनुष्टुभ्' से बृहत् होता है। अपनी इसी बृहता के कारण यह 'बृहती' कहलाता है—बृहती परिबर्हणात्। निर्वचन इस प्रकार होगा—√बृह् + अत् + ई > बृहती।

पङ्क्ति—यह आठ-आठ अक्षरों के पाँच चरणों का 'पञ्चपदा' छन्द है। इस 'पञ्चपदा' का 'पञ्चत्व' इसके नामकरण का आधार है। निर्वचन यह होगा—पञ्च + ति > पङ्क + ति > पङ्क्ति।

त्रिष्टुप्—इसके दो निर्वचन हैं—(i) प्रथम निर्वचन में इसके दो भाग किए गए हैं—'त्रि' और 'स्तुभ्' 'त्रि' का अर्थ 'तीर्ण' या व्यापक किया है (क्योंकि यह ऋग्वेद का सबसे व्यापक और प्रचलित छन्द है) और 'स्तुभ्' से तात्पर्य है 'स्तुभ्' उत्तर पद वाला। निष्कर्ष यह कि जो छन्द अत्यन्त तीर्ण या व्यापक होने के साथ-साथ 'स्तुभ्' इस उत्तरपद से युक्त हो—उसे 'त्रिष्टुभ्' कहते हैं। शब्द-विकास इस प्रकार है—तीर्ण √स्तुभ् > तिर् + स्तुभ् > त्रि + स्तुभ् > त्रिष्टुभ्। (ii) दूसरे निर्वचन में बताया गया है कि वेदों में 'त्रिवृद' वज्र के लिए आया है। इन्द्र भी वज्रधारी होने के कारण 'त्रिवृद' कहलाता है। इस छन्द में, क्योंकि उस 'त्रिवृद' (इन्द्र) की स्तुति हुई है—इसलिए इसे 'त्रिष्टुभ्' कहते हैं। निर्वचन होगा—'त्रिवृत् + √स्तुभ् (स्तुति) > त्रि स्तुभ् > त्रिष्टुभ्।

निर्वचन में ब्राह्मणवाक्य को भी एक अन्य निर्वचन 'ब्राह्मण' के अनुसार भी किया गया है—क्योंकि इसके द्वारा तीन वार (त्रिः) स्तुति (स्तुभ्) की गई—इसलिए यह 'त्रिष्टुभ्' है। इसके अनुसार यह 'त्रिः + √स्तुभ् > त्रिस्तुभ् > त्रिष्टुभ्' के रूप में विकसित हुआ है।

निम्न पंक्तियों में कुछ अन्य छन्दों का निर्वचन किया गया है—

मूल—जगती—गततम छन्दः, जलचरगतिर्वा, 'जल्गल्यमानोऽसृजत्' इति च ब्राह्मणम् । विराट् विराजनाद् वा, विराधनाद् वा, विप्रापणाद् वा । विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा, विराधानादूनाक्षरा, विप्रापणादधिकाक्षरा । पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम्, पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः ।

अनुवाद—'जगती' बहुत अधिक गया हुआ छन्द है, अथवा जलचर की-सी गति वाला है, विधाता ने 'अत्यन्त प्रशंसित होते हुए (इसकी) रचना की' ऐसा ब्राह्मण वाक्य भी है । विराज्—या तो विशिष्ट शोभा के कारण; या विशिष्ट हीनता के कारण, या विशिष्ट वृद्धि के कारण; (निष्पन्न होता है) । विशिष्ट शोभा के कारण सम्पूर्ण (३३) अक्षरों वाली, विशिष्टहीनता के कारण न्यून, (३०) अक्षरों वाली, विशिष्ट वृद्धि के कारण अधिक, (४०) अक्षरों वाली ('विराज्' सिद्ध होती है) । 'पिपीलिकामध्या' यह सादृश्याधारित (नाम है) ।' 'पिपीलिका' शब्द गत्यर्थक √पेल् धातु से निष्पन्न होता है ।

व्याख्या—इसमें जगती, विराज् पिपीलिकामध्या के निर्वचन किए गए हैं । जैसे—

जगती—(i) यास्क के शब्दों में यह 'गततम छन्द' । (सभी छन्दों में आगे गया हुआ (बड़ा) छन्द है—क्योंकि इसमें ४८ अक्षर पाए जाते हैं । इस संकेत से इसका निर्वचन भी होना चाहिए—'गत + गत + ई (ङीप्) > गगत + ई > जगत + ई > जगती । (ii) इसकी गति जल में चलने वाली लहर के समान है, इसलिए यह 'जगती' है—जलचरस्य गतिरिव गतिर्यस्याः सा जलचर गतिः । इसका विकास यों होगा—जलचरगति > जगति > जगती । (iii) तीसरे निर्वचन का संकेत 'जल्गल्यमानोऽसृजत्' इति ब्राह्मण वाक्य के द्वारा किया है । वैसे अधिकांश विद्वानों में, 'जल्गल्यमानः' की निष्पत्ति और अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद है, फिर भी इसे स्तुत्यर्थक √गृ धातु का यङन्त रूप मानने में सरलता और स्पष्टता है और इसका अर्थ है—खूब 'प्रशंसित अथवा स्तुत न होते हुए ......' । इस धातुगत संकेत के आधार पर इसका निर्वचन यों हो सकता है—√गृ + गृ + ० (क्विप्) + ई > ग + ग + त् + ई > जगत् + ई > जगती ।

विराज्—इस छन्द के तीन रूप हैं—३० अक्षरों वाला, ३३ अक्षरों वाला और ४० अक्षरों वाला। इनमें ३३ अक्षरों वाला विराज् अपने स्वाभाविक रूप में होने के कारण पूर्ण अक्षरों वाला तथा शोभा प्राप्त करने वाला है, ३० अक्षरों वाला पूर्व की तुलना में न्यून अक्षरों वाला है तथा ४० अक्षरों वाला ३३ वाले की तुलना में अधिक अक्षरों वाला है। इसकी इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए इसके तीन निर्वचन किए गए हैं—

(i) ३३ अक्षरों वाले के लिए—वि + √राज् (शोभार्थक) + ० (क्विप्) > विराज्।

(ii) ३० अक्षरों वाले के लिए—वि + √राध् + ० (क्विप्) > विराध् > विराज्।

(iii) ४० अक्षरों वाले के लिए—वि + प्र + √आप् (आप्लृ-प्राप्त्यर्थक) + ० (क्विप्) > वि + र् + आप् > विराप् > विराज्।

पिपीलिकामध्या—यह सादृश्यमूलक शब्द है क्योंकि इसका अर्थ है—पिपीलिका के मध्य भाग के समान मध्यभाग वाली पिपीलिका मध्यमिव मध्यं यस्याः सा। पिपीलिका (चींटी) का मध्यभाग (कमर) बहुत पतला होता है, उसी के समान इस छन्द का दूसरा चरण केवल छह अक्षरों का होने के कारण बहुत सूक्ष्म होता है। इसीलिए इसका यह नाम अन्वर्थ है।

स्वयं 'पिपीलिका' शब्द गत्यर्थक √पल् धातु से निष्पन्न होता है—√पेल्-पेल् + इक + आ (टाप्) > पिपिल् + इका > पिपिल + इ का > पिपील् + इका > पिपीलिका। क्योंकि चींटी सदैव चलती रहती है ॥१२॥

अब स्तुति की दृष्टि से देवताओं का पुनः विभाजन किया जा रहा है—

मूल—इतीमाः देवताः अनुक्रान्ताः—सूक्तभाजः, हविर्भाजः, ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः, काश्चिन्निपातभाजः।

अनुवाद—इस प्रकार (अब तक) इन (मुख्य तथा भक्तिरूप) देवताओं का उल्लेख हो चुका—(जिनमें से कुछ) सूक्त वाले हैं, (कुछ) हवि वाले हैं, और अधिकतर ऋचाओं वाले हैं तथा कुछ गौणरूप से वर्णित (देवता) हैं।

व्याख्या—यहाँ उन देवतावाचक शब्दों के बारे में बताया गया है, जिनका संकलन 'निघण्टु' में किया गया है। ये देवता चार प्रकार के हैं—

(१) सूक्तभाक्—ये वे देवता हैं, जिनकी स्तुति पूरे के पूरे—एक, दो या अनेक सूक्तों में की गई है—सूक्तं भजते इति सूक्तभाक्।

(२) हविर्भाक—ये वे देवता है, जिनके लिए कोई सूक्त तो सम्बोधित नहीं है किन्तु जिनके नाम से 'हवि' देने का विधान है, जो केवल 'हवि' के अधिकारी हैं—हविर्भजत इति हविर्भाक्। ऐसे देवताओं के सम्बन्ध में यास्क ने निरुक्त के १०/४३ में चर्चा की है।

(३) ऋग्भाक्—इन देवताओं का उल्लेख पूरे सूक्त में नहीं, अपितु एक या अनेक ऋचाओं (मन्त्रों) में हुआ है (ऋच भजत इति 'ऋग्भाक्')। ये मन्त्र एक ही सूक्त के भी हो सकते हैं और अलग-अलग कई सूक्तों के भी। ऐसे देवताओं की संख्या अन्य देवताओं की अपेक्षा बहुत अधिक है।

(४) निपातभाक्— ऊपर बताए सभी देवता मुख्य देवता हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ देवता हैं, जिन्हें, गौण या नैघण्टुक देवता कहा जाता है। इन्हें ही यहाँ 'निपातभाक्' कहा गया है। ये वे देवता हैं, जिनका उल्लेख किसी मन्त्र या सूक्त में 'उपमानादि के रूप में' अनुषङ्गतः या प्रसङ्गवश हो जाता है, जैसे 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' इस अग्निदेवताक सूक्त में 'अश्व' अथवा 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' इस विष्णुदेवताक सूक्त में 'मृग' ऐसे ही देवता हैं—निपात भजत इति निपातभाक्।

निम्न सन्दर्भ में यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि यास्क द्वारा 'निघण्टु' में अन्य आचार्यों के निघण्टुओं से क्या अन्तर है—

मूल—अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—'इन्द्राय वृत्रघ्ने' (मै० स० २/२/११), इन्द्राय वृत्रतुरे, 'इन्द्रायांहोमुचे' (मै० सं० २/२/१०) इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु—संविज्ञानभूत स्यात्, प्राधान्यस्तुति, तत्समामने। अथोत कर्मभिऋर्षिर्देवताः स्तौति—'वृत्रहा, पुरन्दरः इति। तान्यप्येके समाम-

नन्ति, भूयांसि तु समाम्नानात्। व्यंजनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति। यथा—'ब्राह्मणाय बुभुक्षितौदनं देहि, स्नातायानुलेपनम्, पिपासते पानीयम्। इति—॥१३॥

अनुवाद—और देवताओं के मुख्य नामों को उनके विशेषणों से संयुक्त करके (उनके लिए ब्राह्मण ग्रन्थ) हवि देने का विधान करता है—'वृत्र को मारने वाले इन्द्र के लिए।' 'पाप से मुक्त कराने वाले इन्द्र के लिए।' कुछ लोग इन (विशेषणों) का भी संकलन करते हैं। किन्तु (इस प्रकार) संकलन करने से (शब्दों की संख्या) बहुत अधिक हो जाएगी। जो (विशेषण नाम के रूप में) रूढ हो गए हैं, तथा जिनकी प्रधान रूप में स्तुति की गई है (मैं अपने 'निघण्टु' में) उन्हीं का संकलन करता हूँ, और ऋषि देवताओं की, (उनके) कर्मों के द्वारा स्तुति करना है—'वृत्र का वध करने वाला, 'पुरों को नष्ट करने वाला' ये कुछ लोग इनका भी संकलन करते हैं। किन्तु (इनके) संकलन से (शब्दों की संख्या) बहुत अधिक हो जायेगी। उस नाम के लिए वह (कर्मवाचक शब्द) विशेषमात्र है (जैसे)—भूखे ब्राह्मण को भात दो, स्नान करते हुए को अनुलेपन (शरीर को सुगन्धित बनाने वाले द्रव्य) दो (और प्यासे को पानी दो।) ये।

व्याख्या—इस अवतरण का आशय यह है—

यास्क के पूर्ववर्ती नैघण्टुक (निघण्टुओं का संकलन करने वाले) आचार्य अपने निघण्टुओं में प्रसिद्ध देवतावाचक शब्दों के अतिरिक्त दो और प्रकार के शब्दों का भी संकलन करते थे—(i) इस प्रकार के शब्द वे होते थे, जो मन्त्रों में प्रसिद्ध देवतावाचक शब्दों के साथ प्रयुक्त होते थे और जिनका प्रयोग देवताओं को आहुति देने के लिए किया जाता था। इनका प्रयोग चतुर्थी में होता था। 'इन्द्राय वृत्रघ्ने' में 'वृत्रघ्ने' और 'इन्द्रायां हो मुचे' में 'अहोमुचे' इसी प्रकार के शब्द हैं। (ii) इस दूसरे वर्ग में वे शब्द आते थे, जो देवताओं के तत्तत् कर्मों को व्यक्त ... तथा जिनका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से भी होता था। जैसे 'वृत्रहा' और 'पुरन्दर' ये इन्द्र के क्रमशः 'वृत्रवध' और शत्रुओं के 'पुर-विनाश' रूपी कर्म को व्यक्त करते हैं।

यास्क को इनके संकलन में दो दोष दिखलाई पड़ते हैं—

(१) ये शब्द प्रसिद्ध नामों के विशेषण हैं, नाम नहीं।

(२) यदि इनका संकलन किया गया तो शब्दों की संख्या बहुत अधिक हो जाएगी और शब्दकोश बोझिल हो जाएगा।

फलतः यास्क ने अपने 'निघण्टु' में केवल उन देवतावाचक शब्दों का संकलन किया है जो—

(१) किसी देवता के नाम के रूप में रूढ़ हो गये हों, चाहे ऐसे शब्द पूर्व में कभी विशेषण ही न रहे हों।

(२) मन्त्रों और सूक्तों में जिनकी प्रधान रूप में स्तुति की गई हो।

'समामने' से स्पष्ट है कि जिस 'निघण्टु' पर 'निरुक्त' लिखा गया है उसका संकलन स्वयं यास्क ने किया था ॥१६॥

चतुर्थः पादः

अगले संदर्भ में, निघण्टु के शब्दों की व्याख्या का उपक्रम करते हुए, 'अग्नि' शब्द की व्याख्या की गई है—

मूल—अथातोऽनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवीस्थानः। तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मात्—अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः, अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः—न क्नोपयति, न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः—इताद्, अक्ताद्, दग्धाद् वा, नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेः वा दहतेः वा, नीः परः। तस्यैषा भवति ॥१४॥

अनुवाद—अब इसके बाद (हम निघण्टुस्थ देवतावाचक शब्दों की क्रमिक व्याख्या) प्रारम्भ करेंगे। अग्नि पृथिवीस्थान (का देवता है)। (इसलिए) पहले उसकी व्याख्या करेंगे। अग्नि (को 'अग्नि') क्यों कहा जाता है? (क्योंकि वह) अग्रणी है, वह यज्ञ में सबसे पहले प्रणीत (निर्मित) की जाती है, झुकती हुई (वह वस्तुओं को अपना) अङ्ग बना लेती है। स्थौलाष्ठीवि का मत है कि (वह) गीला करने वाला नहीं है, 'न क्नोपयति' का अर्थ 'गीला नहीं करता है' है। शाकपूणि का मत है कि (वह) तीन धातुओं से (निष्पन्न होता है) √इ (जाना) से, √अञ्ज् (चमकना) या √दह् (जलना) से (और) √नी (ले जाना) से। वह (शाकपूणि) √इ से 'अ', √अञ्ज् या दह् से 'ग' और (√नी से) बाद

में लगने वाले 'नि' को लेते हैं। उस (अग्नि) की यह (वक्ष्यमाण) ऋचा है ॥१४॥

व्याख्या—इस अवतरण में केवल 'अग्नि' शब्द की व्याख्या की है। उसके पाँच निर्वचन किए गये हैं, जैसे—

(१) क्योंकि वह 'अग्रणी' है, इसलिए वह 'अग्नि' है, यह व्याख्या 'अग्रणी >अग्नी >अग्नि' निर्वचन की ओर संकेत करती है।

(२) वह यज्ञ में सबसे पहले (अग्रं) प्रणीत की जाती है। यज्ञकुण्ड में प्रज्वलित किया जाता है, इसलिए 'अग्नि' कहलाती है—इस व्याख्या के अनुसार उसका निर्वचन 'अग्र + √नी > अग्र + नी > अग्नि' होगा।

(३) झुकती हुई वह (सभी वस्तुओं को अपना अङ्ग बना लेती है, (नयति)-इससे अङ्ग + √नी > अग् + नी > अग्नि' निर्वचन सूचित होता है।

(४) अग्नि एक प्रज्वलनशील पदार्थ है—इसलिए गीला नहीं करती (अपितु सुखाती है) (न क्नोपयति—इत्यग्निः)—इस व्याख्या से स्पष्ट है कि यास्क की अ (न) + √क्नूप् (गीला करना) + (प्) + इ (णिच् > अक्नोपि > अक्नोइ > अक्नि > अग्नि' निर्वचन अभिप्रेत है।

(५) अग्नि के चार कार्य हैं—(१) गति करना, (२) पदार्थ को प्रकाशित करना, (३) जलाना, (४) देवताओं के पास हवि पहुँचाना। ये चारों अर्थ 'अग्नि' शब्द में समाहित हैं। इसीलिए आचार्य शाकपूणि ने तीन धातुओं से 'अग्नि' शब्द की निष्पत्ति की है। वे गत्यर्थक √इ धातु के 'इत' के 'अ' √दह् (जलना) के 'दग्ध' या √अञ्ज् (चमकना) के 'अक्त' के 'ग्' और √नी (प्रापण) के योग से इसका शब्द निर्वचन करते हैं—अ + ग् + नी > अग्नि।

नीचे उपरि संकेतित ऋचा को उद्धृत कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—

मूल—अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ (ऋ० १/१/१)

अग्निमीळे—अग्निं याचामि। ईळिरध्येषणाकर्मा, पूजाकर्मा वा। पुरोहितोव्याख्यातः। यज्ञश्च। देवो दानाद्, दीपनाद् वा द्योतनाद्,

वा, द्युस्थानो भवतीति वा । यो देवः, सा देवता । होतारम्—ह्वातारम्, जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः । रत्नधातमम्—रमणीयानां धनानां दातृतमम् । तस्यैषाऽपरा भवति ॥१५॥

अनुवाद—सामने स्थित, यज्ञ के देवता, ऋतु में यजन करने वाले (देवताओं को) बुलाने वाले (तथा) रमणीय पदार्थों का दान करने वालों में श्रेष्ठ अग्नि (देवता) से (मैं) याचना करता हूँ (या नमस्कार करता हूँ)।

'अग्निम् ईळे' का अर्थ है, (मैं) अग्नि से याचना करता हूँ। √ईड् धातु का अर्थ 'याचना करना' या 'नमस्कार करना' है। 'पुरोहित' शब्द की व्याख्या की जा चुकी और 'यज्ञ' की भी। देव 'देने के कारण' अथवा 'दीप्त होने के कारण' अथवा 'द्योतित करने के कारण' (देव कहलाता है) या 'द्यु-स्थान वाला है, इसलिए। जो देव है, वही देवता है। 'होतारम्' का अर्थ है 'बुलाने वाले को'। और्णवाभ आचार्य के मत में होता' शब्द √हू (हवन करना) में निष्पन्न है। 'रत्नधातमम्' का अर्थ है—'रमणीय पदार्थों को देने वालों में श्रेष्ठ'। उस (अग्नि) की यह दूसरी ऋचा है ॥१५॥

व्याख्या—इससे पूर्व के अवतरण में जिस 'अग्नि' शब्द की व्याख्या की गई है, उसका उल्लेख प्रस्तुत वैदिक मन्त्र में 'अग्निम्' के रूप में उपलब्ध हो रहा है, इसलिये यह मन्त्र अग्निदेवता का है, यह सिद्ध है।

निर्वचन

ईळे—यह √ईड् धातु के वर्तमान काल उत्तम पुरुष एकवचन का रूप है। यास्क ने इसका अर्थ 'याचना करना या नमस्कार करना' माना है। पाणिनीय धातु पाठ में इसका अर्थ 'स्तुति करना' है। प्रतीत होता है 'याचना' अर्थ है, बाद में 'स्तुति के रूप में विकसित हो गया।

देव—इसके चार निर्वचन किए गए हैं—

(१) दान के कारण 'देव' कहलाता-अर्थात् √दा (दानार्थक) √व > देव।

(२) दीप्त होने के कारण 'देव' कहलाता है—अर्थात् √दीप् > अ > दीव् + अ > देव् + अ > देव।

(३) द्योतित होने या करने के कारण 'देव' कहलाता है—अर्थात् √द्युत् + अ > दिउत् + अ > दिव् + अ > देव।

(४) 'द्यु' में रहता है, इसलिए 'देव' है—अर्थात् 'द्यु + अ > दिउ + अ > दिव् + अ > देव ।

इसी 'देव' शब्द में जब 'तल्' या 'ता' प्रत्यय का योग हो जाता है, तो 'देवता' बन जाता है और अर्थ में भी कोई अन्तर नहीं होता—'देव एव देवता ।'

रत्नधातमम्—यास्क ने इसका पर्याय 'रमणीयानां धनानां दातृतमम्' किया है । इससे स्पष्ट है कि वे √धा धातु जिससे प्रस्तुत धा (धाता) शब्द निष्पन्न हुआ है, का अर्थ 'देना' मानते हैं । सम्भव है, उनके समय में उसका यही अर्थ रहा हो । निर्वचन इस प्रकार होगा—

'रत्न + धा + ० (क्विप्) + तपप् > रत्नधातम्, द्वि० ए० व० ।

ऋषि दयानन्द ने 'दातृतमम्' को प्रामादिक पाठ माना है और उसके स्थान पर 'धातृतमम्' पढ़ने के लिए कहा है ।

होतारम्—यास्क इसको √ह्वे धातु से बने 'ह्वातारम्' के अर्थ वाला मानते हैं । सम्भव है, उसी से इसका विकास हुआ हो - ह्वातारम् > होतारम् । आचार्य और्णवाभ के विचार में 'होतारम्' का सम्बन्ध √ह्वे (बुलाना) से नहीं, अपितु √हु (हवन करना) से है, फलतः अर्थ होगा 'हवन करने वाले को' ॥१५॥

नीचे संकेतित ऋचा और उसकी व्याख्या
प्रस्तुत की जा रही है—

मूल—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ (ऋ० १/१/२)

अग्निर्यः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः, स देवानिहावहत्विति ।

अनुवाद—(जो) अग्नि (देवता) पहले के तथा नए ऋषियों के द्वारा स्तुत्य है, वह देवताओं को यहां बुलाए ।

जो अग्नि पहले के और नये ऋषि हम लोगों के द्वारा ईड्य अर्थात् वन्दनीय हैं, वह देवताओं को यहाँ बुलाए ॥१६॥

व्याख्या—इस मन्त्र में भी उक्त 'अग्नि' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः यह 'अग्नि' की ऋचा है ।

शेष स्पष्ट है ।

निम्न अवतरण में यह प्रश्न उठाया गया है कि 'अग्नि' से किस देवता का तात्पर्य है—

मूल—स न मन्येतायमेवाग्निरिति । अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नि उच्येते । ततो नु मध्यमः ॥१६॥

अनुवाद—उसे (देवतत्त्व के जिज्ञासु को) यह नहीं मानना चाहिए कि यही 'अग्नि' ही (अग्नि) है । ऊपर की ये दोनों ज्योतियाँ (विद्युत और सूर्य) भी कही जाती हैं । उनमें से मध्यम (अग्नि) 'विद्युत' का उल्लेख निम्न ऋचा में है ॥१६॥

व्याख्या—यास्क के द्वारा पूर्वपक्षी के रूप में इस प्रश्न को उठाने का आशय यह है कि वैदिक वाङ्मय में 'अग्नि' शब्द का प्रयोग केवल पृथिवी के ऊपर विद्यमान अग्नि के लिए ही नहीं, अपितु अन्तरिक्षस्थ विद्युत और द्युलोकस्थ सूर्य के लिए भी हुआ है, इसलिए अग्नितत्व की खोज करने वाले किसी व्यक्ति को इस लोक (पृथिवी) की अग्नि को ही अग्नि नहीं मान लेनी चाहिए । उदाहरण के लिए नीचे दी जा रही ऋचा में मध्यम अग्नि का उल्लेख पाया जाता है ॥१६॥

अब संकेतित ऋचा और उसकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—

मूल—अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥
(ऋ० ४/५८/८)

अभिनमन्त समनसः इव योषाः । समनं—समननाद् वा, संमाननाद् वा । 'कल्याण्य स्मयमानासो अग्निमित्यौपमिकम् । घृतस्य धाराः उदकस्य धाराः समिधो नसन्त—नसतिराप्नोतिकर्मा, नमतिकर्मा वा । 'ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः' । हर्यतिः प्रेप्साकर्मा—'अभिहर्यतीति ।

अनुवाद—समान मन वाली, कल्याणी, मुस्कराती हुई युवतियों के समान (जलधाराएँ) अग्नि को नत होती हैं । जल की धाराएँ प्रदीप्त होती हुई (उस

अग्नि को) प्राप्त करती हैं (और वह) 'जातवेदा' (अग्नि) उनसे प्रेम करता हुआ, उनको कामना करता है।

समान मन वाली युवतियों के समान (उसकी ओर) नत होती हैं। 'समना' या तो साथ-साथ श्वास लेने के कारण या साथ-साथ समझने के कारण (कहलाती हैं)। 'कल्याणी' मुस्कराती हुई अग्नि के पास, यह उपमामूलक है। घृत अर्थात् जल की धाराएँ प्रदीप्त होती हुई प्राप्त होती हैं। √नस् धातु 'प्राप्ति' अर्थ वाली या 'नमस्कार करना' अर्थ वाली है। उनसे प्रेम करता हुआ जातवेदा (उनकी) कामना करता है। हर्य धातु 'इच्छा' अर्थ वाली है इसलिए 'हर्यति' का अर्थ है। प्राप्त करना चाहता है, यह।

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र में प्रदीप्त जलधाराओं का अग्नि के पास पहुँचने और अग्नि के द्वारा उनको स्वीकार किये जाने का उल्लेख है। यह स्थिति अन्तरिक्ष में जलधाराओं और विद्युत के बीच ही पैदा हो सकती है, इसलिए प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नि' शब्द का प्रयोग अन्तरिक्षस्थ विद्युत के लिए हुआ है, यह यास्क का आशय है।

निर्वचन—

प्रवन्त—यास्क ने इसका 'नमन्त' किया है। यह √प्रु (गत्यर्थक किन्तु यहाँ नत्यर्थक) धातु के लङ् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन का रूप है।

समना—इसका अर्थ है 'समान मन वाली-'समनसः'। 'इसके निर्वचन का संकेत यास्क ने दो धातुओं से किया है—

(i) अन् (श्वास लेना) से—क्योंकि वह साथ-साथ श्वास लेती हैं, साथ-साथ जीती मरती हैं, इसलिए 'समनाः' है—समम् अनितीति समनासम् + √मन् + आ) > समना।

(ii) √मन् + इ = मानि से। क्योंकि वह अच्छी प्रकार मान करती है—इसलिए वह 'समना' है—सम् + √मानि + आ > स + मनि + आ > समना।

नसन्त—यह √नस् (प्राप्त्यर्थक या नत्यर्थक), लङ् प्रथम पुरुष बहुवचन का वैदिक रूप है।

अगले अवतरण में 'आदित्य' अर्थ में अग्नि से सम्बद्ध मन्त्र को उद्धृत किया जा रहा है—

मूल—'समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत' (ऋ० ४/५८/१) इत्यादित्य

मुक्त मन्यन्ते । 'समुद्राद्धयेषोऽद्भ्य उदैति ।' (कौ० ब्रा० २५/१) इति ब्राह्मणम् ।

अनुवाद—'आच्छादित करने वाला, मधु से सम्पन्न समुद्र (आकाश) से उठा' इस (वैदिक उद्धरण) में आदित्य को कहा गया माना जाता है। 'यह समुद्र से उदित होता है' ऐसा ब्राह्मण-वाक्य भी है।

व्याख्या—'समुद्रा······उदारत्' यह मन्त्र जिस सूक्त से लिया गया है, उसके अग्नि और जल आदि कई देवता माने गए हैं। इस मन्त्र में अग्नि का वर्णन सूर्य के रूप में किया गया है, क्योंकि आकाश रूपी समुद्र से ऊपर उठने वाली अग्नि सूर्य ही है। कौषीतकी 'ब्राह्मण का उपर्युक्त वाक्य भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है, फलतः यहाँ 'अग्नि' सूर्य (द्युस्थानीय अग्नि) के अर्थ में है, यह यास्क का आशय है।

निम्न पंक्तियों में 'अग्नि' का अर्थ सभी देवता हैं। यह बताया गया है—

मूल—अथापि ब्राह्मणं भवति—'अग्निः सर्वा देवताः ।' (तै० स १/२/६/१) इति । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—॥१७॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त 'ब्राह्मण' (का वाक्य) है—'अग्नि सब देवता है)। यह बाद में कही जाने वाली (ऋचा) उसको और अधिक स्पष्टता से कहने वाली है ॥१७॥

व्याख्या—'अग्निः सर्वाः देवता' इस ब्राह्मण-वाक्य को उद्धृत कर यास्क यह सिद्ध करना चाहते हैं कि 'अग्नि' शब्द न केवल उपर्युक्त तीनों अग्नियों के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है, अपितु समस्त देवताओं के लिए भी उसका प्रयोग होता है। इसलिए जो केवल पार्थिव अग्नि को ही उसका रूप मानते हैं, वे भ्रान्त हैं।

अभी जिस ऋचा को वे उद्धृत करने जा रहे हैं, उसमें 'अग्नि' के सर्व-देवतात्व को और अधिक स्पष्ट किया गया है ॥१७॥

संकेतित ऋचा और उसकी व्याख्या यह है—

मूल—'इन्द्रं, मित्रं, वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहुः ।।
(ऋ० १/१६४/४६)

इममेवाग्निं महान्तमात्मानं, एकम् आत्मानं बहुधा मेधाविनी वदन्ति-इन्द्रं, मित्र, वरुणम् अग्नि; दिव्यञ्च गरुत्मन्तम् । दिव्यः=दिविजः। गुरुत्मान्=गरणवान्, गुर्वात्मा। महात्मा इति वा।

अनुवाद—'इन्द्र, मित्र' (और) वरुण को अग्नि कहते हैं, (और) द्युलोक में रहने वाला, अच्छी गति वाला (जो) सूर्य है, वह (भी अग्नि है)। विद्वान् लोग एक सतत्त्व को अनेक प्रकार से कहते हैं (ये) अग्नि को (ही) यम (और) मातरिश्वन् कहते हैं।

मेधावी लोग प्रायः इस अग्नि को महान् आत्मा मानते हैं— अर्थात् 'इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और आकाशस्थ सूर्य।' 'दिव्य' का अर्थ है—दिव् में होने वाला। 'गरुत्मान' का अर्थ है—

निगलने वाला या महान् आत्मा वाला।

व्याख्या—उपर्युक्त मन्त्र और उसकी यास्ककृत व्याख्या से यह स्पष्ट है कि उसमें अग्नि को महान् आत्मा तथा सभी देवताओं का रूप मनाया गया है। इससे उसका सर्वदेवतात्व पुष्ट होता है।

निर्वचन—

दिव्यत्. दिव्य—इसका अर्थ 'दिविज' किया गया है, जो इसका अर्थनिर्वचन है। शब्दनिर्वचन यह है—दिव+य (यत्) > दिव्य।

गरुत्मान्—इसके दो पर्याय दिए गए हैं—'गरणवान्' और 'गुर्वात्मा'। इनसे ही इसके दो निर्वचनों का संकेत मिलता है (i) 'गरणवान्' का अर्थ है 'मिक निगरण (निगलना) करने वाला'। सूर्य अपनी किरणों से पार्थिव जल का निगरण करता है, इसलिए वह गरणवान् 'गरुत्मान्' है। स्पष्ट है कि 'गरुत्' का अर्थ 'गरण किया गया है—जो √गृ+उत् से निष्पन्न है। बाद में 'मतुप्' प्रत्यय के योग से वह 'गरुत्मान्' होगा। (ii) 'गुर्वात्मा' का अर्थ है महान् आत्मा वाला। इसी से 'गरुत्मान्' का विकास हुआ है—गुरु+आत्मन् > गुरु+आत्मन् > गरुत् आमन् > गरुत्+मान् > गरुत्मान्।

निम्न अवतरण में सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत किया जा रहा है—

मूल—यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निः निपातमेवैत उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भंजेते॥१८॥

अनुवाद—किन्तु जो (अग्नि) सूक्त को प्राप्त करता है, जिसके लिए हवि दी जाती है, वह यही अग्नि है। ऊपर की ये दोनों ज्योतियाँ इस (अग्नि) नाम से गौणत्व को प्राप्त करती हैं ॥१८॥

व्याख्या—कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से तो 'अग्नि' शब्द तीनों अग्नियों का वाचक है, किन्तु जो अग्नि ऋग्वेद के सूक्तों का देवता है, जिसको लक्ष्य करके सूक्तों की रचना की गई है तथा जिसके लिए यज्ञ में हवि देने का विधान किया गया है, वह अग्नि पार्थिव ही है। विद्युत् और सूर्य के अर्थ में इसका प्रयोग लाक्षणिक है।

पंचम पादः

अगले सन्दर्भ में 'जातवेदस्' की व्याख्या की जा रही है—

मूल—जातवेदाः कस्मात् ? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा—जातधनः, जातविद्यो वा—जातप्रज्ञानः, 'यत्तज्जातः पशूनविन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्।' इति ब्राह्मणम्। 'तस्मात् सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति, इति च। तस्यैषा भवति—॥१९॥

अनुवाद—(इसे) जातवेदस् क्यों (कहा जाता है ?) (इसलिए कि वह) उत्पन्न पदार्थों को जानता है, अथवा 'उत्पन्न पदार्थ उसे जानते हैं, अथवा प्रत्येक उत्पन्न (पदार्थ) में विद्यमान रहता है, अथवा उत्पन्न वित्त वाला अर्थात् उत्पन्न धन वाला या उत्पन्न विद्या वाला अर्थात् उत्पन्न उत्कृष्ट ज्ञान वाला, (है), 'जो उसने उत्पन्न होते ही पशुओं को प्राप्त किया, वह जातवेदस् का जातवेदस्त्व है, यह ब्राह्मण-वाक्य है। इसलिए पशु सभी ऋतुओं में अग्नि के पास जाते हैं। उस (जातवेदस्) की यह (ऋचा) है—॥१९॥

व्याख्या—इस अवतरण में 'जातवेदस्' के पाँच निर्वचन दिये गये हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) 'जातानि वेद' अर्थात् उत्पन्न पदार्थों को वह जानता है—इसलिए 'जातवेदस' है। इसका संकेत 'जात + $\sqrt{}$विद् (ज्ञान) + अस् (असुन्) > जातवेदस्' इस निर्वचन की ओर है।

ज्ञातानि एवं विदुः—'उत्पन्न पदार्थ इसको जानते हैं', इसलिए यहाँ भी शब्द निर्वचन पूर्ववत् होगा।

(३) जाते-जाते विद्यते प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ विद्यमान है—इसलिए…… इसके अनुसार निर्वचन यह होगा—'जात + √विद् (सत्ता) + अस् > जातवेदस्'।

(४) जात वित्तः—उत्पन्न हुए वित्त वाला है—इसलिए…। चूँकि 'वित्त' शब्द √विद् (ज्ञान) और √विद्लृ (लाभ) दोनों से सिद्ध होता है, इसलिए निर्वचन दोनों धातुओं से अलग-अलग होगा—

(क) जात + √विद् (ज्ञान) + अस् = जातवेदस् (उत्पन्न हुए ज्ञान वाला)।

(ख) जात + √विद् (लाभ) + अस् = जातवेदस् (उत्पन्न हुए धन वाला)।

(५) उक्त ब्राह्मण-वाक्य के अनुसार 'उसने उत्पन्न होते ही (जात) पशुओं को प्राप्त किया, इसलिए……। वाक्य के 'जात' और 'अविन्दत' शब्द निम्न निर्वचन की ओर संकेत करते हैं—

जात + √विन्द् (प्राप्त्यर्थक) + अस् > जात + विद् + अस् > जातवेदस्।

अगले सन्दर्भ में संकेतित ऋचा को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की जा रही है—

मूल—प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोति वाजिनम्। इद नो बर्हिरासदे (ऋ० १०/१८८/१)'

प्र हिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम्। अपि वोपमाऽर्थे स्यात्-अश्वमिव जातवेदसमिति। 'इदं नो बर्हिरासीदतु इति।

अनुवाद—इस हमारी कुशा (कुशासन) पर बैठने के लिए व्यापक और शक्तिशाली जातवेदस् (अग्नि) को खूब बढ़ाओ।

(अपने) कर्मों से बढ़ते हुए जातवेदस् (अग्नि) को खूब बढ़ाओ। अथवा ('अश्व' शब्द का प्रयोग) उपमा के लिये किया गया होगा - 'अश्व के समान जातवेदस् को' इस प्रकार। '(वह) हमारी इस कुशा पर बैठे'। यह।

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र जिस सूक्त से अवतरित है, उसका देवता जातवेदस् है। इस मन्त्र में भी 'जातवेदस्' का प्रयोग किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह ऋचा जातवेदस् की है।

'अश्व' शब्द, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, √अश् (व्याप्त्यर्थक) से निष्पन्न है। अतः इसका पहला अर्थ हुआ व्यापक और इसी व्यापकता, शीघ्रता के साथ मार्ग में व्याप्त हो जाना के आधार पर इसका अर्थ 'घोड़ा' हो गया। यास्क ने 'अश्व' के दोनों अर्थ लिए हैं।

'हिनोत' गत्यर्थक एवं वृद्धयर्थक √हि का वैदिक रूप है, लौकिक रूप होगा—'हिनुत'।

निम्न अवतरण में यह बताया जा रहा है कि केवल उपर्युक्त सूक्त में 'जातवेदस्' की प्रधानतया स्तुति की गई है—

मूल—तदेतदेकमेव जातवेदस गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते।

अनुवाद—तो दशमण्डलों वाले ऋग्वेद में 'जातवेदस्' से सम्बन्ध रखने वाला, यह तीन ऋचाओं तथा गायत्री छन्द वाला अकेला सूक्त है। जो कुछ भी अग्नि से सम्बद्ध है, वह सब जातवेदस् (के मन्त्रों) के स्थान पर प्रयुक्त हो सकता है।

व्याख्या—यास्क के कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त मन्त्र जिस सूक्त से लिया गया है, केवल वही सूक्त 'जातवेदस्' को सम्बोधित है। इस सूक्त में तीन ऋचाएँ हैं, जो गायत्री छन्द हैं।

क्योंकि जातवेदस् का अर्थ अग्नि ही है, इसलिए अग्नि देवता से सम्बद्ध मन्त्रों का जातवेदस् के मन्त्रों के स्थान पर किया जा सकता है।

अगले सन्दर्भ में 'जातवेदस्' से किस अग्नि का तात्पर्य है, इस पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में स्पष्ट किया जा रहा है—

मूल—स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसौ उच्येते। ततो नु मध्यमः—'अभि प्रवन्त समनेव योषाः' इति। तत् पुरस्ताद् व्याख्यातम्। अथासावादित्यः—'उदुत्यं जातवेदसम्' इति। तदुपरिष्टाद् (१२/३५) व्याख्यास्यामः।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥२०॥

अनुवाद—उसे यह नहीं मानना चाहिए कि यह (पार्थिव) अग्नि ही 'जातवेदस्' है। अपितु ऊपर की दोनों ज्योतियाँ (अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और सूर्य) भी 'जातवेदस् कहलाती हैं। उनमें से मध्यम (विद्युत) (जैसे)' 'अग्नि······योषा, यह मन्त्र। उसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। और वह आदित्य (जैसे) 'उदुत्यं जातवेदसम्' यह मन्त्र। उसकी व्याख्या बाद में (१२/१५० पर) करेंगे।

किन्तु जो (जातवेदस्) सूक्त का भागी है, जिसके लिए हवि दी जाती है, वह 'जातवेदस्' वह पार्थिव अग्नि ही है। ऊपर की दोनों ज्योतियाँ इस नाम को गौण रूप में प्राप्त करती हैं।

व्याख्या—इस अवतरण का आशय यही है कि यद्यपि 'जातवेदस्' शब्द सामान्य रूप से तीनों अग्नियों के अर्थ में वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है, जिस 'जातवेदस्' के लिए सूक्त का निर्माण हुआ है तथा जिसको यज्ञ में आहुति दी जाती है, वह पार्थिव अग्नि ही है। अन्तरिक्ष की विद्युत् और सूर्य के लिए इसका प्रयोग गौण रूप में ही होता है, मुख्य रूप में नहीं ॥२०॥

षष्ठः पादः

अगले सन्दर्भ में 'वैश्वानर' शब्द की व्याख्या की जा रही है—

मूल—वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान्नरान्नयति, विश्व एनं नराः नयन्तीति वा, अपि वा विश्वानर एव स्यात्—प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य—वैश्वानरः। तस्यैषा भवति—॥२१॥

अनुवाद—(यह) वैश्वानर (कहलाता है?) (इसलिए कि वह) समस्त नरों को ले जाता है, अथवा सभी लोग इसको ले जाते हैं, अथवा (यह) 'विश्वानर' ही है—सभी भौतिक पदार्थों में व्याप्त, (जो) उसका (है वह) वैश्वानर है। उसकी यह (ऋचा) है—॥२१॥

व्याख्या—इस अवतरण में 'वैश्वानर' शब्द के तीन निर्वचन प्रस्तुत किए गए हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) विश्वान् नरान् नयति—अर्थात् वह समस्त नरों को ले जाता है, इस लिए 'वैश्वानर' है। शब्दनिर्वचन यह होगा—'विश्व + नर + अण् > वैश्वानर।

(२) विश्व एनं नए नमन्ति—समस्त लोग इसे ले जाते हैं—इस व्याख्या के अनुसार भी उक्त निर्वचन ही होगा।

(३) इसमें बताया गया है कि वह समस्त भूतों में व्याप्त है (ऋत) अतः प्रारम्भ में यह 'विश्वानर (विश्वान्–समस्त भूतों में) + अर (व्याप्त) रहा होगा और अर्थ रहा होगा समस्त भौतिक पदार्थों में व्याप्त। बाद में 'विश्वानर का' इस अर्थ में 'विश्वानर' ही वैश्वानर हो गया। संक्षेप में इसका निर्वचन यह होगा—

विश्वान् + √ऋ (गत्यर्थक) + अप् = विश्वानर + अण् ('तस्येदम्' अर्थ में) = वैश्वानर ॥२१॥

अगली पंक्तियों में उपरि-संकेतित ऋचा को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की जा रही है—

मूल—वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥
(ऋ० १/६८/१)

इतो जातः। सर्वमिदमभिविपश्यति। वैश्वानरः संयतते सूर्येण। राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयस्तस्य वय वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्याम।

अनुवाद—(हम) वैश्वानर की सुन्दर बुद्धि में रहें, (वह सभी भौतिक पदार्थों का आश्रयणीय राजा है। यहाँ से उत्पन्न (वह) इस विश्व को विशेष रूप से देखता रहता है। वैश्वानर सूर्य से (मिलने का) यत्न करता है।

यहाँ से उत्पन्न हुआ इस समस्त विश्व को विशेष रूप से देखता है, वैश्वानर सूर्य के साथ मिलने का प्रयास करता है। जो सभी भौतिक पदार्थों का आश्रयणीय राजा है, उस वैश्वानर की कल्याणकारिणी बुद्धि में हम होवें।

व्याख्या—इस ऋचा में वैश्वानर की प्रधान रूप में स्तुति की गई है, इसलिए यह ऋचा उसकी है या इस ऋचा का देवता 'वैश्वानर' है, यह यास्क का आशय है।

निम्न अवतरण में 'वैश्वानर' कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर 'मध्यम अग्नि है' यह दिया जा रहा है—

मूल—तत्कः वैश्वानरः ? मध्यमः इत्याचार्याः, वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति—॥२२॥

अनुवाद—तो वैश्वानर कौन है ? आचार्यों का कहना है कि मध्यम लोक की अग्नि (विद्युत् ही 'वैश्वानर' है), क्योंकि (वेद) वर्षा के कार्य के द्वारा इसकी स्तुति करता है ॥२०॥

व्याख्या—क्योंकि वर्षा का सम्बन्ध अन्तरिक्षस्थ विद्युत् से है, इसलिए वृष्टि रूपी कार्य के आधार पर स्तुति किए जाने पर 'वैश्वानर' अन्तरिक्षस्थ विद्युत ही है, यह सिद्ध होता है।

अब संकेतित ऋचा को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की जा रही है—

मूल—प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधुनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥
(ऋ० १/५९/६)

प्र ब्रवीमि तन्महित्वं=माहाभाग्यं, वृषभस्य=वर्षितुरपाम्, यं पूरवः=पूरयितव्याः मनुष्याः, वृत्रहणं=मेघहनं, सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः । दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात्, उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः, उपदासयति कर्माणि । तमग्नि-वैश्वानरो घ्नन्नवाधूनोदपेः काष्ठाः । अभिनच्छम्बरं मेघम् ।

अनुवाद—(मैं) अब (उस) वर्षणशील की महिमा का वर्णन करता हूँ, जो वृत्र को मारने वाला है (तथा) जिसकी सेवा मनुष्य करते हैं ।

मैं (उस) वृषभ अर्थात् जल की वर्षा करने वाले के उस 'महित्व' अर्थात् महान् ऐश्वर्य का वर्णन करता हूँ जिस वृत्रहण अर्थात् (जल के अवरोधक) को मारने वाले की सेवा, वर्षा की कामना वाले पूरु अर्थात् भरे जाने योग्य मनुष्य करते हैं । 'दस्यु' शब्द 'क्षय' अर्थ वाली √दस् धातु से निष्पन्न होता है,

(क्योंकि) इसमें रस (जल) नष्ट हो जाते हैं; (वह) कर्मों को नष्ट कर देता है। उसे वैश्वानर अग्नि ने मारते हुए अतः अर्थात् जल को नीचे और कम्पित किया; और शम्बर अर्थात् मेघ को तोड़ डाला।

व्याख्या—उक्त मन्त्र में यह बताया गया है कि वैश्वानर, अग्नि ने दस्यु (वृत्र) को मार कर जल को कम्पित किया (नीचे प्रवाहित किया) तथा शम्बर को तोड़ डाला। इसके साथ ही उसे स्पष्टतः 'वृषभ' और 'वृत्रहण' भी कहा गया है। ये समस्त विशेषताएँ अन्तरिक्षस्थ अग्नि (विद्युत्) में ही पाई जाती हैं, इसलिए, वैदिक 'वैश्वानर' से तात्पर्य उस विद्युत् से ही है, यह इस पक्ष का आशय है।

निर्वचन—

पूरु—यास्क की दृष्टि में जो पूर्ण करने योग्य हो, निरन्तर भरा जाता हो, वह 'पूरु' है। मनुष्य, क्योंकि सदैव अपूर्ण रहता है इसलिए स्वयं को अपने विशिष्ट कर्मों के द्वारा सदैव पूर्ण करने का प्रयास करता है। फलतः वही 'पूरु' हैं—पूरयितुं योग्यं पूरुः—√पृ + उ > पूर + उ—पूरु।

दस्युः—यास्क ने इसके क्षयार्थक √दस् से निष्पन्न माना है। (i) जिसमें रस अर्थात् जल नष्ट हो जाते हैं वह 'दस्यु' है (उपदस्यन्त्यस्मिन्रसा इति दस्युः)। (ii) या वह कर्मों को नष्ट करता है इसलिए 'दस्यु' है—'उपदासयति कर्माणीति दस्युः।' दोनों ही स्थितियों में निर्वचन होगा—√दस + यु > दस्यु।

'वैश्वानर' से तात्पर्य द्युलोकीय सूर्य से है, इस मत के समर्थन में याज्ञिकों के विचार नीचे दिए जा रहे हैं—

मूल—अथ 'असौआदित्य' इति पूर्वे याज्ञिकाः। एषां लोकानां रोहेण, सवनानां रोहः आम्नातः। रोहात्प्रयवरोहश्चिकीर्षितः। तामनुकृतिं होताऽग्निमारुते शस्त्रे, वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते। सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेत, आग्नेयो हि भवति। ततः आगच्छति मध्यमस्थानाः देवताः—रुद्रञ्च मरुतश्च। ततोऽग्निमिहस्थानम्, अत्रैव स्तोत्रियं शसति। अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति—एतस्य हि द्वादशविध कर्म। अथापि ब्राह्मणं भवति—'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः'

(मै० सं० ३/१/२) इति। अथापि निवित्सौर्यवैश्वानरी भवति—'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्' (शां० श्रौ० सू० ७७/२२/१) इति। एष हि द्यावापृथिव्यावाभासयति। अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति—'दिवि पृष्टो अरोचत' (वा० स० ३३/९२) इति। एष हि दिवि पृष्टो अरोचत इति। अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं (ऋ० १०/८८) सौर्यवैश्वानरं भवति।

अनुवाद—और 'वह आदित्य (ही वैश्वानर है)' यह पहले के याज्ञिक लोग मानते हैं। (क्योंकि) इन लोकों की चढ़ाई के अनुसार सवनों की चढ़ाई कही गई है। (और) चढ़ाई के पश्चात् (नीचे) उतरने की इच्छा होती है। उस अनुकरण को होता अग्नि और मरुत् देवताओं से सम्बद्ध शस्त्र नामक कर्म में वैश्वानर से सम्बद्ध सूक्त के द्वारा प्राप्त होता है। (वहाँ यह विधान है कि) उसे स्तोत्रिय सूक्त का आदर नहीं करना चाहिए (पाठ नहीं करना चाहिए), क्योंकि स्तोत्रिय सूक्त अग्नि का माना जाता है। उसके बाद वह मध्यम स्थान के देवता रुद्र और मरुतों के पास आता है और उसके पश्चात् इस (भूलोक) की अग्नि के पास। यहीं पर (वह) स्तोत्रिय सूक्त को पढ़ता है। इसके अतिरिक्त वैश्वानर से सम्बद्ध बारह कपाल होते हैं, (क्योंकि) उसका कर्म बारह प्रकार का है। इसके अतिरिक्त (किसी) ब्राह्मणग्रन्थ (का वाक्य भी) है—'वह आदित्य ही वैश्वानर अग्नि है।' यह इसके अतिरिक्त—निवित्' नामक मन्त्र सूर्य को ही वैश्वानर मानता है—'जो द्युलोक को पूर्णतया चमकाता है, (जो) पृथिवी को पूरी तरह चमकाता है।' क्योंकि यह द्युलोक और पृथिवी को पूरी तरह चमकाता है। इसके अतिरिक्त छान्दोमिक सूक्त (भी) सूर्य (को ही) वैश्वानर मानता है—'द्युलोक में प्रज्वलित (होकर वह) चमका। यह (आदित्य) द्युलोक में प्रज्वलित होता और चमकता है। इसके अतिरिक्त हविष्पान्तीय सूक्त (भी) सूर्य को (ही) वैश्वानर मानती है।

व्याख्या—यहाँ आदित्य को ही वैश्ववानर मानने वाले जिन याज्ञिकों का सिद्धान्त विस्तार से बताया गया है, वे यास्क से बहुत पहले के कर्मकाण्डी या मीमांसक हैं। यहाँ उन्होंने जिन तर्कों की अवतारणा की है, वे कुछ तो

वैदिक कर्मकाण्ड पर और कुछ ब्राह्मणीय तथा वैदिक वाक्यों पर आधारित हैं। उन्हें इस रूप में समझा जा सकता है—

(१) श्रौत विधि-विधान के अनुसार किए जाने वाले सोमयाग में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल को जो हवन किया जाता है, उसे 'सवन' के नाम से अभिहित किया जाता है। ये सवन उपर्युक्त कालत्रय के अनुसार संख्या में तीन हैं तथा उनका क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से सम्बन्ध है। सवनों और लोकों का उपर्युक्त प्रकार का सम्बन्ध दोनों के आरोह के अनुसार है, अर्थात् जैसे पृथिवी से द्युलोक तक जाने में चढ़ाई बराबर बढ़ती जाती है, वैसे ही प्रातः सवन से सायं सवन तक जाने में। इसे रोह या आरोह क्रम कहा जा सकता है तथा इससे उल्टे क्रम को अवरोह। आरोह के बाद प्रत्येक को अवरोह अभीष्ट होता है और यह अवरोह के ठीक विपरीत होगा।

इस प्रकार सवनों और लोकों के मध्य विशिष्ट सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर उन लोकों के देवताओं और सवनों का भी पारस्परिक सम्बन्ध प्रातः सवन, मध्यलोक के देवताओं और सवनों का भी पारस्परिक सम्बन्ध प्रातः सवन, मध्यलोक के देवता इन्द्र का सम्बन्ध मध्याह्न-सदन से और द्युलोक के देवता सूर्य का सम्बन्ध सायंसवन से है।

अग्निष्टोम नामक यज्ञ में अग्नि और मरुत् देवताओं से सम्बन्ध एक विशिष्ट कर्म का विधान होता है, जिसे 'शस्त्र' कहा जाता है। उसमें उपर्युक्त सवनादि कर्म अवरोह क्रम से किए जाते हैं अर्थात् पहले सायंसवन और अन्त में प्रातः-सवन। उसमें सबसे पहले वैश्वानर की, उसके बाद रुद्र और मरुतों की तथा सबके अन्त में अग्नि की स्तुति की जाती है। इस प्रकार इस अवरोहक्रम में वैश्वानर को सबसे ऊँचा स्थान मिल जाता है और उससे यह सिद्ध होता है कि वैश्वानर आदित्य का ही दूसरा नाम है, क्योंकि सर्वोच्च द्युस्थान का देवता आदित्य ही माना गया है। यदि वैश्वानर से पार्थिव अग्नि अभिप्रेत होता तो ऋत्विज् स्तोत्रिय सूक्त का पाठ सबसे पहले करता, जिसका देवता अग्नि माना जाता है। किन्तु उनका पाठ सबसे अन्त में होता है। इस अवरोह क्रम से यही सिद्ध होता है कि वैश्वानर का अग्नि से कोई सम्बन्ध नहीं और आदित्य ही वैश्वानर है।

(२) सूर्य की विशिष्ट गति के कारण ही वर्ष के १२ महीनों का निर्माण होता है। इससे सूर्य का १२ की संख्या से एक विशिष्ट सम्बन्ध मान लिया गया है। हम देखते हैं कि वैश्वानर देवता के लिए, १२ कपालों (तत्वों) पर पके हुए पुरोडाश (एक विशेष प्रकार की रोटी, जिसका हवन किया जाता था) को देने का विधान है। जो यह सिद्ध करता है कि आदित्य ही वैश्वानर है।

(३) मैत्रायणी संहिता में भी आदित्य को ही वैश्वानर कहा गया है—'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः।' यह ब्राह्मणवाक्य असत्य नहीं हो सकता' इसलिए आदित्य ही वैश्वानर सिद्ध होता है।

(४) ऋतुयाजों और प्रातः सवनादि कर्मों के समय सोमपान के निमित्त देवताओं को बुलाने के कुछ वाक्यों का उच्चारण किया जाता है। ये 'निवित्' कहे जाते हैं। इनमें वैश्वानर के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है—'आ यो द्या भात्या पृथिवीम्।' अर्थात् वह वैश्वानर द्युलोक और पृथिवी को प्रकाशित करता है। यह विशेषता अकेले सूर्य में ही पाई जाती है, इसलिए सूर्य या आदित्य ही वैश्वानर है।

(५) द्वादशाह यज्ञ के आठवें, नौवें और दसवें दिनों को छन्दोम कहते हैं। इनमें पढ़े जाने वाले सूक्तों को छान्दोमिक कहा जाता है। इनमें वैश्वानर के बारे में कहा गया है कि वह द्युलोक में प्रज्वलित होता और चमकता है—'दिवि पृष्टो अरोचत।' आकाश में चमकने और प्रज्वलित होने वाला तो अकेला सूर्य ही है। इससे सूर्य या आदित्य ही वैश्वानर है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

(६) ऋग्वेद का एक सूक्त है, जो अपने 'हविष्पान्तम्' इस प्रारम्भिक शब्द के कारण 'हविष्पान्तीय' कहलाता है। इसका देवता सूर्य-वैश्वानर माना गया है। इससे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

निम्नलिखित सन्दर्भ में यास्क शाकपूणि के मत के माध्यम से अपने सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करते हैं—

मूल—अयममेवाग्निर्वैश्वानरः इति शाकपूणिः—(१) विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी। वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते। कथं त्वयमेताभ्यां

जायते ? इति ।— यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति, यावदनुपात्तो भवति, मध्यमधर्मैव तावद भवत्युदकेन्धनः, शरीरोपशमनः । उपादीयमानः एवायं सम्पद्यते— उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः । अथादित्याद् । उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कस वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्क-गोमयमसंस्पर्शयन् धारयति, तत्प्रदीप्यते । सोऽयमेव सम्पद्यते । (२) अथाप्याह 'वैश्वानरो यतते सूर्येण ।' (ऋ० १/९८/१) इति । न च पुनरात्मनाऽऽत्मा संयतते । अन्येनैवान्यः संयतते । इतः इममाद-धात्यमतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति । इतोऽस्यार्चिषः । तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत् । (३) अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि सूक्तानि, भागानि वा सावित्राणि वा, पौष्णानि वा, वैष्णावानि वा, तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादाः अभविष्यन्, आदित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन्— "इत्युदेषीत्यस्तमेषीति विपर्येषीति । (४) आग्नेयेषैव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादाः भवन्ति । अग्नि.कर्मणा चैनं स्तौतीति, दहसीति, पचसीति वहसीति च ।

अनुवाद—'यही अग्नि वैश्वानर है' यह शाकपूणि का मत है—(१) ये दोनों ऊपर की ज्योतियाँ 'विश्वानर' हैं (और) यह वैश्वानर (है) क्योंकि यह उनसे उत्पन्न होता है । यह उनसे कैसे उत्पन्न होता है ? (इसका उत्तर यह है कि) जब विद्युत की अग्नि अपने आश्रय को आहत करती है (तो उस समय वह), जब तक (अग्नि के रूप में परिणत नहीं हो जाती, तब तक मध्यम स्थानीय अग्नि की विशेषताओं वाली ही रहती है (अर्थात्) जल द्वारा प्रदीप्त होने वाली (और अन्य) पार्थिव वस्तु से शान्त हो जाने वाली + (अग्नि के रूप में) ग्रहण की जाती हुई यह जल से शान्त हो जाने वाली तथा (अन्य भौतिक) पदार्थों से प्रदीप्त हो जाने वाली हो जाती है । अब आदित्य से (यह अग्नि कैसे उत्पन्न होती है ? इसे बताते हैं) उत्तर दिशा में, सूर्य के पहली बार आने पर, कांसे अथवा मणि (आतिशी शीशे) को साफ करके प्रतिताप में, जब सूखे गोबर को (कांसे अथवा आतिशी शीशे से) न छुआते हुए धारण करता

है, तो वह जलने लगता है (और) वह यही (अग्नि ही) हो जाता है। (२) इसके अतिरिक्त (वैदिक ऋषि ने) कहा है—वैश्वानर सूर्य से (मिलने का) प्रयास करता है। यह (कोई पदार्थ) स्वयं से स्वयं नहीं मिलता, दूसरे से ही दूसरा (मिलने का) प्रयास करता है। इधर इस (अग्नि) का आधान करता है (और) उधर उसकी किरणें प्रकट हो जाती हैं—इधर से इस (अग्नि) की ज्वालाएँ। उन दोनों (सूर्य और अग्नि) के प्रकाश के मिलन को देखकर (ऋषि ने) ऐसा कहा होगा। और, जो ये उत्तम स्थान के देवताओं के सूक्त हैं (जैसे) भग के, सवितृ के, पूषन् के अथवा विष्णु के, उनमें 'वैश्वानर' के नाम का उल्लेख होता और आदित्य के कर्म से उसकी स्तुति करते (जैसे कि तुम) 'इस प्रकार उदित होते हो, इस प्रकार अस्त होते हो (और) इस प्रकार विभिन्न प्रकार की गति करते हो। किन्तु अग्नि के ही सूक्तों में वैश्वानर के नाम का उल्लेख होता है और अग्नि के कर्म से (ऋषि) उसकी स्तुति करता है (जैसे कि) तुम इस प्रकार वहन करते हो, इस प्रकार पकाते हो, इस प्रकार जलाते हो।

व्याख्या—उपर्युक्त पंक्तियों में आचार्य शाकपूणि ने वैज्ञानिक और शास्त्रीय तर्कों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैश्वानर और कोई नहीं, पार्थिव अग्नि ही है। उनके तर्क संक्षेप में ये हैं—

(१) आन्तरिक्ष की विद्युत और आकाशीय सूर्य—ये दोनों वास्तव में "विश्वानर" हैं, 'वैश्वानर' नहीं। वैश्वानर तो केवल पार्थिव अग्नि है और इसका कारण यह है कि यह अग्नि उपर्युक्त दोनों विश्वानरों से उत्पन्न होती है। विश्वानरों से उत्पन्न होने के कारण ही यह वैश्वानर कहलाती है (विश्वानरस्यापत्यं पुमान् वैश्वानरः इस व्याख्या के अनुसार 'तस्यापत्यम्' अर्थ में 'विश्वानर' शब्द से अण् (अ) प्रत्यय करने पर 'वैश्वानर' शब्द निष्पन्न होता है)। विद्युत और सूर्य रूप विशवानरों से यह अग्नि कैसे उत्पन्न होती है, इसे निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है—

जब अन्तरिक्ष की विद्युत किसी वस्तु (शरण) पर आघात करती है तो जब तक वह जलने नहीं लगती अर्थात् जब तक उसमें पार्थिव अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती, तब तक अग्नि उसमें अन्तरिक्षस्थ विद्युत के रूप में ही रहती है। इसका कारण यह है कि विद्युत की जो दो विशेषताएँ मानी जाती हैं

ैसे–जल में बढ़ना और अन्य भौतिक पदार्थों को पाकर शान्त हो जाना—वे उसमें ी बनी रहती हैं। किन्तु जब आहत पदार्थ (शरण) जलने लगता है अर्थात् वद्युत् पार्थिव अग्नि के रूप में परिवर्तित हो जाता है तो उस समय उसमें ामान्य पार्थिव अग्नि की विशेषताएँ जो अन्तरिक्षस्थ विद्युत की उपर्युक्त वशेषताओं से सर्वथा भिन्न होती हैं। वे विशेषताएँ हैं—जल से बुझ जाना और न्य भौतिक पदार्थ (काष्ठ) आदि से प्रदीप्त होना। चूँकि विद्युत प्रहार के श्चात् पदार्थ के जलने लगने पर ही इस अग्नि का दर्शन होता है, इससे यह ि‌द्ध होता है कि विद्युत से अग्नि की उत्पत्ति हुई है।

सूर्य से अग्नि की उत्पत्ति की प्रक्रिया अनुवाद में ही स्पष्ट है, इसलिए सकी व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं।

(२) ऋग्वेद में कहा गया है कि वैश्वानर सूर्य से मिलता है। इसका तात्पर्य ह है कि जब प्रातःकाल हवन-कुण्ड में अग्नि का आधान होता है और वह लने लगती है तो उसकी लपटें ऊपर की ओर उठती हैं और इधर उसी समय पर से सूर्य की किरणें उस पर पड़ती हैं। इस प्रकार दोनों प्रकाश आपस टकरा जाते हैं। इस स्थिति को देखकर ही किसी कविहृदय ऋषि ने उपर्युक्त द्गार प्रकट किया होगा। इससे यही सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में भी वैश्वानर ा अर्थ पार्थिव अग्नि ही लिया गया। इसके विपरीत अर्थात् उसका अर्थ सूर्य ने पर तो उपर्युक्त वाक्य का अर्थ होगा—सूर्य सूर्य से मिल रहा है, जो कि गलत क्योंकि कोई वस्तु स्वयं-स्वयं से नहीं मिलती, बल्कि भिन्न वस्तु से ही लती है अर्थात् संयोग दो भिन्न वस्तुओं में ही होता है, अतः किसी वस्तु का यं से संयुक्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। स्पष्ट है कि वानर और सूर्य का दो अलग-अलग तत्त्व मानने पर ही उक्त वाक्य संगत गा और सूर्य से भिन्न वैश्वानर, उपर्युक्त सन्दर्भ में, केवल अग्नि होगा।

३, ४, इस तर्क का तात्पर्य यह है कि यदि सूर्य को वैश्वानर माना जाता सूर्य के स्थान द्युलोक में रहने वाले अन्य जिन देवताओं जैसे भग, सवितृ, न् और विष्णु को सम्बोधित करने को लिखे गए सूक्तों में भी वैश्वानर शब्द उल्लेख होना चाहिए, क्योंकि एक ही द्युस्थान का निवासी होने के कारण सभी देवता सूर्य के रूप हैं, सूर्य से भिन्न नहीं है। किन्तु वैश्वानर का नाम देवताओं के सूक्तों में मिलता है। इसके अतिरिक्त यदि वैश्वानर सूर्य होता

तो जहाँ उसकी स्तुति की गई है, वहीं उसे भी सूर्य के समान उदित और अस्त होने आदि कर्मों को करने वाला कहना चाहिए थाँ। किन्तु दृष्टिगत नहीं होता।

इसके विपरीत अग्नि के सूक्तों में वैश्वानर का नाम मिलता है और उसकी स्वयं की स्तुति में भी, उसे अग्नि के जलना-जलाना, पकाना आदि कर्मों को करने वाला कहा गया है। इससे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि ऋग्वेदिक ऋषियों की दृष्टि में पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है।

निम्न सन्दर्भ में याज्ञिकों के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है-

मूल—(५) यथो एतद्-वर्ष-कमणा ह्येन स्तौतीति, अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते। 'समानमेतदुदकमुच्यैत्यव चाहभिः।

भूमि पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ (ऋ० १/१६४/५१

इति। सा निगदव्याख्याता ॥२३॥

अनुवाद—(और) जो यह (कहा गया है)—'वर्षा के कार्य के द्वारा इसकी स्तुति करता है यह। इस (अग्नि) में भी यह लागू होता है—(जैसे) दिनों में एक ही जल ऊपर उठता है और नीचे (भी) आता है। बादल पृथ्वी को तृप्त करते हैं और अग्नियाँ द्युलोक को तृप्त करती है।

इसमें यह (ऋचा) स्पष्ट होने के कारण व्याख्याता सी है ॥२३॥

व्याख्या—याज्ञिकों ने तर्क दिया था कि वैदिक ऋषि ने वैश्वानर को वर्षा कराने वाला कहकर उसकी स्तुति की है। क्योंकि वर्षा सूर्य कराता है इसलिए सूर्य ही वैश्वानर है। शाकपूणि का कहना है कि वर्षा कराने वाली बात सूर्य पर ही नहीं अग्नि पर भी लागू होती है। क्योंकि ऋग्वेद के ही प्रस्तुत मन्त्र में बादलों को भूमि को तृप्त करने वाला तथा अग्नियों को द्युलोक को तृप्त करने वाला कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि अग्नि इस लोक से हवि ऊपर निवास करने वाले देवताओं के पास ले जाती है और बदले में वे लोग प्रसन्न होकर पृथिवी पर वर्षा करते हैं। इस प्रकार वर्षा कराने वाला अग्नि सिद्ध होता है।

और वर्षा कराने वाला सूर्य भी है, इस बात को निम्न सन्दर्भ में बताया जा रहा है—

मूल—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
(ऋ० १/१६४/४१)

कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य । हरयः सुपर्णाः=हरणा: आदित्य-यः । ते यदाऽमुतोर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सहस्थानादुदकस्यादित्याद्, घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृतमित्युदकनाम ; जिघर्त्तेः चतिकर्मणः । अथापि ब्राह्मणं भवति 'अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीर-धामच्छद्दिवि भूत्वा वर्षति । मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति । सावादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति' इति ।

अनुवाद—(जल का) हरण करने वाली, सुन्दर गति वाली (तथा) जल वस्त्र को) पहने हुए (सूर्य की किरणें) काले अपने भर आकाश की ओर रहती हैं, वे जल के सदन से (यहाँ) आती हैं (और) पृथिवी (उस) जल ग जाती है ।

काला निरयंण अर्थात् सूर्य की रात्रि । हरयः सुपर्णा (में 'हरि' का अर्थ है) करने वाली सूर्य की किरणें । वे जब इधर से अर्थात् जल के सहस्थान आदित्य से नीचे की ओर चलती हुई (पृथिवी पर) लौटती हैं तो घृत जल से पृथिवी भीग जाती है । 'घृत' यह जल का नाम है और चिञ्चन वाली √ घृ से निष्पन्न है । इसके अतिरिक्त ब्राह्मण वाक्य भी है 'अग्नि ही से वर्षा को प्रेरित करता है (और) प्रकाश का आच्छादक आकाश में बरसता है । यह हवा में सृजन की हुई वर्षा को ले जाती हैं (और) जब य । (अपनी किरणों से अग्नि की ओर आता है तो वर्षा करता है ।

व्याख्या—ऊपर उद्धृत मन्त्र और यास्ककृत व्याख्या में जो कुछ कहा गया का आशय यह है कि उत्तरायण में जब भयङ्कर गर्मी पड़ती है, तब सूर्य किरणें पृथ्वी से जल को लेकर ऊपर की ओर जाती हैं और सूर्य में उस

जल को इकट्ठा करती रहती हैं। दक्षिणायन, जिसे सम्भवतः बादलों के द्वा सूर्य के ढके रहने कारण सूर्य की रात कहा गया है, में वह एकत्रित जल बन कर अन्तरिक्ष में आ जाता है और फिर वहाँ से वर्षाकारक वायु प्रेरित होकर बरस पड़ता है।

स्पष्ट है कि सूर्य की किरणें ही जल को ले जाती है, उसे इकट्ठा करती और उनके कारण ही वह मेघ बनाकर बरसता है, इसीलिए सूर्य भी वर्षा कारण सिद्ध होता है।

निर्वचन—

'घृत'—इसका अर्थ, प्रस्तुत सन्दर्भ में 'जल' है, और उसकी निष्प सिञ्चन अर्थ वाली √घृ धातु से बताई गई है—जिघर्तीति 'घृतम्' अर्थ सींचता है इसलिए 'घृत' कहलाता है √घृत + त (क्त 'कर्त्ता' अर्थ में)।

प्रस्तुत पंक्तियों में याज्ञिकों की सूर्य-साधक अन्य युक्तियों का खण्डन किया गया है

मूल—(६) यथो एतद्-'रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः' इति आम्नायवचनादेतद्भवति। (७) यथो एतद्—वैश्वानरीयो द्वादशकपा भवतीति: अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति—अस्ति हि सौर्यः एककपा पञ्चकपालश्च। (८) यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति, बहुभक्तिवादी ब्राह्मणानि भवन्ति—'पृथिवी वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः ब्राह्म वैश्वानरः इति। (९) यथो एतत्—निवित् सौर्यवैश्वानरी भवतीति अ सा भवति—'यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्' इति। एष हि विड् मानुषीभ्यो दीप्यते। (१०) यथो एतत्—छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वा भवति इति। अस्यैव तद् भवति—'जमिदग्नभिराहुतः (आ० श्रौ० ८/९ इति)। जमदग्नयः—प्रजमिताग्नयः वा, प्रज्वलिताग्नयः व तैरभिहुतः भवति। (११) यथो एतद्—हविष्पान्तीयं सूक्तं सौ वैश्वानरं भवति इति। अस्यैव तत् भवति॥२४॥

अनुवाद—(६) जो यह कहा है कि—चढ़ाई के पश्चात् उतराई

ा की जाती है यह तो शास्त्र के वचन से होता है। (७) जो यह ा गया है कि)--'वैश्वानर के लिए बारह कपालों पर पका हुआ पुरोडाश हैं।' यह। कपालों की सख्या का कोई (निश्चित) वचन नहीं हैं। क्योंकि का एक कपाल (का भी पुरोडाश) है और पाँच कपालों का भी। (८) जो हा है कि--'ब्राह्मण वाक्य है'। ब्राह्मण तो बहुत से लाक्षणिक अर्थों हने वाले होते हैं। (जैसे) पृथिवी वैश्वानर है, सवत्सर वैश्वानर है, ब्राह्मण नर है। यह (९) जो यह (कहा गया है कि) 'निवित्' वाक्य सूर्य को नर मानता है। वह इसी का है—(जैसे) जो मानवी प्रजाओं के प्रदीप्त है।' यह मानवी प्रजाओं के लिए प्रदीप्त होता है। (१०) जो (यह कहा कि) 'छोन्दोमिक सूक्त सूर्य को वैश्वानर मानता है। वह इसी का होता से) 'जलती हुई अग्नियों वालों के द्वारा आहुत' यह। 'जमदग्नि' का अर्थ शील अग्नि वाला या प्रज्वलित अग्नि वाला (यजमान)। उनके द्वारा किया हुआ होता है (११) जो यह (कहा गया कि) हविष्पान्तीय सूक्त को वैश्वानर मानता है' यह! यह इसी की है --॥२४॥

ाख्या--ऊपर की पंक्तियों में याज्ञिकों के तर्कों का खण्डन करते हुए जो ाँ उपस्थित की गई हैं, उनका आशय यह है—

६) याज्ञिकों ने कहा था कि सवनों की चढ़ाई के पश्चात् उनकी उसी उतराई अभिप्रेत होती है और चूँकि उतार-क्रम में सबसे पहले वैश्वानर ा पाठ होता है इसलिए सूर्य ही वैश्वानर है। इसका उत्तर यह दिया कि यह केवल शास्त्रों का वचन मात्र है, सवनों के साथ लोकों के का कोई आधार नहीं है।

७) याज्ञिकों ने युक्ति दी थी कि वैश्वानर के लिए बारह कपालों पर ए पुरोडाश को देने का विधान है। चूँकि १२ संख्या का सम्बन्ध केवल है, इसलिए वही सूर्य है इस पर शाकपूणि का कथन है कि वैश्वानरों किसी निश्चित संख्या के कपालों पर पके पुराडाश का कोई वचन। क्योंकि उसके लिए एक कपाल और पाँच कपालों पर पके पुरोडाश का विधान भी पाया जाता है।

८) 'याज्ञिकों' ने किसी ब्राह्मणवाक्य का हवाला देकर कहा था कि सूर्य

ही वैश्वानर है। शाकपूणि ने इसका उत्तर यह दिया है कि ब्राह्मणों की बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे एक शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न लाक्षणिक अर्थों में करते हैं। उदाहरण के लिये वे 'सूर्य' ही वैश्वानर के समान ही—'पृथिवी वैश्वानर और ब्राह्मण वैश्वानर है'। ऐसा भी कहते हैं। इनमें से किस बात पर विश्वास किया जाए।

(९) याज्ञिकों ने निवित् वाक्यों के आधार पर भी सूर्य को वैश्वानर सिद्ध किया था। किन्तु शाकपूणि का कथन है कि निवित् वाक्यों में अग्नि का ही प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि उनमें कहा गया है कि वह (वैश्वानर) मानवी प्रजाओं से प्रदीप्त होता है।' सो मनुष्य के लिए अग्नि ही प्रदीप्त होती है, इसलिए वही वैश्वानर है।

(१०) याज्ञिकों ने यह भी कहा था कि छान्दोमिक सूक्त सूर्य की वैश्वानरता सिद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में शाकपूणि का कथन है कि छान्दोमिक सूक्तों में 'जमदग्निभिराहुतः' का प्रयोग किया गया है, जिसमें स्पष्ट रूप से 'अग्नि' का उल्लेख हुआ है। यह बात अग्नि को ही सिद्ध करती है।

ग्यारहवें तर्क की व्याख्या अगले खण्ड की व्याख्या में होगी।

निर्वचन—

जमदग्नय—इसके यास्क ने दो पर्याय दिए हैं—(i) प्रजमिता (ii) प्रज्वलिताग्नयः। इससे स्पष्ट है कि 'जगत्' के दो अर्थ—'जाना' 'जलाना'। फलतः इन दोनों अर्थों वाली √जन् धातुओं से शतृ प्रत्यय के से 'यमत्' बनेगा और पश्चात् यमन्तोऽग्नयो येषान्ते—इस अर्थ में बहु समास होने पर—जमदग्नयः' सिद्ध होगा।

अब उपरिसंकेतित ऋचा को उद्धृत कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—

'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त॥

(ऋ० १०/८

हविर्यत् पानीयमजरं सूर्यविदि दिवस्पृश्यभिहुतं, जुष्टमग्नौ।

रणाय च, भवनाय च, धारणाय च, एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यः देवा इममग्निमन्नेनाप्रथन्त इति । अथाप्याह—॥२५॥

अनुवाद—पीने योग्य, कभी जीर्ण न होने वाली, प्रिय हवि को, सूर्य तक पहुँचाने वाली तथा द्युलोक का स्पर्श करने वाली अग्नि में (मैंने) पूर्णतया हवन कर दिया है । देवताओं ने उस (हवि) को बढ़ाने के लिए, युद्ध करने के लिए तथा धारण करने लिए इस (अग्नि) को अन्न के द्वारा बढ़ाया ।

जो हवि पीने योग्य है, जीर्ण न होने वाली है (तथा) प्रिय है, (उसे) सूर्य तक पहुँचाने वाली (तथा) द्युलोक का स्पर्श करने वाली अग्नि में हवन कर दिया है । उस (हवि) को बढ़ाने के लिए, शुद्ध करने के लिए तथा धारण करने के लिए—इन सभी कर्मों के लिए—देवताओं ने इस अग्नि को अन्न के द्वारा बढ़ाया । इसके अतिरिक्त भी कहा है—॥२५॥

व्याख्या— शाकपूणि के मतानुसार 'हविष्पान्त' सूक्त की इस प्रथम ऋचा का देवता अग्नि है, जैसा कि इसके वर्णन से भी स्पष्ट है । ऐसी स्थिति में हविष्पान्त सूक्त अग्नि को ही वैश्वानर मानता है यह जो शाकपूणि ने कहा है, यह स्वयं सिद्ध है ।

निम्न सन्दर्भ में उपरि संकेतित ऋचा, जिसमें वैश्वानर को आदित्य और वायु (माध्यमिक देवता) से पृथक् बताया गया है, को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की जा रही है

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद् विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥

अपामुपस्थे=उपस्थाने । महत्यन्तरिक्षलोके आसीनाः, महान्तः इति वा, अगृह्णत माध्यमिकाः देवगणाः । विशः इव राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम्—ऋग्मन्तम् इति वा । अर्चनीयम् इति वा । आहरद् यं दूतः देवाना विवस्वतः आदित्यात् । विवस्वान्=विवासनवान् । प्रेरितवतः, परागताद्वा । अस्याग्ने वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्त्तारमाह । मातरिश्वा=वायुः, मातरि अन्तरिक्ष श्वसिति, मातर्याश्वनितीति वा । अथैनमेताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापाद—स्तौति—॥२६॥

अनुवाद—जलों के निवास स्थान पर महान् (व्यक्तियों) ने (उस अग्नि को) पाया। प्रजायें ऋचाओं वाले अथवा अर्चनीय राजा के समीप उपस्थित हुईं। (अग्नि का) दूत मातरिश्वा (वायु) दूरस्थ विवस्वान् के पास से वैश्वानर अग्नि को ले आया।

जलों के उपस्थ अर्थात् ठहरने के स्थान महान् अन्तरिक्ष लोक में आसीन महान् माध्यमिक देवगणों ने उसे पाया। 'ऋग्मियम्' अर्थात् ऋचाओं वाले (ऋग्वेद के विद्वान्) या अर्चनीय राजा के पास प्रजाओं के समान (वे उसके पास उपस्थित हुए)। देवताओं का दूत (वायु) जिसको विवस्वत् अर्थात् सूर्य के पास ले आया। 'विवस्वत्' (अन्धकार को) दूर करने के कारण कहलाता है। प्रेरणा देने वाले या दूर स्थित से। मातरिश्वन् (वायु) को इस वैश्वानर अग्नि को लाने वाला कहा है। 'मातरिश्वन्' (का अर्थ) वायु है (और उसकी निष्पत्ति है) 'मातृ अर्थात् अन्तरिक्ष में श्वास लेता है, या मातृ अर्थात् अन्तरिक्ष में आशु (शीघ्र) चलती है। अब (ऋषि) इस (अग्नि) को (आगे कही जाने वाली) इन दो (ऋचाओं) के द्वारा सभी स्थानों पर रहने वाला सिद्ध करते हुए उसकी स्तुति करता है ॥२६॥

व्याख्या—प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि उसमें वैश्वानर अग्नि को मातरिश्वन् (अन्तरिक्षस्थ वायु) और विवस्वत् (सूर्य) से अलग बताया गया है तथा मातरिश्वन् को दूरस्थ विवस्वत् के पास से लाने वाला कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि वैश्वानर न तो सूर्य है और न ही माध्यमिक वायु बल्कि वह पार्थिव अग्नि है।

निर्वचन—

विवस्वत्—यास्क ने बताया है कि अन्धकार का विवासन या दूर करने के कारण यह सूर्य 'विवस्वत्' कहलाता है। फलतः इसका निर्वचन 'वि + √वस् + वत् > विवस्वत्' या 'विवासनवान् > विवस्वन् > विवस्वत्' होगा।

ऋग्मियम्—इसके दो पर्याय बताये गये हैं (i) ऋग्मन्तम् (ii) अर्चनीयम्। इससे स्पष्ट है कि 'ऋग्मियम्' (ऋक् + मियम्) के 'मिय' के दो अर्थ अभीष्ट है (i) (मतुप्)। (ii) अनीयर् (प्रत्यय)।

मातरिश्वन्—इसके दो निर्वचन किये गये हैं —(i) मातरि अन्तरिक्षे

श्वसितीति मातरिश्वन्=अर्थात् 'मातरि+√श्वस (सांस लेना, चलना) >मातरिश्वस्>मातरिश्वन् (ii) मातरि अन्तरिक्षे आशु अनितीति मातरिश्वा =अर्थात् 'मातरि+आशु + √अन् (सांस लेना, चलना)>मातरि+शु+ अन्>मातरिश्वन् ।। दोनों ही अवस्थाओं में इसका अर्थ अन्तरिक्षस्थ वायु है।

अब उपरिसंकेतित ऋचाद्वय में से प्रथम को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की जा रही है—

मूल—मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥
(ऋ० १०/८८/६)

मूर्धा=मूर्तमस्मिन् धीयते । मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निः। ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव। प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्, अपः यत् कर्म चरति प्रजानन्— सर्वाणि स्थानानि अनुसञ्चरति त्वरयाणः। तस्योत्तरा भूसेय निर्वचनाय—॥२७॥

अनुवाद—अग्नि रात्रि में पृथिवी का सिर होता है, उसके बाद प्रातःकाल उगता हुआ (वह) सूर्य हो जाता है। यज्ञ करने वालों की इस प्रज्ञा को जानता हुआ तथा शीघ्रता करता हुआ जो (अग्नि) कर्म करता है।

'मूर्धा' (का) अर्थ है मूर्त (पदार्थ) इसमें रखा जाता है। जो अग्नि रात्रि को सभी प्राणियों का सिर होता है उसके बाद प्रातःकाल उगता हुआ वही सूर्य हो जाता है। 'यज्ञिय' अर्थात् यज्ञ का सम्पादन करने वालों की तो इस प्रज्ञा को मानते हैं—उपस् अर्थात् कर्म, जिसको अच्छी प्रकार जानता हुआ (तथा) सभी स्थानों पर त्वरा करता हुआ संचरण करता है। बाद की ऋचा उस (उपर्युक्त) अर्थ को और स्पष्ट करने वाली है—॥२७॥

व्याख्या—प्रस्तुत ऋचा में अग्नि को पृथिवी और द्युलोक में रहने वाला बताया गया है।

निर्वचन--

मूर्धन्—इसका निर्वचन किया गया है—वह मूर्तमस्मिन् धीयते (जिसमें

समस्त मूर्त पदार्थ धारण किये जाते हैं वह मूर्धन् है)—अर्थात्—मूर्त + √धा (धारण करना) + अन् (वनिन्) = मूर् + धा + अन् > मूर्ध् + अन् > मूर्धन् ।

अब उक्त ऋचा द्वितीय में से दूसरी ऋचा, जिसमें अग्नि को तीनों लोकों में निवास करने वाला बताया गया है, को उद्धृत किया जा रहा है—

मूल—स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम् ।
तमू अकृण्वंस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥
(ऋ० १०/८८/१०)

स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निमजनयन् । शक्तिभिः=कर्मभिर्द्यावापृथिव्योः आपूरणम् । तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय—'पृथिव्याम्, अन्तरिक्षे, दिवीति शाकपूणिः । 'यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः, । इति हि ब्राह्मणम् । तदग्नीकृत्य स्तौति । अथैनमेतयाऽऽदित्यीकृत्य स्तौति— ॥२८॥

अनुवाद—देवताओं ने, अपनी शक्तियों से द्युलोक और पृथिवी को पूर्ण कर देने वाले 'अग्नि को, आकाश में स्तुति से उत्पन्न किया । (और) उसे ही तीन प्रकार से होने के लिये बनाया । वह अनेक प्रकार की औषधियों को पकाता है ।

(अपने) कर्मों से द्यावापृथिवी को पूर्ण कर देने वाले जिस अग्नि को, देवताओं ने स्तुति से उत्पन्न किया । उसको तीन प्रकार से होने के लिये बनाया (इसमें 'त्रधाभावाय' का अर्थ) पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में (जन्म लेने के लिये) है । यह शाकपूणि का विचार है । आकाश में इसका जो तीसरा है । वह आदित्य है यह ब्राह्मणवाक्य है । उसे अग्नि बनाकर (ऋषि) स्तुति कर रहा है । अब इस (अग्नि) को आदित्य बनाकर आगे कही जाने वाली ऋचा) से उसकी स्तुति कर रहा है ॥२८॥

व्याख्या—इसमें अग्नि को आकाश में उत्पन्न तथा देवताओं के द्वारा उसे तीनों में किये जाने का वर्णन है । इसमें अग्नि की व्यापकता के साथ-साथ उसी का वैश्वानरत्व भी सिद्ध होता है ।

'इति शाकपूणिः' ऐसा प्रतीत होता है, जैसा कि श्री शिवनारायण शास्त्री ने माना है, शाकपूणि के यहीं तक हैं। इसके आगे अग्नि के वैश्वानरत्व की सिद्धि में जिन तर्कों की अवतारणा हुई है, वे यास्क के अपने हैं।

निर्वचन---

रोदसि प्राः—इसका अर्थ 'द्यावापृथिव्योः आपूरणम्' के रूप में दिया गया है—जिससे इसका निर्वचन √'प्रा' धातु से प्रतीत होता है--रोदसी + √प्रा (पूरणार्थक + ० (क्विप्) > रोदसी + प्रा > रोदसिप्राः।

अब उत्तरिसंकेतित ऋचा को प्रस्तुत किया जा रहा है—

मूल—

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित् प्रापश्यन् भुवनानि विश्वा॥

(ऋ० १०/८०/१०)

यदैनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् = अदितिः पुत्रम्। यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूतां सर्वदा सहचारिणावुषाश्चादित्यश्च। मिथुनौ कस्मात्? मिनोतिः श्रयतिकर्मा। 'थु' इति नामकरणः, थकारो वा, नयतिः परः, वनिर्वा–समाश्रितावन्योन्यम् नयतः, वनुतः वा। मनुष्यमिथुनौवाप्येतस्मादेव। 'मेथन्तावन्योन्यं वनुतः इति वा। अथैनमेतयाग्नीकृत्य स्तौति--॥२६॥

अनुवाद—यज्ञ का सम्पादक करने वाले देवताओं ने जब अदिति के पुत्र इस सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया, जब जोड़े गतिशील हुए उसके बाद (देवताओं ने) समस्त विश्व को अच्छी प्रकार से देखा।

जब यज्ञ करने वाले सभी देवताओं ने अदिति-पुत्र इस सूर्य को स्थापित किया। जब गतिशील जोड़े प्रकट हुए अर्थात् साथ-साथ विचरण करने वाले उषस् और आदित्य। 'मिथुन' क्यों (कहा जाता है)! √मि धातु 'आश्रय लेना' अर्थ वाली है 'थु' यह नाम बनाने वाला प्रत्यय है, या 'थ' प्रत्यय। √नी धातु बाद में लगी है। अथवा √वन् धातु दोनों एक-दूसरे पर आश्रित

होकर एक दूसरे को प्राप्त कराते हैं या प्राप्त करते हैं। मनुष्यों के जोड़े भी इसी से होते हैं अथवा (वे दोनों) संयुक्त होते हुए एक-दूसरे को प्राप्त करते हैं। इससे। अब इस (आदित्य) को अग्नि बनाकर इस (आगे कही जाने वाली) ऋचा से (उसकी स्तुति करता है—।।२६।।

व्याख्या—इस मन्त्र में अग्नि की स्तुति उसे आदित्य मानकर की गई है। इसका 'एनम्' पद अग्नि की ओर संकेत करता है--अर्थात् जब यज्ञ का सम्पादन करने वालों ने पृथिवी लोक में अग्नि को स्थापित किया उसी समय देवताओं ने आकाश में सूर्य को। या चूँकि देवताओं को करना था इसलिए 'उन्होंने' इस अग्नि को ही सूर्य रूप में अग्नि को स्थापित किया—क्योंकि द्युलोक के निवासी होने के कारण वे वहीं यज्ञ का सम्पादन कर सकते थे। स्पष्ट है कि सूर्य अग्नि का ही रूप है।

निर्वचन--

मिथुन—यास्क ने इसके तीन निर्वचन किए हैं—

(i) √मि (आश्रित) + थु (प्रत्यय + √नी (ले जाना) > मिथुनी > मिथुन (उषस् और आदित्य का ऐसा जोड़ा जो एक-दूसरे पर आश्रित रह कर (एक दूसरे को) गतिशील करते हैं)। (ii) √मि + थ् + वन् संभक्तौ—प्राप्त करना) > मिथ + उन > मिथुन (उक्त जोड़ा, जो एक-दूसरे पर आश्रित रहकर एक दूसरे को प्राप्त करता है)। (iii) √मिथ् (संयुक्त रहना) + √वन् (प्राप्त करना) > मिथ् + उन् > मिथुन (स्त्री और पुरुष का ऐसा जोड़ा जो (जीवन में संयुक्त रहते हुए एक-दूसरे को प्राप्त करते हैं।

इसमें प्रथम दो उषस् और सूर्य के जोड़े के साथ-साथ स्त्री-पुरुष के जोड़े अर्थ को भी व्यक्त करते हैं, जबकि तीसरा केवल स्त्री-पुरुष के जोड़े अर्थ को।

निम्न सन्दर्भ में उस ऋचा को उद्धृत किया जा रहा है, - जिसमें आदित्य की स्तुति अग्नि के रूप में की गई है—

मूल—

यत्र वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित्सधमाद सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्।।

(ऋ० १०/८८/१७)

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारावयं चाग्निरसौ च मध्यमः--'कतरः नौ यज्ञे भूयः वेद' इति । आशक्नुवन्ति तत् सहमदनं समानाख्याना:न ऋत्विजस्-'तेषां यज्ञं समश्नुवानानां कः न इदं विवक्ष्यतीति ।

तस्योत्तरा भूयसे र्निचनाय—।।३०।।

अनुवाद—जहाँ नीचे वाला तथा (उसके) भिन्न (बीच वाला, ये दोनों) बोलते हैं—'(हम दोनों) यज्ञ के नेताओं में से कौन विशेष जानता है' । यह । यज्ञ में उपस्थित समान दिखाई पड़ने वाले (वे ऋत्विज) साथ-साथ आनन्द नहीं मना सके । इस बात को कौन (हम लोगों को) बताएगा ? ।

जहाँ देवताओं के दो होता—यह अग्नि और वह मध्यम (लोक की अग्नि) विवाद करते हैं --'हम दोनों में से कौन यज्ञ के विषय में विशेष जानता है । यह । समान रूप से दिखाई पड़ने (वे) ऋत्विण् उस साथ-साथ के आनन्द को भोगने (प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते—'उन यज्ञ को व्याप्त करने वालों में से कौन इस बात को हम लोगों से विशेष रूप से कहेगा । यह ।

बाद वाली (ऋचा) इस अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने वाली है ।।३०।।

व्याख्या—मन्त्र से स्पष्ट है कि पार्थिव अग्नि को माध्यमिक अग्नि के समान ही यज्ञ का नेता (यज्ञनीः) माना गया है । इससे उसके महत्त्व की सूचना मिलती है । फलतः यह कथन सही है कि हविष्यान्त सूक्त अग्नि को ही महत्त्व देता है ।

मन्त्रस्थ 'आ' पद का अर्थ, अधिकांश व्याख्याकारों ने नहीं' किया है । उसे ही यहाँ भी अपनाया गया है ।

निर्वचन---

यज्ञनीः---इसका अर्थ है---'यज्ञ का नेता और निर्वचन य नयतीति यज्ञनीः----यज्ञ + नी + ० (क्विप्) > यज्ञनीः ।

सधमादम्—साथ-साथ का आनन्द—

सह + √मद् (आनन्द मनाना) + ०अ (णमुल्) > सह + माद् + अ > सध + माद् + अ + सधमादम् ।

न क्षन्त—इसका पर्याय व्याख्या में 'समश्नुवानानाम्' दिया है जिससे ऐसा

प्रतीत होता है कि यह √नक्ष् (व्याप्त्यर्थक) (धातु से बने नामपद का षष्ठी बहुवचन का वैदिक रूप है ॥३०॥

अब उपरिसंकेतित ऋचा, जो हविष्पान्तीय सूक्त की है तथा जिसमें पार्थिव अग्नि को ही मुख्य माना गया है, उद्धृत कर उसकी व्याख्या की जा रही है—

मूल—

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो वसते मातरिश्वः ।
तावद्दधात्युप यज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् ॥

(ऋ० १०/८८/१९)

यावन्मात्रमुषसः—प्रत्यक्त भवति, प्रतिदर्शनमिति वा । अस्त्युपम नस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः— इहेव निधेहीति यथा सुपर्ण्यः=सुपतनाः एत रात्रयः वसते, मातरिश्वञ्ज्योतिर्वर्णस्य, तावदुपदधाति यज्ञमागच्छ ब्राह्मणः होता, उदस्यग्निर्होतुरवरः निषीदन् ।

अनुवाद—हे मातरिश्वन् ! उषस् के जितने प्रकाश को सुन्दर गति वाली (या पंखों वाली) (रातें) आच्छादित करती हैं, उतने यज्ञ को, (यज्ञ के) समी आता हुआ होता से अवर तथा पास में बैठता हुआ ब्राह्मण धारण करता है।

जब तक उषस् का (प्रतीक अर्थात्) प्रकाश अथवा आविर्भाव यह उपमार्थ (निपात 'न') का 'अर्थ प्रयोग है—जैसे—'अब यहाँ रखो' । यह । ज तक 'सुपर्णी' अर्थात् सुन्दर पखों वाली या सुन्दर गति वाली रातें आच्छादि करती हैं, हे मातरिश्वन ! चमकीले वर्ण के प्रकाश को, तब तक यज्ञ के सम आता हुआ, इस अग्नि रूप होता से अघर, तथा पास में बैठता हुआ ब्राह्म होता यज्ञ को धारण करता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में ब्राह्मण रूप होता की तुलना में अग्नि जो वैदिक वाङ्मय में देवताओं के होता के रूप में प्रसिद्ध है, अग्नि को श्रेष्ठ ह माना गया है । इससे उसका प्रधानत्व निर्विवाद है ।

इस प्रकार हविष्पान्तीय सूक्त के प्रारम्भ, मध्य और अन्त से ली


R217,PAN-H
106465